तब से उनका अस्तित्व होने पर भी वे अपौरुषेय का पद प्राप्त नहीं कर सकते, परन्तु हमें आगे वेदों की अपौरुषयता पर विचार करना है—हमें दिखलाना है कि वेदों का ज्ञान अपौरुषेय है, इसलिए आवश्यकता है कि उसमें आड़े आनेवाले विकासवाद की जाँच पहले ही हो जाए।

विकासवाद

विकासवाद विज्ञानमूलक बतलाया जाता है, अत: हम पहले विज्ञान की भूत और वर्त्तमानकालिक दशा पर ही विचार करते हैं और देखते हैं कि दोनों में कितना अन्तर है। विज्ञान शब्द से हमारा अभिप्राय यूरोपिय साइंस से है। साइंस के समय के दो विभाग हैं। एक बीस-पच्चीस वर्ष पहले का और दूसरा बीस-पच्चीस वर्ष इस पार का। पहले विभाग ने अपने ज़माने में दो-चार बातें ऐसी कहीं जो पहले कभी सुनी नहीं गई थीं। उनमें से सबसे विशेष बात डारविन का विकासवाद था। इसके प्रकट होते ही सारे संसार में हल्ला मच गया। समस्त पढ़ी-लिखी जनता ने अपने विश्वासों को पलट लिया। विकासवाद ने ईश्वर, जीव, पुनर्जन्म और ईश्वरीयज्ञान आदि प्राचीन सिद्धान्तों पर बड़े वेग से प्रहार किया। ऐसा जान पड़ता था कि अब ये बातें वास्तव में ही असत्य ठहर जाएँगी, किन्तु विज्ञानवादियों ने यह दृढ़ संकल्प कर लिया है कि हमें जो सत्य जँचेगा वही कहेंगे। उनकी विशेषता के कारण सतत परिश्रम के पश्चात् अब विज्ञान-संसार का दृष्टिकोण बदल गया है। बीस-पच्चीस वर्ष से इस पार जो नई-नई बातें ज्ञात हुई हैं, उनके कारण पुराने विज्ञान में एकदम फेरफार करना पड़ा है। वास्तव में यदि इस समय के साइंस-संसार का ध्यानपूर्वक निरीक्षण किया जाए तो स्पष्ट ज्ञात होगा कि पुराना युग चला गया है और नवीन खोज ने अब एक नया ही संसार रच दिया है। यद्यपि यह सब-कुछ हुआ है—विज्ञान पलट गया है और विकासवाद तो रहा ही नहीं, परन्तु अर्ध शताब्दी के जनरव से उत्पन्न हुए गहरे मानसिक संस्कार लोगों के हृदय से निकाले नहीं निकलते। यह सभी जानते हैं कि स्वेच्छारियों के लिए परमेश्वर और कर्मफलों के भोगने का सिद्धान्त हलाहल विष है। विकासवाद ने इस सबसे छुट्टी दे दी थी, किन्तु अब निकले-निकलाये शत्रु की पुन: प्रतिष्ठा लोगों को बेहद सता रही है। यूरोप में साधारणतया और हमारे देश में विशेषरूप से अब तक लोग उन्हीं बातों को महत्त्व देने की चेष्टा किया करते हैं जो रद्द हो चुकी हैं, परन्तु विद्याव्यसनी निष्पक्ष वैज्ञानिकों के सत्य सङ्कल्प पर अटल रहने के कारण अब स्वेच्छाचारियों की मन:कामना पूर्ण नहीं हो सकती।

यहाँ के स्वेच्छाचारी नास्तिक प्रथम तो कुछ पढ़े-लिखे नहीं होते, दूसरे पश्चिम की नई-नई खोजों की जानकारी नहीं रखते और आस्तिकों के सामने लज्जित भी होते हैं, इसलिए बड़ी उद्दण्डता प्रदर्शित नहीं करते। पश्चिम का वातावरण अनियन्त्रित होने के कारण वहाँ के स्वेच्छाचारियों ने आस्तिक ईसाई पादरियों को इस बीच बहुत सताना शुरू किया। यह बात लोगों को अच्छी न लगी, अत: उन लोगों ने उचित समझा कि साइंस के विद्वानों के द्वारा ही ईश्वर, जीव, धर्म और ईश्वरीयज्ञान आदि विषयों पर वे सिद्धान्त कहलाए जाएँ जो वर्त्तमान साइंस के अनुसार इन विषयों पर प्रकाश डालनेवाले हों[१]। तदनुसार सन् १९१४ में लन्दन के प्रसिद्ध ब्राउनिंग हाल में प्रसिद्ध-प्रसिद्ध सात विज्ञानवेत्ताओं को आमन्त्रित करके सात दिन तक उनके प्रवचन रक्खे गये। उन्होंने उक्त विषयों पर अपना जो मत प्रकट किया है वह पुस्तकाकार छपा

---

१. The suggestion was assiduously conveyed that religion was an outworn superstition, a morbid sentiment, or a phase of hysteria, all of which had been exposed by modern science. These misleading and harmful impressions need to be dispelled. The best way of dispelling them is to let science herself speak through the lips of her chief exponents. —*Science and religion*, p. 4-5

दिया गया है। पुस्तक का नाम है Science and Religion अर्थात् 'धर्म और विज्ञान'। उक्त सातों विद्वानों का परिचय इस प्रकार है—

१. सर ओलिवर जोसेफ़ लॉज, एफ़०आर०एस०, डी०एस०सी०, एल०एल०डी०। आप वैज्ञानिक संसार में अतिप्रसिद्ध हैं। आप लिवरपूल यूनिवर्सिटी के प्रोफ़ेसर, विरहंघम यूनिवर्सिटी के प्रिंसिपल, फ़िज़िकल सोसाइटी, लन्दन के प्रेसीडेंट, रिसर्च फ़िज़िकल सोसाइटी के प्रेसीडेंट और ब्रिटिश एसोसिएशन के प्रेसीडेंट हैं। आपने अनेक पुस्तकें लिखी हैं तथा अनेक उपाधियाँ और बड़े-बड़े पदक प्राप्त किये हैं। आप 'वायरलेस' और 'विद्युत्-शास्त्र' के विशेषज्ञ हैं।

२. प्रो० जान एम्बोज़ फ़्लेमिंग, एम०ए०, डी०एस०सी०, एफ़०आर०एस०। आप रॉयल कॉलेज में केमिस्ट्री के डिमाँस्ट्रेटर, केलटनहम कॉलेज के साइंसमास्टर, लन्दन के डॉक्टर आफ़ साइंस, यूनिवर्सिटी कॉलेज, नोटिंघम में गणित और विज्ञान के प्रोफ़ेसर, एडीसन कम्पनी के इलेक्ट्रिकल इंजीनियर, मोरले कॉलेज के प्रोमोटर, यूनिवर्सिटी कॉलेज, लन्दन में इलेक्ट्रिक इंजीनियरिंग के प्रोफ़ेसर और मारकोनी कम्पनी के वैज्ञानिक सलाहकार हैं। रायल सोसाइटी के फ़ेलो, अनेक ग्रन्थों के कर्त्ता और अनेक पदक प्राप्त कर चुके हैं। आप विद्युत्-विज्ञान के विशेषज्ञ हैं।

३. प्रो० डबलू०बी० बाटमली एम०ए०, पीएच०डी०, एफ़०एल०एस०, एफ़०सी०एस०। आप प्राणिशास्त्री हैं। बोटानिकल किंग्स कॉलेज के प्रोफ़ेसर हैं। कृषिशास्त्र के ज्ञाता हैं, और अनेक पद तथा पदक प्राप्त कर चुके हैं।

४. प्रो० एडवर्ड हल, एल०एल०डी०, एफ़०आर०एस०। आप जिओलोजिकल साइंस के नेस्टर, आयरलैंड भूगर्भविभाग के डाइरेक्टर, जिओलोजिकल सोसाइटी के प्रेसीडेण्ट, प्रसिद्ध लार्ड किचनर के मित्र और अटलांटिक में टापुओं के आविष्कर्त्ता तथा अन्य अनेक भूगर्भसम्बन्धी कार्यों के ज्ञाता हैं।

५. जान एलन हार्कर, डी०एस०सी०, एफ़०आर०एस०। आप गर्मी और विद्युत् के विशेषज्ञ, विज्ञानसम्बन्धी अनेक समितियों के सभ्य, प्रधान और कार्यकर्त्ता हैं।

६. प्रो० जर्मन सिम्स बुडहेड, एम०ए०, एल०एल०डी०, एफ़०आर०सी०पी०, एफ़०आर० एस०ई०। आप कैम्ब्रिज यूनिवर्सिटी में पैथालॉजी के प्रोफ़ेसर, रॉयल मेडिकल सोसाइटी के प्रेसीडेण्ट, रॉयल माइक्रोस्कोप सोसाइटी के प्रेसीडेण्ट, रॉयल कॉलेज के डाइरेक्टर और मेडिकल विभाग के विशेषज्ञ हैं।

७. प्रो० सिलवेनिस फ़िलिप्स थॉमसन, बी०ए०, एम०डी०, एल०एल०डी०, एस०सी०, एफ़०आर०एस०। आप लण्डन यूनिवर्सिटी में फ़िज़िक्स के प्रोफ़ेसर, विद्युत् और भौतिक विज्ञान के विशेषज्ञ हैं।

ये सातों विद्वान् इस समय के प्रसिद्ध विज्ञानवेत्ता हैं। इनकी बात नवीन विज्ञान संसार में उसी प्रकार मान्य है जिस प्रकार भारत में ऋषियों की। ये सभी महात्मा चिरञ्जीव हैं। सात दिन तक उक्त अधिवेशनों में इन्होंने ईश्वर, जीव, धर्म और विकासवाद आदि पर जो कुछ कहा है वह धर्म और विज्ञान नामी पुस्तक में छप गया है। इनके ये विचार वर्त्तमान स्थितिसूचक—अप-टु-डेट हैं।

वर्त्तमान विज्ञान

विज्ञानवेत्ताओं ने पुराने विज्ञान में क्या-क्या फेरफार बतलाया है, उसका हम यहाँ दिग्दर्शन कराते हैं। वर्त्तमान वैज्ञानिक, पुराने वैज्ञानिकों को पुराना कहकर उनके मत का अनादर करते हैं।

प्रसिद्ध विद्वान् हैकल डारविन मत के पोषक थे। उनके लिए प्रो० बाटमली कहते हैं कि 'हैकल का पुराना भौतिक स्कूल वर्त्तमान युग से बिलकुल दूर है'[१]। इसी प्रकार हैकल की पुस्तक (The Riddle of Universe) का उत्तर जिस पुस्तक में दिया गया है उसका नाम विनोद के रूप में (The old Riddle and the Newest Answer) 'रद्दी विचार और नूतन उत्तर' रक्खा गया है। 'धर्म और विज्ञान' नामी पुस्तक में एक अन्य विद्वान् अपने अनेक विचारों को नवीन, अर्थात् दस-बीस वर्ष के कहता है[२]।

नवीन वैज्ञानिक कुछ समय पूर्व के सन्देहवादियों (Agnostic) को समय से दूर बतलाते हैं और नवीन खोज करनेवालों को धन्यवाद देते हैं[३]। पहले की अन्धी प्रकृति के हाथ में न रहकर उस प्रकृति को अपने हाथ में रखने की शिक्षा देते हैं[४]। विकास को मनमाना नहीं, प्रत्युत नियमबद्ध होकर कार्य करनेवाला बतलाते हैं[५] और विकास के द्वारा परमात्मा का दर्शन करते हैं[६]।

जैसा कि हमने अभी कहा है कि दस-बीस वर्ष के अन्दर, ऊपर बतलाई हुई विज्ञान सम्बन्धी बातों पर प्रकाश पड़ा है, जिससे विकासवाद के उस ढाँचे का बिलकुल ही परिवर्तन हो गया है, जिसे डारविन, हक्सले और हैकल आदि ने अपनी समझ में बड़ी दृढ़ जंजीरों से जकड़कर बाँधा था।

डारविन के समय का संसार केवल प्राकृतिक था, उसमें किसी चेतन, ज्ञानी, परम तत्त्व-जैसे पदार्थ की आवश्यकता न थी, किन्तु अब परमेश्वर-जैसा तत्त्व समस्त विज्ञानमण्डली को स्वीकृत हो गया है, अत: डारविन की प्रकृति अब स्वेच्छाचारिणी नहीं रह सकती। नवीन विज्ञान ने अब दूसरा जीव-जैसा पदार्थ भी स्वीकार कर लिया है। साइकॉलोजी, फ्रिनॉलोजी और स्प्रिचुअलिज़्म के पण्डित जीव का अस्तित्व और उसका जन्मान्तर भी स्वीकार करते हैं। इन दोनों तत्त्वों के मान लेने पर इलहाम, अर्थात् ईश्वरी आदेश और मोक्ष, अर्थात् ईश्वर-प्राप्ति का सिद्धान्त भी प्रकाश में आ जाता है। धार्मिक संसार के यही चार स्तम्भ हैं। विज्ञान ने इन चारों पर प्रकाश डाला है, इन्हें पुष्ट किया है और बतला दिया है कि साइंस इन सब तत्त्वों को आग्रहपूर्वक मानती है। ऊपर कही हुई चार चीज़ों के मान लेने पर मैटर, अर्थात् प्रकृति स्वतन्त्र नहीं रह

---

१. That is the old materialistic school—Hackel's School if you like—which, let me tell you, is hopelessly out of date and antiquated. —*Science and Religion*, p. 63.

२. And all the theories of matter advanced during the last twenty years are based on a conception—a postulate of non-material. That is the latest science. —*Ibid*, p.62.
The science of colloids is quite a new one. It has only been worked at really seriously within the last dozen years. —*Ibid*, p. 65.

३. Not very long ago, it was to some extent fashionable in scientific circles to be an Agnostic. But today a man who glories in his ignorance is blamed and not lionised. The attitude is quite out of fashion. Thanks to the labours of science. —*Science and Religion*, p. 85-86.

४. Progress is made more rapidly and more economically by rational than by natural selection and that the time has arrived for man to control his own evolution of leaving it the blind forces of nature. —*Deshdarshan*.

५. What is evolution? unfolding, development—unfolding as a bud unfolds into a flower,as an acorn into an oak. Every thing is subject to a process of growth, of development, of unfolding. —*Science and Religion*, p. 16.

६. And it is just here that religion completed the wonderful story of evolution, gives us the purpose of the universe, and reveals the eternal energy behind all, not as simply an impersonal Infinite Energy, which is a non-material something, but reveals the Infinite as a personal God. —*Ibid*, p. 68.

सकती। उसे नियमबद्ध होकर काम करना पड़ेगा। ऐसा नहीं है कि परिस्थिति का बहाना लेकर प्रकृति से उलटे का सीधा या सीधे का उलटा करा लिया जाए। अब डारविन की उच्छृङ्खल प्रकृति को यह अवसर नहीं मिल सकता कि वह किसी प्राणी को जो मक्खी से चिड़िया होने जा रहा हो, बीच में उसे साँप बनाने लग जाए। अभी साँप भी न बन पाया हो किन्तु संयोगवश ऊँट बनाने लग जाए और अन्ततोगत्वा उसे मोर कर डाले। अब तो जीवों के कर्म और ईश्वर की व्यवस्था में बँधी हुई प्रकृति वही कर सकेगी जो स्वीकृत हो चुका है। अब नियम अथवा स्थिर सिद्धान्तानुसार ही जिसे जो होना है वही होगा, इसीलिए विकासवाद पर अपनी सम्मति देते हुए सर ओलिवर लॉज ने कहा है कि विकास तो कली से फूल अथवा बीज से फूल अथवा बीज से वृक्ष बनानेवाला नियत नियमित नियम है। इसका तात्पर्य यही है कि परिस्थिति, संयोग, अवसर और इत्तिफ़ाक़ आदि शब्दों से जो भाव अब तक निकाला जाता था वह अब नहीं निकल सकता।

नवीन विज्ञान के सिद्धान्तानुसार संसार में अनेक प्राणी ऐसे पाये गये हैं जिन्होंने अपने आदि जन्म से लेकर अब तक अपना रूप तनिक भी नहीं बदला। ये स्थिर शरीरवाले ही कहलाते हैं। इसके अतिरिक्त प्रो० सोलस, कीथ, शिम्पर, हेकल और डाक्टर चर्च के अनुसार अब तक यही स्थिर था कि मनुष्य को हुए ८,२०,००० वर्ष हुए और इसी अवधि में उसने इतनी उन्नति की, परन्तु जब से मि० जान टी० रोड को नवादा में एक ६० लाख वर्ष का पुराना जूते का तला पत्थर की दशा में मिला है तब से विकासवाद का रहा-सहा सभी खेल बिगड़ गया है। पृथिवी की आयु अब तक जितने भी प्रकारों से स्थिर की गई है उन सब प्रकारों में से कोई भी प्रकार, इस जूते के कारण, विकासवाद की सब कड़ियों को उत्पन्न करने में अपना सामर्थ्य नहीं दिखला सकता। अमीबा से लेकर मनुष्य तक न जानें कितनी कड़ियाँ हैं। यदि एक-एक कड़ी एक-एक करोड़ वर्ष लें (क्योंकि ६० लाख वर्ष का तो जूता ही मौजूद है) तो अधिक-से-अधिक यह पृथिवी कहाँ तक अपना समय दे सकती है, इसका अनुमान भी नहीं हो सकता। हाल में यह भी सिद्धान्त स्थिर हुआ है कि मनुष्यों का विकास बन्दरों से नहीं हुआ प्रत्युत बन्दरों का जन्म मनुष्यों से हुआ है। इस सिद्धान्त के आविष्कर्ता कहते हैं कि पूर्वातिपूर्व काल में मनुष्यों ने ज्ञानविज्ञान में बहुत उन्नति की थी। इसीलिए उनके शिर कमज़ोर हो गये थे। कुछ दिन के बाद वे सब असभ्य जंगली बन गये और उनमें से कुछ बनमनुष्य और कुछ बन्दर हो गये। ये सिद्धान्त २० वर्ष के इस पार स्थिर हुए हैं। इनके स्थिर करनेवाले विज्ञान के प्रखर विद्वान् हैं। पूर्व के विद्वानों से इनके सिद्धान्त अधिक बलवान् इसलिए मानने चाहिएँ, क्योंकि इनको पूर्व के विद्वानों का ज्ञान मिला और उसमें इन्होंने अपने ज्ञान द्वारा वृद्धि की। उस बढ़े हुए अनुभव के द्वारा उपर्युक्त बातें निश्चित की गई हैं, अत: वे पहली पुरानी बातों की अपेक्षा अधिक माननीय हैं, इसलिए अब ऊपर के समस्त सिद्धान्तों को ध्यान में रखकर सृष्टि की उत्पत्ति का क्रम इस प्रकार हो सकता है—

जीवों के कर्मानुसार परमेश्वर ने जिस प्राणी को जैसा शरीर दिया है उसके लिए प्रकृति को वैसा ही शरीर बनाना पड़ेगा। जिस प्रकार कली से फूल होता है उसी प्रकार जिस प्राणी का जो कुछ बनना है, वही बनेगा। परिस्थिति, संयोग और इत्तिफ़ाक आदि उसे और-का-और नहीं कर सकते। अपरिवर्तनशील प्राणियों की भाँति किसी प्राणी की आकृति बदल नहीं सकती, क्योंकि मनुष्यजाति ६० लाख वर्ष से तो ज्यों-की-त्यों पाई जाती है। आदि में मनुष्य महाज्ञानी था, किन्तु पीछे से वही जंगली हो गया।

इसमें कहाँ विकासवाद की गन्ध है, कहाँ डारविनइज़्म का संस्कार है और कहाँ पुराने वैज्ञानिकों की चर्चा है? नवीन विज्ञानवाद में अब पुराने विकास के लिए स्थान नहीं है। अब तो

पुराने विज्ञान के अनुसार केवल इतनी ही बात रह जाती है कि परमेश्वर का यह नियम है कि वह विकास द्वारा प्राणियों को उसी प्रकार पैदा कर देता है जिस तरह कली से फूल होता है। आगे हम देखेंगे कि इस प्रकार पैदा करना परमेश्वर के लिए आवश्यक है या नहीं। यहाँ तो यही कहना पर्याप्त है कि पुराने प्रकार का विकासवाद नष्ट हो गया। हम अपने स्वदेश बान्धव महाशय नाना पावगी, विद्यारत्न और अविनाश बाबू से यही कहते हैं कि आपने इतिहास की धुन में पश्चिम के विज्ञान की समालोचना क्यों नहीं की ? यदि आप ध्यान से इसकी भी आलोचना करते तो आपको इसमें भी वैसी ही, किन्तु उससे भी अधिक भयंकर भूलें मिलतीं जैसीकि वेदों की प्राचीनता और आर्यों की सभ्यता में यूरोपनिवासियों की भूलें मिली हैं।

कहने को तो हमने इतने ही में विकासवाद का रहस्य खोल दिया, परन्तु जिन लोगों ने उसे जिस क्रम से ग्रहण किया है जब तक उसी क्रम से उनके मस्तिष्क से न निकाला जाए तब तक उनको तसल्ली नहीं हो सकती, अत: हम आगे क्रम से श्रीयुत विनायक गणेश साठे एम० ए० लिखित 'विकासवाद' नामी पुस्तक के अनुसार विकासवाद के समस्त अङ्ग-उपाङ्गों की विस्तृत आलोचना करके देखेंगे कि वह किस प्रकार स्थिर है। यहाँ सबसे पहले थोड़े में यह दिखलाना चाहते हैं कि विकासवाद क्या है और उसकी स्थापना किस रीति से की गई है—

प्राकृतिक पदार्थों का आदि और मूलकारण ईथर है। उसी के कम्पन और तरङ्गावली से विद्युत्, प्रकाश, शब्द और गर्मी पैदा होती है। उसी के सूक्ष्मातिसूक्ष्म कणों को इलक्ट्रोन कहते हैं। इन इलक्ट्रोनों के संघात से ही विद्युत् उत्पन्न होती है और यही शक्ति Energy के रूप में स्थूलाकार में मैटर कहलाती है। मैटर की विरल दशा को गैस, तरल दशा को लिक्विड और ठोस दशा को सॉलिड कहते हैं। ईथर से उत्पन्न ये पदार्थ घनीभूत होकर और आकर्षणानुकर्षण के नियम से चक्राकार गति में हो जाते हैं। कुछ दिनों में वही चक्र सूर्य हो जाता है। सूर्य में गर्मी और गति के कारण चक्कर (रिंग) पड़ जाते हैं और पृथक् होकर दूसरे ग्रह बन जाते हैं। उन ग्रहों से दूसरे उपग्रह बनते हैं। इसी प्रकार के ग्रहों में से हमारी पृथिवी भी एक ग्रह है और पूर्वोक्त रीति से ही बनी है। इसके बनानेवाले किसी ईश्वर, परमात्मा आदि को मानने की आवश्यकता नहीं है। यह पृथिवी पहले गर्म थी, धीरे-धीरे ठण्डी हुई, समुद्र बने, उनसे भूमि निकली और जीवन आरम्भ हुआ। जड़ से ही जीवित प्राणी पैदा हो गये।

पृथिवी में चेतन वस्तु उत्पन्न हुई और धीरे-धीरे बढ़ी। पहले वह न वनस्पति थी और न जन्तु, किन्तु दोनों को उत्पन्न करनेवाली चेतनता थी। उसकी एक शाखा एक कोष्ठधारी 'अमीबा' बन गई। अमीबा इतने बढ़े कि उन्हें खाने-पीने की कठिनाई होने लगी। वे नाना प्रकार के प्रयत्न करने लगे। उनकी सन्तति जो शारीरिक प्रयत्न और मानसिक अभ्यास में बलवान् थी और जीवन-संग्राम में बच गई, वह फिर बढ़ी। भोजन की तंगी के कारण संग्राम चालू रहा और योग्य बचे, अयोग्य मारे गये। ये बचे हुए अमीबा पहले से कुछ भिन्न प्रकार के थे। इनमें भी वही क्रम चलता रहा और बहुत दिन के बाद मरते-मरते तथा परिस्थिति के अनुसार आकार-प्रकार बदलते-बदलते मछली, मण्डूक, सर्प, पक्षी, गाय, बैल, बन्दर, वनमनुष्य और मनुष्य की उत्पत्ति हुई।

जिस कारण और क्रम की वजह से भारतीय, यूरोपियन, रेड इण्डियन, हब्शी और चीना में भेद है उसी कारण और क्रम की वजह से बहुत दिन के बाद मनुष्य और वनमनुष्य-जैसा अन्तर हो जाता है। सब प्राणियों का एक ही तत्त्व से बनना और सबमें जीवन और सन्तति धारण करनेवाले समान अवयवों का होना सिद्ध करता है कि सब एक ही मूल यन्त्र के उसी प्रकार

सुधरे हुए रूप हैं जिस प्रकार आरम्भ की बाइसिकल भद्दे प्रकार की थी, उसमें सुधार होता गया और अनेक शकलों में होती हुई आज की बाइसिकल प्रस्तुत हुई। यदि पूर्व-पूर्व की सभी साइकिलों को एक क़तार में रखकर देखें तो पता लगेगा कि उस पहली ही साइकिल के सब सुधरे हुए रूप हैं, परन्तु पहली साइकिल तीन पहिये की थी, हाल की दो ही पहिये की है। वह पैर हिलाकर चलाई जाती थी, यह मोटर के बल से दौड़ती है। जिस प्रकार ये अनेक भाँति की साइकिलें एक ही मूल साइकिल का सुधरा हुआ रूप हैं उसी प्रकार संसार के समस्त प्राणी भी एक ही अमीबा के सुधरे हुए रूप हैं। इनमें कोई भी दूसरा प्राणी नहीं है। जिस प्रकार तीन पहिये और दो पहिये की साइकिल दो वस्तु नहीं हैं उसी प्रकार बिना पैर का साँप और सौ पैर का कानखजूरा भी कोई दो वस्तु नहीं है। पहले का सुधरा हुआ रूप ही दूसरा है। पहले सादी फिर संकीर्ण, पहले बिन हड्डीवाली फिर हड्डीवाली और पहले जोड़ोंवाली फिर सपाट रचना का क्रम यान्त्रिक ही है।

भूमि के खोदने से भी प्राणियों में यही क्रम पाया गया है। सादी रचनावाले निचली तहों में और क्लिष्ट रचनावाले—हड्डीवाले ऊपरी तहों में पाये जाते हैं। गर्भ में भी यही क्रम देखा जाता है। मनुष्यगर्भ पहले अमीबा की भाँति एक कोष्ठवाला, फिर मछली के आकार का, फिर मण्डूक, सर्प और पक्षी के आकार का होता हुआ बन्दर की शकल का होकर मनुष्य होता है। इस प्रकार समस्त भूगोल के प्राणियों की शरीर-रचना और जहाँ-तहाँ से प्राप्त हड्डियों की रचना तथा भिन्न-भिन्न देश में स्थित प्राणियों की रचना के मिलान से यही प्रतीत होता है कि सब एक ही मौलिक यन्त्र के परिशोधित और परिवर्धित रूप हैं। अनेक चिह्न भी अब एक-दूसरे में पाये जाते हैं और अनेक चिह्न लुप्त भी प्रतीत होते हैं। कई स्त्रियों के चार-चार, आठ-आठ स्तन और कई मनुष्यों के पूँछ का होना यही कहता है कि मनुष्य भी उन-उन योनियों में होकर आया है, जिनमें अनेक स्तन और पूँछ होती हैं। कान न हिला सकने और आँत उतरने की बीमारी से प्रतीत होता है कि मनुष्य के ये अंग शक्तिहीन हो गये हैं। कहीं-कहीं दो प्रकार के प्राणियों के-से उभय अङ्ग एक ही प्राणी में पाये जाते हैं। जैसे चिमगादड़ और उड़नेवाली गिलहरी—ये लुप्त कड़ियों के उत्तम दर्शक और विकास के उत्तम प्रमाण हैं। इन्हीं सब साधनों से विकासवाद की पुष्टि होती है। आगे हम क्रम से साधक-बाधक प्रमाणों से देखना चाहते हैं कि नवीन विज्ञान और सृष्टिपर्यालोचन से प्राप्त हुए अनुभवों के सामने विकासवाद कहाँ तक ठहर सकता है।

हमने प्रथम पैराग्राफ़ में ईथर से लेकर जीवन उत्पन्न होने तक का वर्णन दिया है। इस उत्पत्तिक्रम के विषय में तो हमें कुछ नहीं कहना, चाहे इसी प्रकार सृष्टि हुई हो, परन्तु बिना चैतन्य और परमेश्वर की क्रिया के जड़ प्रकृति कभी भी रचना नहीं कर सकती, अत: हम पहले यहाँ से आलोचना आरम्भ करते हैं—

ईश्वर की अमान्यता

परमेश्वर के सम्बन्ध में विकासवाद के योग्य लेखक महाशय विकासवाद के पृष्ठ १३ पर लिखते हैं कि 'विकासवादी कहते हैं कि जिस प्रकार आजकल परिवर्तन हो रहे हैं उसी प्रकार पूर्व समय में भी परिवर्तन हुए थे और उन्हीं परिवर्तनों के कारण सृष्टि की आजकल की दशा दृष्टिगोचर हो रही है। विकासवाद की स्थापना वैज्ञानिक रीति पर की गई है, इसलिए वर्त्तमान संसार का कारण कोई प्रारम्भिक अद्भुत शक्ति मानने की आवश्यकता नहीं रही'।

ऊपर जो वर्णन उद्धृत किया गया है वह यदि ठीक-ठीक वैज्ञानिक रीति से किया गया है तो निस्सन्देह उसी में प्रारम्भिक अद्भुत शक्ति का वर्णन निहित है। सारा संसार यदि परिवर्तन का

फल है और परिवर्तन यदि पूर्व से भी पूर्व काल से लगातार चला आ रहा है और अब भी चल रहा है तो परिणाम यह होनेवाला है कि यह परिवर्तन किसी-न-किसी दिन बन्द हो जाएगा, क्योंकि 'परिवर्तनशीलता' प्रकृति का स्वाभाविक गुण नहीं है। जब स्वभाव का अर्थ ही अपरिवर्तनशीलता है तो परिवर्तन स्वभाव कैसे हो सकता है? यदि प्रकृति अवस्तु नहीं है—यदि यह दृश्यमान जगत् वास्तव में वस्तु है तो इस वस्तु के कुछ स्वाभाविक गुण होंगे जो कभी त्रिकाल में बदल न सकते होंगे, परन्तु हम प्रतिदिन परिर्वतन देखते हैं, इससे साहसपूर्वक कहते हैं कि यह परिवर्तनशील है। परिणाम स्पष्ट है कि वह गुण उसका स्वाभाविक नहीं, प्रत्युत बनानेवाले का दिया हुआ है, अतएव आगे चलकर वह गुण अवश्य नष्ट होनेवाला है। बन्दूक़ के द्वारा फेंकी हुई गोली का वेग उसका निज का नहीं है, क्योंकि वह आगे भागती जा रही है। यह अस्थिर गुण उसका स्वाभाविक नहीं, किन्तु चलानेवाले का दिया हुआ है, अत: वह आगे चलकर गिरनेवाली है। जिस प्रकार परिवर्तनशील घड़ी और बन्दूक़ की गोली आगे चलकर बन्द होनेवाले हैं, निस्सन्देह चलने के पूर्व—परिवर्तन आरम्भ होने के पूर्व—बन्द थे। चलाने के पहले घड़ी बन्द थी, बन्दूक़ की गोली बन्द थी और सभी कुछ बन्द था, अत: यह परिवर्तनशील सृष्टि जब आगे चलकर बन्द होनेवाली है तब निस्सन्देह कभी पूर्वातिपूर्व काल में बन्द थी। तब इसे चलाया किसने? उसी परमात्मा ने।

परमेश्वर को सिद्ध करने के लिए हम बहुत-से प्रमाण इसलिए नहीं देना चाहते कि अब यह विषय वैज्ञानिकों में मान्य हो गया है। 'परमेश्वर है या नहीं' इस विषय की नवीन खोजों से पता लग गया है कि बिना परमेश्वर की सत्ता के माने, साइंस का महा विद्वान् डॉक्टर जे० ए० फ़्लेमिंग कहता है कि 'साइंस के स्वाध्याय से हमको इस प्राकृतिक जगत् में क्रम, योजना, धारणा और विचार दिखलाई पड़ते हैं। ये बातें इत्तिफ़ाक़ से, अचानक नहीं आ गईं। ये विचार और चैतन्य की सूचना देती हैं। यह संसार केवल वस्तु ही नहीं है प्रत्युत यह विचारमय है जो बिना विचारवान् के कभी हो नहीं सकता। इस संसार में एक सर्वव्यापक चैतन्य विचारवान् सत्ता भासित होती है, जिसका हम भी एक नमूना हैं'[१]। अभी हम जिन सात विज्ञानवेत्ताओं का गुणानुवाद कथन कर आये हैं उनमें से एक की राय का नमूना यह है। सबने प्राय: इसी प्रकार ज़ोर-शोर से परमेश्वर का प्रतिपादन आधुनिक रीति से किया है। यह विज्ञान की वर्त्तमान परिस्थिति है, अत: हम ईश्वर-सिद्धि पर विशेष कुछ नहीं कहना चाहते। अब दूसरा आवश्यक पदार्थ जीव है उसकी यहाँ समालोचना कर लेनी चाहिए।

चैतन्य की अमान्यता

विकासवाद के लेखक महोदय कहते हैं कि 'विकासवाद पर विचार करते हुए जीवन (Life) पर विचार करना एक प्रसंगोपात बात है—विकासवाद का यह वास्तविक विषय नहीं। इस विषय पर जो एक वा दो कल्पनाएँ वैज्ञानिकों को सूझी हैं वे निम्न प्रकार की हैं। एक कल्पना यह है कि पृथिवी पर गिरनेवाली तारकाओं (Meteorites) द्वारा जीवन का बीज हमारे यहाँ

---

१. To sum up this part of our argument, we can say that Scientific study most certainly shows us the presence in this physical universe of an Order, Stability, Directing Power and Intelligibility, and Capability of being understood by us. These qualities are not spontaneously produced. They do not come by chance. They are not the result of mere accident. They always imply thought and intelligence. This Universe is not merely a Thing; it is a Thought, and thought implies and necessitates a Thinker. Hense there is in this Universe a Supreme Thinker or Intelligence of which our own intelligence is but the faint copy and image. —*Science and Riligion*, p.48.

पहुँचा, परन्तु उसमें यह शंका हो सकती है कि क्या प्रोटोप्लाज़्म में इतनी शक्ति है कि तारकाओं द्वारा पृथिवी पर पहुँचने तक उसमें जीवन अवशिष्ट रह सकता होगा। दूसरी कल्पना यह है कि असंख्य वर्षों से पहले अनुकूल स्थिति पाने पर जीवन का एकदम प्रादुर्भाव (Spontaneous Generation) हुआ'। इसपर आप ही लिखते हैं कि 'जीवन का आरम्भ कैसे हुआ इसका वैज्ञानिकों को अब तक कुछ ज्ञान नहीं हुआ है। वैज्ञानिक सीधा-सादा उत्तर देते हैं कि हम इस बात को नहीं जानते। निर्जीव से सजीव की उत्पत्ति को नि:शंक और प्रमाणपूर्ण मन से यद्यपि अब तक हम मान नहीं सकते तथापि इतना निस्सन्देह है कि विकास स्थापना की अन्य कल्पनाओं के साथ इसका मेल भली-भाँति मिल जाता है'।

ऊपर के वर्णन से ज्ञात होता है कि वैज्ञानिक अब तक नहीं जान पाये कि चैतन्य कैसे बनता है, परन्तु उनका विश्वास है कि वह है प्राकृतिक, क्योंकि उनके मत में चेतन प्रोटोप्लाज़्म ही है और प्रोटोप्लाज़्म में जो शहद की भाँति तरल पदार्थ भरा है वह कार्बन हाइड्रोजन, नाइट्रोजन और फासफोरस आदि १२ भौतिक पदार्थों से ही बना है, जो निरे जड़ हैं। ये भौतिक पदार्थ भी इलक्ट्रोन के न्यूनाधिक मेल से बनते हैं। इलेक्ट्रोन खण्ड-खण्ड हैं, अत: हमारी देशीभाषा में ये सारे पदार्थ परमाणुओं से ही बन जाते हैं और जीव भी प्राकृतिक परमाणुओं से ही बन जाता है। पृष्ठ २७ में हक्सले का नाम देकर ग्रन्थकार कहते हैं कि 'हक्सले महोदय कहते हैं कि चेतन पदार्थ दीपक की ज्योति अथवा पानी के भँवर के समान यद्यपि नित्य प्रतीत होते हैं तथापि वास्तव में प्रतिक्षण बदलनेवाले व्यक्ति हैं'। इसका तात्पर्य यही है कि आत्मा प्रकृति के परमाणुओं से बना है। नये-नये परमाणु प्रतिदिन उसमें चिपकते जाते हैं और पुराने अलग होते जाते हैं। इस प्रकार की धारा निरन्तर बहती रहती है; इसी से ज्ञान और चैतन्य क्रम नहीं टूटता।

नवीन विज्ञान बतलाता है कि प्रत्येक परमाणु (atom) कई इलेक्ट्रोनों से बना है। इलेक्ट्रोन एक-दूसरे से चिपकते नहीं, प्रत्युत दूर-दूर रहते हैं। जिस प्रकार हमारे तारागण दूर-दूर रहकर भी एक तारापिण्ड या सौरजगत् कहलाते हैं, इसी प्रकार अनेक इलेक्ट्रोनों से बना हुआ एटम भी है[१]। उसी एटम से उपर्युक्त बारह पदार्थ बने हैं। इन बारह पदार्थों से ही आत्मा बना है। ये बारह पदार्थ सदैव बदलनेवाले हैं, अत: आत्मा भी प्रतिक्षण बदलता रहता है। वैज्ञानिक कहते हैं कि परमाणुओं की गति प्रति सेकिण्ड एक लाख माइल की है। अब सोचिए कि पृथक्-पृथक् रहकर इतने झपाटे से चलनेवाले परमाणु किस प्रकार अपना ज्ञान दूसरे परमाणु में डालते हैं अथवा किस प्रकार ज्ञान उड़कर एक परमाणु से दूसरे में जाता है और चैतन्य स्थापित रहता है। यहाँ स्कूल में २० वर्ष तक मास्टर विद्यार्थी को पढ़ाता है तो भी विद्यार्थी भूल जाता है, परन्तु बिना किसी साधन के दूर-दूर स्थित परमाणु, इतने झपाटे से दौड़ते हुए, अपना ज्ञान दूसरे में फेंककर चले जाते हैं और दूसरे उस ज्ञान को ले-लेते हैं। कितना आश्चर्य है! समझ में नहीं आता कि किस प्रकार ऐसी ऊलजलूल बातें पढ़े-लिखे लोग कहते, सुनते और उन्हें सच मानते हैं। यह परमाणुओं का शीघ्र संवाद ऐसा भ्रामक एवं असत्य है कि इस पर हँसी आती है। आनन्द की बात है हैकल हेक्सले का युग अब चला गया। अब उनकी बातें रद्दी (Old Riddle) कहलाती हैं। अब तो विज्ञानवेत्ताओं ने आध्यात्मिक विद्या के द्वारा जाना है कि जीव अप्राकृतिक और अजर-अमर है।

दिसम्बर सन् १९२३ के चिल्ड्रन्स न्यूज़पेपर में प्रो० रिचेट की Thirty Years of Psychi-

---

१. Most people think of atoms as something like marbled, only very very small. They are not little hard marbles: no, they are much more like solar system. Just as the planets by laws revolve round the sun, so the electrons by laws revolve round the nucleus of the atoms—(Sir Oliver Lodge)

—*Science and Religion*, p. 18.

cal Research नामी पुस्तक का एक विज्ञापन छपा है। उसमें कहा गया है कि ३० वर्ष की खोज के पश्चात् यह पुस्तक लिखी गई है। ग्रन्थकार ने 'जीवात्मा' का अनुसन्धान कर लिया है। जीव के विषय में ग्रन्थकार के निम्न वाक्य उद्धृत किये गये हैं कि—'५० वर्ष पूर्व भौतिक विज्ञान का यही दृष्टिकोण था कि जो बात भौतिक विज्ञान से सिद्ध न हो उसका अस्तित्व ही नहीं है—वह ढोंग है, किन्तु आज ऐसे भी प्रमाण मिल रहे हैं कि भौतिक विज्ञान की पहुँच के बाहर भी पदार्थों का अस्तित्व है। ऐसी घटनाओं को 'साइकिकल' कहते हैं। यह शब्द जीव के लिए व्यवहृत होता है'[१]। जो लोग स्पष्ट नहीं कहना चाहते, वे भी अब जीवात्मा को भौतिक नहीं कहते। प्रसिद्ध डारवीन के सुपुत्र प्रोफ़ेसर जॉर्ज डारविन ने १६ अगस्त सन् १९०५ को दक्षिण अफ्रीका में ब्रिटिश एसोसियेशन के प्रधान की हैसियत से कहा है कि 'जीवन का रहस्य अब भी उतना ही गूढ़ है जितना पहले था'[२]। सन्देहवादियों की राय का अब आदर नहीं है। अब स्पष्टवादियों का समय आ गया है। स्पष्टवादियों में प्रो० गेड्स कहते हैं कि 'कुछ प्रामाणिक विज्ञानवेत्ता जो जीव के एक लोक से दूसरे लोक में आगमन की कल्पना को सन्तोषजनक मानते हैं, ऐसा भी मानते हैं कि जीव प्रकृति की भाँति अनादि है'[३]।

दूसरा विद्वान् कहता है कि 'चेतन के प्रभाव के बिना जड़ पदार्थों में चेतना आ ही नहीं सकती। विज्ञान का यह नियम मुझे पृथिवी के आकर्षण की भाँति अटल प्रतीत होता है'[४]। जब से मनोविज्ञान (साइकॉलॉजी) मस्तिष्कशास्त्र (फ्रिनालॉजी) और आत्मविद्या (स्प्रिचुअलिज़्म) का अन्वेषण हुआ है तब से जीव-सम्बन्धी सभी शंकाएँ निवृत्त हो गई हैं।'

मनोविज्ञान का एक विद्वान् लिखता है कि 'किसी भी जीवन-कार्य की सङ्गति भौतिक नियमों से अब तक स्पष्ट नहीं की जा सकी है। आँसू के निकलने या पसीने के निकलने आदि के छोटे-छोटे नियमों के स्पष्टीकरण की सब चेष्टाएँ निरर्थक सिद्ध हो चुकी हैं'[५]। मस्तिष्कशास्त्र (Phrenology) का जन्मदाता गॉज लिखता है कि 'मेरी सम्मति में एक ही निरवयव वस्तु है जो देखती, सुनती, स्पर्श करती और प्रेम, विचार तथा स्मरण आदि करती है, परन्तु यह अपने कार्य के लिए मस्तिष्क में अनेक भौतिक साधन चाहती है'[६]। इसने वही बात कह दी जो उपनिषत्कारों

१. Science was never so conscious as now of how much there is to learn. Fifty years ago the attitude of science was that all happenings, that could not be explained by known physical laws, were not real events, but the imaginings of credulous or superstitious people.

But to-day unanswerable proof exists that things do happen which appear to be outside all known physical laws. Such happenings are called by the rather difficult name of psychical, which comes from a Greek word meaning the soul, because such things were formerly supposed to have to do with soul and not with the body. —*Children's Newspaper* of 8th December 1923.

२. The mystery of life remains as impenetrable as ever. —Sir George Darwin

३. Some authorities who have found satisfaction in the Meteorite-Vehicle-Theory have also suggested that life is as old as matter. —*Evolution*, p. 70, by p. Geddes.

४. Dead matter can not become living without coming under the influence of matter previously living. This seems to me as sure a teaching of science as the law of gravitation. —*The Nature and Origin of Life*, p. 173.

५. For no single organic function has yet been found explicable in purely mechanical terms, even such relatively simple processes as the secretion of a tear or the exudation of a drop of sweat continue to elude all attempts at complete explanation in terms of physical and chemical science. —*Psychology*, p. 33-34, by prof. W. Mc Dougall F. R. S. H. B.

६. In my opinion there exists but one single principal which sees, hears, feels, loves, thinks, remembers, etc. But this principal requires the aid of various material instruments, in order to manifest its respective functions. —Dr. Gall.

ने कही है—

एष हि द्रष्टा स्प्रष्टा श्रोता घ्राता रसयिता मन्ता बोद्धा कर्त्ता विज्ञानात्मा पुरुषः।

अर्थात् देखनेवाला, छूनेवाला, सुननेवाला, सूँघनेवाला, चखनेवाला, मनन करनेवाला और कार्य करनेवाला विज्ञानी आत्मा है।

आत्मविद्यावालों की, देश-विदेश में सर्वत्र ही, इस समय धूम मची है। कोई प्रेत बुलाता है तो कोई आत्मा से बातें करता है। इस विषय के सबसे बड़े पण्डित और साइंस के आचार्य सर ओलिवर लॉज ने आत्मा का अस्तित्व प्रमाणित कर दिया है, अतएव अब चैतन्य के विषय में कोई सन्देह नहीं रह जाता। सर ओलिवर लॉज कहते हैं कि—'एक बार आप इस बात को देखें कि अन्त:करण बड़ी वस्तु है। वह इस मशीन (शरीर) से बाहर की वस्तु है, ऐसा नहीं है कि जब शरीर नष्ट हो जाता है तब वह अपना अस्तित्व खो देता है। हम जितने दिन पृथिवी पर रहते हैं उतने ही दिनों के लिए हमारा अस्तित्व परिमित नहीं है। हम बिना शरीर के भी रहेंगे। हमारा अस्तित्व बना ही रहेगा। मैं क्यों ऐसा कहता हूँ? इसलिए कि ये सब बातें निश्चित विज्ञान के आधार पर स्थित हैं। बहुत लोगों ने अभी इसका अनुभव नहीं किया, परन्तु यदि कोई ३० या ४० वर्ष अपनी आयु इस विषय में लगावे तभी वह यह कह सकने का अधिकारी होगा कि अब मैं किस स्थिति में पहुँचा हूँ[१]। किस दावे के साथ सर ओलिवर लॉज जीव का अनादित्व सिद्ध करते हैं और किस प्रकार इस विषय के जानने के लिए वे ३०-४० वर्ष तक श्रम करने की अपील करते हैं। हमने जीव की अप्राकृतिकता और उसका नित्य अस्तित्व बतलाने के लिए बहुत-से तर्क और प्रमाणों को एकत्र करना उचित नहीं समझा। इसका कारण यही है कि दस-बीस वर्ष पूर्व विज्ञानवेत्ताओं ने इसपर प्रकाश नहीं डाला था। वे इसकी खोज में थे। वे स्पष्ट शब्दों में कहते थे कि हम इसे नहीं जानते, किन्तु अब वह बात नहीं है। अब विज्ञान उच्च स्वर से जीव का अस्तित्व और नित्यत्व स्वीकार करता है, अत: नवीन विज्ञान के इस नवीन युग में ईश्वर, जीव और पुनर्जन्म सिद्ध करने में बहुत कुछ सरलता हो गई है।'

यहाँ ईश्वर और जीव की सिद्धि से पुराने विकासवाद में भी अन्तर आ गया है। लोगों में अब कई प्रकार के विचार आरम्भ हो गये हैं। सबसे बड़ा विचार यह है कि परमेश्वर जीवों को उनके सुख-दु:ख के लिए ही उत्पन्न करता है तो उनके उत्पन्न करने के लिए उसको विकासवाद का सहारा क्यों लेना पड़ता है? क्या वह अलग-अलग योनियों को उत्पन्न नहीं कर सकता। आगे हम इस बात पर विचार करना चाहते हैं कि जीव और परमेश्वर तथा जीवों के कर्म और परमेश्वर की व्यवस्था मान लेने पर सृष्टि-उत्पत्ति का उत्तम प्रकार दो में से कौन-सा प्रमाणित होता है—

पहले डारविन का विकास, जड़ प्रकृति के परिवर्तन और सृष्टि की परिस्थिति—अवसर पर अवलम्बित था, परन्तु अब ईश्वर और जीव मान लेने पर वह नियत नियमित मानना पड़ता है। सर ओलिवर लॉज लिखते हैं कि 'हम लोग विकास के ही प्रबन्धाधीन हैं। हम लोग विकास

---

१. Once you realise that the consciousness is something greater, something outside the particular mechanism which it makes use of, you realise that survival of existence is natural, is the simplest thing. It is unreasonable that the soul should jump out of existence when the body is destroyed. We ourselves are not limited to the few years that we live on this Earth. We shall go on without it. We shall certainly continue to exist, we shall certainly survive. Why do I say that? I say it on definite scientific grounds. —*Science and Religion*, p. 24.

There are many who have not yet investigated...............But if a person gives thirty or forty years of his life to this investigtion he is entitled to state the result at which he has arrived.

—*Ibid*, p. 26.

द्वारा ही इस पृथिवीग्रह पर पहुँचे हैं। यह सब सत्य है, किन्तु विकास क्या है ? विकास अबाधित उन्नति है। अबाधित, अर्थात् कली से फूल हो जाने का नियम—बीज से वृक्ष हो जाने का मार्ग। प्रत्येक पदार्थ कली से फूल की भाँति अबाधित उन्नति का ही फल है'[१]। सर ओलिवर लॉज के मत से अब प्रकृति का साम्राज्य नहीं है जो ऊँट की भेड़ बना डाले। अब तो जिसको जिस योनि में उत्पन्न होकर जो सुख-दुःख भोगना है उसको वही शरीर मिलेगा। जिस प्रकार कली का फूल ही होगा भौंरा नहीं—बीज का वृक्ष ही होगा मूँगा नहीं, उसी प्रकार संसार के समस्त पदार्थ कर्त्ता के नियमानुसार जो कुछ होना लिखा लाये हैं, वही होंगे अन्य नहीं। इस बात का स्पष्टीकरण टी०एच० हक्सले के 'एनीवरसरी एड्रेस' (Anniversary address) से हो जाता है। वे कहते हैं कि 'प्रत्येक पशु और वनस्पति की तमाम जातियों में कुछ विशेष प्राणी ऐसे होते हैं जिनको मैं Persistent type, अर्थात् स्थिर आकृति का नाम देता हूँ। उनमें आदि सृष्टि से लेकर वर्त्तमान कालपर्यन्त कोई ऐसा प्रकट विकार नहीं हुआ, जिसे हम प्रमाणित कर सकें'। इससे भी बढ़कर मद्रास हाईकोर्ट के जज टी०एल० स्ट्रैंज महोदय अपनी 'The Development of Creation on the Earth' नामी पुस्तक में लिखते हैं कि 'जलकृमियों में बहुत प्रकार के भिन्न-भिन्न स्वरूपवाले जन्तु प्रतिदिन उत्पन्न होते रहते हैं। इन जन्तुओं के लिए यह आवश्यक नहीं कि वे दूसरे जन्तु से विकृत होकर उत्पन्न होते हों प्रत्युत वे तो एक-दूसरे से अपेक्षारहित होकर एक समय में अलग-अलग आकार के साथ उत्पन्न होते हैं'।

इस खोज ने क्रमविकास पर पानी फेर दिया है। हमारा और आपका भी यही अनुभव है कि सिर में मैल जमने से जो जूँएँ उत्पन्न होती हैं वे कई शरीरों में होकर जुँओं के रूप में दिखलाई नहीं पड़तीं। खाट का खटमल मलिनता से ही ज्यों-का-त्यों उत्पन्न हो जाता है। पेशाब के कीड़े संसार के समस्त देशों में एक ही आकार के उत्पन्न होते हैं। ये तमाम वे घटनाएँ हैं जो दावे से यह बात सिद्ध करती हैं कि अमुक आकार प्राप्त करने के लिए अमुक-अमुक आकारों का चक्कर लगाना आवश्यक नहीं है। जिस परमात्मा के भृकुटिविलास से बड़े-बड़े सूर्य-चन्द्र बनते हैं, जिसके चमत्कार से विकास का आरम्भिक प्रोटोप्लाज़्म और उससे अमीबा बनता है, क्या उसके संकेत से अन्य प्राणियों के दूसरे शरीर नहीं बन सकते ? इन्हीं बातों को देखकर वर्त्तमान समय का बहुत बड़ा वैज्ञानिक Agassiz अपनी 'Principles of Zoology' नामी पुस्तक में लिखता है कि 'पृथिवी पर उत्पन्न होनेवाले, बिना हड्डी के जन्तुओं और मनुष्यादि हड्डीदार प्राणियों में एक समान ही उन्नति देखी जाती है, परन्तु इस समानता का यह तात्पर्य नहीं है कि एक प्रकार के प्राणी दूसरे प्रकार के प्राणियों से ही विकसित हुए हों। आदिम कालीन मत्स्य ही, सर्पणशील प्राणियों के पूर्वज नहीं हैं और न मनुष्य ही अन्य स्तनधारियों से विकसित हुआ है। प्राणियों की शृङ्खला किसी अभौतिक तत्त्व से सम्बन्ध रखती है, जिसने पृथिवी पर अनेक प्रकार के प्राणियों की सृष्टि करके अन्त में मनुष्य की रचना की है'[२]।

---

१. We are in the process of evolution; we have arrived in this planet by evolution. That is all right. What is evolution? Unfolding development—unfolding as a bud unfolds into a flower, as an acron into an oak. Every thing is subject to a process of growth, of development, of unfolding.

—*Science and Religion*, p. 16.

२. There is manifest progress in the succession of being on the surface of the earth. This progress consists in an increasing similarity of the living fauna, and among the vertebrates especially, in their increasing resemblance to man..........But this connection is not the consequence of a direct lineage between the fauna of different ages. There is nothing like parental descent connecting them. The fishes of the Palaeozoic age are in no respect the ancestors of the reptiles of the secondary

परमेश्वर और जीव की सत्ता मानकर यह सिद्धान्त कभी बन ही नहीं सकता कि प्रकृति ही मनमाना काम करती है और परमेश्वर ख़ाली बैठा-बैठा ऊँघता है। जब परमेश्वर सृष्टि का कर्त्ता है तब उसने किसी कारण से ही यह सृष्टि बनाई है। वह जीवों को कर्मफल देकर संसार में न्याय स्थिर रखने के लिए ही जीवों को पैदा करता है। ऐसी दशा में यह अत्यन्त आवश्यक है कि प्रत्येक प्राणी का सुख-दुःख उसके साथ ही लगा हो। सुख-दुःख शरीर से ही प्राप्त होता है और सुख-दुःख का न्यूनाधिक्य शरीर की बनावट पर ही अवलम्बित है। ऐसी दशा में जिस प्राणी को जो कुछ सुख-दुःख देना है, उसके लिए उसी समय वैसा शरीर न बनाकर व्यर्थ असंख्य शरीरों में फिराकर तब उस शरीर में लाना परमात्मा-जैसे महासमर्थ के लिए उचित नहीं। कर्मफलों के भुगाने के लिए यदि किसी अपराधी को कालकोठरी का तीन मास का दण्ड हो और पुलीस उसे वर्षों इधर-उधर की हवालातों में फिराती फिरे तो क्या यह कुछ न्यायसङ्गत या बुद्धि-अनुमोदित होगा ? हमारी समझ में तो नहीं। हमने यहाँ तक सृष्टि-उत्पत्ति के दो प्रधान तत्त्व—ईश्वर और जीव का अस्तित्व और अनादित्व प्रतिपादन करके देखा तो पाया कि इन दोनों तत्त्वों के मान लेने पर क्रमविकास के लिए अवकाश नहीं रहता तथापि विकासवादी जिस क्रम से विकासवाद को आरोपित करते हैं उसी क्रम से यहाँ उसकी आलोचना होनी चाहिए।

तत्त्व, संस्थान और प्राणिपरिवर्तन

विकासवाद की मान्यता है कि चेतन कोष्ठ, जिससे चेतन प्राणी बनता है, सोलह पदार्थों से बना है। इन्हीं चेतन कोष्ठों से समस्त प्राणियों की रचना हुई है। इन सब जीवित प्राणियों में सामान्य बातें तीन हैं—१. सब प्राणियों के शरीर एक ही सरल पदार्थ से बने हैं। पशु-पक्षियों के शारीरिक तत्त्वों में कोई अन्तर नहीं है। २. सब प्राणी अपनी क्षीणशक्ति को स्वयं फिर प्राप्त कर लेते हैं, अर्थात् प्रतिदिन काम करके फिर ताज़े हो जाते हैं। ३. यन्त्रों की भाँति सुधरते-सुधरते एक शरीर से अन्य शरीर के हो जाते हैं।

सब प्राणियों के आठ संस्थान हैं। १. पोषण—बाहर से पदार्थ लेना, पचाना और सारे शरीर में पहुँचना। २. श्वासोच्छ्वास— शुद्ध वायु को अन्दर लेना और अशुद्ध वायु को बाहर फेंकना। ३. मलविसर्जन—अन्दर की गन्दगी और अनावश्यक पदार्थों को बाहर निकालना। ४. रक्त प्रसार—सारे शरीर में रक्त पहुँचना। ५. प्रेरण—गति देनेवाला स्थान। ६. आधार-स्थान—जिससे शरीर सधा रहता है। ७. ज्ञानतन्तु—इससे समस्त शरीर का हाल ज्ञात होता है और ८. प्रसव—जिससे सन्तति होती है।

यहाँ दो बाते हैं। एक तो सब प्राणियों के तत्त्व एक-से हैं। दूसरे सब प्राणियों के आठ संस्थान होते हैं। हमें इस सब व्यवस्था के सम्बन्ध में कुछ नहीं कहना। सबके शरीर एक ही प्रकार के तत्त्वों से बने हैं। यह नवीन विज्ञान की कोई विशेषता नहीं है। **'पञ्चरचित यह अधम शरीरा'** न जाने भारत का कितना पुराना विज्ञान है। रहा दूसरा, वह कोई भी विशेष बात नहीं, न इसमें कोई ख़ोज की बात ही दिखती है। जो प्राणी जीते हैं, खाते हैं, काम करते हैं और सन्तति उत्पन्न करते हैं, उनमें तो वे आठों संस्थान होने ही चाहिएँ। क्या कोई ऐसा भी मूर्ख है जो समझता होगा

---

age, nor does man descend from the mammals which preceded him in the Tertiary age. The link by which they are connected is of a higher and immaterial nature and Himself, whose aim in forming the earth, in allowing it to undergo successively all the different types of animals which have passed away, was to introduce man upon the surface of our globe. Man is the end towards which all the animal-creation has tended from the first appearance of the Palaeozoic fishes.

—*Principles of Zoology*, p. 205-206 by Agassiz.

कि प्राणी अपने शरीर के अन्दर जो खाद्य पहुँचाता है वह केवल पेट में रक्खा रहता है, रक्त तो केवल नाले में पानी की तरह बहता है और बिना प्रसव के सन्तति उत्पन्न होती है ? ये बातें तो सारी दुनिया मानती ही है। हाँ, केवल एक बात इसमें विचारणीय है कि जिस प्रकार धीरे-धीरे सुधरते-सुधरते यन्त्र और-के-और हो जाते हैं, इसी प्रकार प्राणी भी और-के-और हो जाते हैं।

यन्त्र मनुष्य की परिमित बुद्धि से आरम्भ होते हैं और अनुभव से वृद्धि को प्राप्त होते हैं इसलिए आरम्भिक और अन्तिम यन्त्र में अन्तर पड़ जाता है, परन्तु क्या परमेश्वरी रचना भी मनुष्य की-सी परिमित बुद्धि से आरम्भ होती है ? प्राणियों की रचना तो परमात्मा सुख-दु:ख भोगने के लिए करता है, इसलिए जिस प्रकार के शरीर से अमुक प्रकार का सुख-दु:ख भोगा जा सके उसी प्रकार का शरीर देता है और का और नहीं। ऐसी दशा में यन्त्रों का उदाहरण देकर प्राणियों की शीरीरिक बनावट को परिवर्तनशील सिद्ध करना सृष्टिनियम के विपरीत है। शरीर का बनाना यदि प्रकृति के अथवा स्वयं अपने अधीन मानें तो यन्त्र का दृष्टान्त ठीक हो सकता है, परन्तु यहाँ तो शरीर देनेवाला तीसरा ही है, इसलिए उपर्युक्त दृष्टान्त सर्वथा अनुपयुक्त है। ग्रन्थकार महोदय स्वयं विकासवाद पृ० २१ पर कहते हैं कि 'न्यून-से-न्यून इतना तो हमको मानना ही पड़ता है कि वैज्ञानिकों ने अब तक ऐसी कोई रीति आविष्कृत नहीं की, जिससे इन परिवर्तनों को वे परीक्षणों द्वारा सिद्ध कर सकें और न उनको अब तक यह ज्ञात हुआ है कि इस प्रकार के परिवर्तन के नियम क्या हैं'। वैज्ञानिकों को परिवर्तन के नियम ज्ञात नहीं—यह ज्ञात नहीं कि परिवर्तन कैसे होता है और परिवर्तन होते किसी ने देखा नहीं, अर्थात् यह आज तक किसी ने नहीं देखा कि अमुक प्राणी का अमुक प्राणी बन गया। ऐसी दशा में परिवर्तन, सिवा कल्पना और अनुमान के और कुछ भी सिद्ध नहीं होता।

विकासवाद को जीव की उत्पत्ति, प्राणियों की उत्पत्ति और जातियों की उत्पत्ति को अच्छी प्रकार सिद्ध करना चाहिए था, परन्तु उसने अब तक एक विषय को भी अच्छी प्रकार आरोपित नहीं किया। इस विज्ञान के प्रखर पण्डित यही कहते हैं कि इनका रहस्य हमको ज्ञात नहीं है। जीव की उत्पत्ति और प्राणियों के शरीरपरिवर्तन के विषय में विकासवाद के लेखक ही ने कह दिया है कि वैज्ञानिक इसे नहीं जानते। पृथिवी पर प्राणियों की उत्पत्ति के विषय में थामसन कहता है कि 'विज्ञान के द्वारा हम नहीं जानते कि पृथिवी पर जीवधारी प्राणियों की सृष्टि कैसे हुई'[१]। दूसरा विद्वान् भी कहता है कि 'इस उजाड़ पृथिवी पर प्राणी कैसे उत्पन्न हुए ? इस प्रश्न का हम यही उत्तर देते हैं कि हम लोग नहीं जानते'[२]। इसी प्रकार एक तीसरा विद्वान् कहता है कि 'हम लोग विकास के उत्पादक तत्त्व के विषय में निश्चितरूप से बहुत ही थोड़ा जानते हैं। हम लोगों को डारविन के ही शब्दों में स्वीकार करना चाहिए कि एक जाति से दूसरी उपजाति की भिन्नता के नियमों के विषय में हम लोग कुछ नहीं जानते'[३]।

न तो विज्ञान को जीव की उत्पत्ति ज्ञात है न प्राणियों की उत्पत्ति का पता है और न एक जाति से दूसरी जाति के उत्पन्न होने के नियमों का ज्ञान है, तब फिर ज्ञात नहीं होता कि विकास

१. How did living creatures begin to be upon the Earth? In point of science, we do not know.
—*Introduction to Science*, p. 142 by J.A. Thomson M.A.

२. The question is : what was the manner of their being upon the previously tenantless Earth? Our answer must be that we do not know. —*Evolution*, p. 70. by Prof. Patrick Geddes.

३. We know very little that is certain in regard to the originative factors in evolution. We must still confess, with Darwin: 'Our ignorance of the laws of variation is profound'.
—*Evolution*, p.11. by P. Geddes.

किस प्रकार आरोपित किया जाता है। यहाँ तक हमने विकासवाद की साधारण आलोचना की, अब आगे हम दिखलाना चाहते हैं कि विकासवाद प्राणियों की उत्पत्ति में किन-किन शास्त्रों का उपयोग करता है। विकासवाद के लेखक ने लिखा है कि विकासवाद को सिद्ध करने के लिए प्राणियों के जो प्रमाण प्रस्तुत किये जाते हैं, उनके निम्नलिखित पाँच विभाग हैं—

१. जाति-विभाग-शास्त्र (Classification)
२. तुलनात्मक शरीर-रचना शास्त्र (Comprative Anatomy)
३. गर्भवृद्धि-शास्त्र (Embryology)
४. लुप्त-जन्तु-शास्त्र (Palaeontology)
५. भौगोलिक विभागशास्त्र (Geographical Distribution)

जाति-विभाग-शास्त्र

समस्त चेतन पदार्थों को उनके साधर्म्य-वैधर्म्यानुसार बड़ी या छोटी जातियों में बाँट देना इस शास्त्र का उद्देश्य है। जातिविभाग कई प्रकार का होता है, परन्तु वैज्ञानिकों ने स्थिर किया है कि अन्त:शरीररचना पर ही वर्गीकरण करना चाहिए। समस्त चेतन पदार्थ दो बड़े वर्गों (Kingdoms) में बँटे हैं। इनमें एक प्राणिवर्ग है और दूसरा वनस्पतिवर्ग। वनस्पतिवर्ग को विकासवाद के लेखक ने छोड़ दिया है, इसलिए हम भी उसे छोड़ देते हैं। अब रहा प्राणिवर्ग, उसके भी दो विभाग (Sub-Kingdoms) हैं। एक पृष्ठवंशधारी प्राणियों का और दूसरा पृष्ठवंशविहीन प्राणियों का। इन दोनों विभागों को अंग्रेजी में Vertebrates और Invertebrates कहते हैं। पृष्ठवंशविहीनों की पाँच श्रेणियाँ (Classes) हैं। विकासवाद के लेखक ने उनके नाम अंग्रेजी में इस प्रकार दिये हैं १. Protozoa, २. Coelenterata, ३. Echinodermata, ४. Annelida और ५. Mollusca। पृष्ठवंशधारियों की भी पाँच श्रेणियाँ बतलाई जाती हैं। उनके नाम मत्स्य (Fishes), मण्डूक (Amphibians), सर्पणशील (Repitles), पक्षी (Birds) और स्तनधारी (Mammals) हैं। इन विभागों में भी श्रेणी (Class), कक्षा (Order), वंश (Family), जाति (Genus) और उपजातियाँ (Species) हैं। यहाँ हम लेंड़ी कुत्ते के उदाहरण से दिखलाते हैं कि इस वर्गीकरण में उसका स्थान कहाँ है। लेंडी कुत्ता प्राणिवर्ग, पृष्ठवंशधारी विभाग, स्तनधारी श्रेणी, मांसभक्षी कक्षा, श्वावंश (भेड़िया-शृगालादि) कुत्ताजाति और लेंडी उपजाति का है। इस वर्गीकरण से पता लग जाता है कि कौन प्राणी किस जाति का है। इस वर्गीकरण का वर्णन विकासवाद में पृ० ३९ से ४१ तक आया है।

विकासवादी प्राणियों के वर्ग जलचर, नभचर, स्थलचर या अण्डज, पिण्डज, उद्भिज्ज, ऊष्मज या नीचे शिर, आड़े शिर, खड़े शिर अथवा वृक्ष, पशु, मनुष्य इस प्रकार नहीं करते। वे कहते हैं कि भीतरी रचना से ही शुद्ध वर्ग बन सकते हैं, किन्तु अब नवीन विज्ञान ने इसे भी अशुद्ध ठहराया है। जब से ख़ून की परीक्षा का क्रम आरम्भ हुआ है तब से उपर्युक्त वर्गविन्यास ग़लत सिद्ध हो रहा है। अब तक लोग गिनीफ़ाउल को मुर्गी के प्रकार का समझते थे, परन्तु अब रक्त की परीक्षा से वह शुतुर्मुर्ग की जाति का प्रतीत होता है। इसी प्रकार भालू को लोग कुत्ते की श्रेणी का समझते थे, विकासवाद के लेखक ने भी उसे श्वाजाति में ही गिना है, परन्तु उसके रुधिर की परीक्षा से वह सील आदि की भाँति जलजन्तु सिद्ध हो रहा है।

जब से रक्त की परीक्षा निकली है तब से पुराना वर्गभेद तो नष्ट हो ही गया है, किन्तु पर्दे में छिपे विकासवाद की जड़ ही कट गई है। जब विकासवाद एक ही प्रकार के मूल प्राणी से समस्त भूमण्डल के प्राणियों की उत्पत्ति मानता है, जब वह उनमें तात्त्विक भेद नहीं मानता, जब

वह सबके संस्थान एक समान गिनता है और जब वह सबको एक ही प्रकार से विकसित हुए मानता है, तब इन सबके रुधिरकण एक ही बनावट के क्यों नहीं होते? क्यों किसी जाति के प्राणी का रुधिरकण गोल, किसी का चपटा और किसी का वर्तुलाकार होता है? यह रुधिर का पृथक्त्व सिद्ध करता है कि प्रत्येक जाति का शरीर भिन्न-भिन्न प्रकार के रुधिरकणों से बना है, इसलिए यह निश्चित होता है कि समस्त जातियाँ एक ही प्रकार के प्राणी से विकसित नहीं हुईं, प्रत्युत सबकी उत्पत्ति अलग-अलग हुई है। यह थोड़ी-सी वर्गीकरण शास्त्र की आलोचना हुई। अब आगे तुलनात्मक शरीर-रचना-शास्त्र पर विचार करके देखते हैं कि उससे विकासवाद को कहाँ तक पुष्टि मिलती है।

तुलनात्मक शरीर-रचना-शास्त्र

विकासवाद के लेखक महोदय ने अपने ग्रन्थ में इस शास्त्र का वर्णन पृष्ठ ४२ से ८६ तक और २०० से २६८ तक इस प्रकार किया है कि वर्गीकरण निश्चित करने के लिए इस शास्त्र में बहुत कुछ सामग्री प्राप्त होती है। बाह्य रूप में अत्यन्त भिन्नता होने पर भी कई प्राणियों का जातिविभाग इस शास्त्र ने एक ही वर्ग में किया है। अन्तरीय रचनासाम्य पर ही इसका निर्णय किया जाता है। चिमगादड़, ह्वेल और गौ अनुक्रम से नभचर, जलचर और भूमिचर होने पर भी तीनों का एक ही कक्षा में समावेश किया गया है। बाह्य आकार भिन्न होने पर भी अन्तर रचनासाम्य से तीनों को स्तनधारी कक्षा में रक्खा गया है। इस शास्त्र से विकास के प्रमाण इस प्रकार एकत्र किये जाते हैं कि अनेक जाति के कुत्तों में साधर्म्य-वैधर्म्य दोनों विद्यमान हैं। साधर्म्य से सब कुत्ते एक ही हैं और वैधर्म्य से बुलडाग, ताज़ी और लेंडी आदि अलग-अलग हैं, किन्तु हैं सब एक ही पूर्वपुरुष की सन्तति। इसी प्रकार लोमड़ी, शृगाल और भेड़िया वैषम्य से अलग-अलग हैं, परन्तु मांसभक्षण आदि साम्य से एक ही पूर्वपुरुष की सन्तति प्रतीत होते हैं। बिल्ली और सिंह भी अलग-अलग होते हुए भी एक ही हैं। इस सबका मांसाहारी और स्तनधारी कक्षा में समावेश होता है। इनमें से व्याघ्र तथा सिंह के मेल से और भेड़िये तथा कुत्ते के मेल से सन्तति भी होती है। भालू भी मांसभक्षक प्राणी है। इसकी अन्तःरचना कुत्ते बिल्ली की रचना से कुछ पृथक् है, परन्तु इसका मेल उन्हीं के साथ मिलता है। मांसभक्षकों में बिज्जू, नेवला, ऊदबिलाव अलग-अलग होते हुए भी एक ही प्रकार के हैं। ह्वेल मछली भी मांसभक्षक है। यह जन्तु पहले स्थलचारी था। इसका अब पानी ही घर हो गया है। इसके पैर कमज़ोर और नाव के चप्पू की भाँति हो गये हैं। शरीर में बल भी बहुत कम रह गया है। ये स्तनधारी-मांसभक्षी प्राणी हैं। स्तनधारीयों के तीक्ष्णदन्तियों में एक दल चूहा, छछूँदर, घूस, गिलहरी, शशक और स्याही का है। ये कुतरनेवाले होने से तीक्ष्णदन्ती कहलाते हैं। इन कुतरनेवाले जानवरों में ही उड़नी गिलहरी भी है। चिमगादड़ भी इसी जाति का है, किन्तु ये दोनों उड़नेवाले हैं। इनके पैरों की रचना भूमि पर चलनेवाले प्राणियों के अगले पैर के समान होती है, अतः विकासवाद का ये सबसे उत्तम प्रमाण हैं। स्तनधारियों में गौ, अश्व, हाथी, ऊँट, हिरन, गैंडा, शूकर और दरियाई घोड़ा (Hippopotamous) आदि हैं। इनके सुम या खुर होते हैं। इन जानवरों के खुर-सम्बन्धी साधर्म्य के कई प्रमाण मिलते हैं। हाथी की पाँचों अंगुलियाँ, टापीर नामक जानवर की चार, गैंडे की तीन, ऊँट की दो और घोड़े की एक ही होती है। यहाँ अंगुलियों के क्रम-क्रम ह्रास से, विकास का कितना अच्छा प्रमाण मिलता है। आस्ट्रेलिया का कंगारू भी विकास का अच्छा प्रमाण है। कंगारू की मादा के पेट में एक थैली होती है। माता बच्चों को पैदा करके इसी थैली में रख लेती है। इस थैली में स्तन होते हैं। बच्चे बड़े होने पर इससे बाहर

निकल आते हैं। इसी प्रकार का एक प्राणी अमेरिका में होता है, जिसका नाम 'ओपोसम' है। इसकी मादा के पेट में भी एक थैली होती है। इनके सिवा 'डकबिल' और 'ईकड्ना' नामक दो और स्तनधारी जन्तु हैं। इनमें विशेषता यह है कि ये अण्डे देते है, परन्तु अण्डों को पेट में रखने के लिए इनके पास भी उपर्युक्त थैली होती है। इस प्रकार स्तनधारियों में देखा गया कि कई जरायुज, कई कंगारू की भाँति अर्धजरायुज और कई डकबिल की भाँति अण्डज हैं। ये स्तनधारियों और अण्डजों के मध्यवर्ती प्राणी हैं। यहाँ तक स्तनधारियों का वर्णन हुआ।

अब पृष्ठवंशधारियों की दूसरी श्रेणी—पक्षियों का वर्णन करते हैं। पक्षी भी कई प्रकार के हैं। कोई दाना चुननेवाले, कोई मांस खानेवाले और कोई पानी में तैरनेवाले हैं। परिस्थिति के अनुसार इनकी चोंच, पैर और झिल्लीदार पञ्जों की बनावट होती है। आस्ट्रेलिया, अफ्रीका, न्यूज़ीलैंड और अमेरिका का रहनेवाला 'पेंग्विन' पक्षी भी विकास का अच्छा प्रमाण है। जहाँ यह रहता है वहाँ कोई दूसरा पक्षी नहीं रहता, इसलिए इसकी उड़ने की शक्ति नष्ट हो गई है। यह पानी में तैरता है, इसलिए इसके पैर नाव के चप्पुओं की भाँति पानी काटनेवाले हो गये हैं। शुतुर्मुर्ग़ और मोर की भी उड़ने की शक्ति कम हो गई है, क्योंकि इनको किसी पक्षी का डर नहीं रहा। यह परिस्थिति से प्राप्त विकास का उदाहरण है।

पीठ की हड्डीवालों में तीसरी श्रेणी सर्पणशीलों की है। इस वर्ग में गोह, साँप, अजगर, नाकू, मगरमच्छ और कछुआ आदि हैं। इनमें से गोह की अनेक जातियाँ हैं। गोह की एक जाति में आगेवाले पैर नहीं होते। दूसरी जाति में अगले चारों पैर नहीं होते। सर्प को सब जानते हैं कि वह बिना पैर का है। ये भी विकास के ही प्रमाण हैं।

पीठ की हड्डीवाले जीवों में चौथी श्रेणी मण्डूकों की है। इसका जीवन-चरित्र बड़ा ही विचित्र है। यह अपनी उत्पत्ति से लेकर युवावस्था तक के चरित्र से प्रकट कर देता है कि किस प्रकार मछलियों से उसकी उत्पत्ति हुई है। पहले वह गलफड़ों से श्वास लेता है (जैसे मछली) फिर मुख से। पहले उसके पूँछ होती है (जैसे मछली के) फिर लुप्त हो जाती है।

पाँचवी श्रेणी मछलियों की है। सभी जानते हैं कि मछलियाँ भी हज़ारों प्रकार की हैं, जिससे सहज ही विकास का अनुमान करने की पर्याप्त सम्भावना हो जाती है।

यहाँ तक पीठ की हड्डीवाले जानवरों का वर्णन हुआ। इनके आगे अस्थिरहित प्राणियों का वर्णन है। उनमें भी विकास के प्रमाण भरे हुए हैं। इन प्राणियों के शरीर जोड़दार—जोड़ों (पर्वों) से बने होते हैं। कानखजूरा, बिच्छू, मकड़ी, भौंरा और ततैया आदि प्राणी इसी विभाग के हैं। इनमें भिन्नता होते हुए भी सबके शरीर छोटे-छोटे जोड़ों—गाँठों से ही बने होते हैं। इस साम्य से यही पाया जाता है कि सब एक हीं मूल प्राणी से विकसित हुए हैं। इनके आगे अत्यन्त सूक्ष्म हैड्रा और अमीबा आदि प्राणी हैं। इनके भी पोषण, श्वासोच्छ्वास, मलविसर्जन, रक्तप्रसारण, प्रेरण, आधारस्थान, ज्ञानतन्तु और प्रसव आदि आठों संस्थान होते हैं, जिससे ऊँचे दर्जे के प्राणियों से इनका मेल मिलता है। यहाँ तक इन समस्त प्राणियों का वंशवृक्ष देकर दिखलाया गया है कि सब प्राणी वैधर्म्ययुक्त होते हुए भी साधर्म्य से ख़ाली नहीं हैं। इन सब प्राणियों को यदि क्रम से रक्खा जाए तो पहले अमीबा, फिर हैड्रा, फिर कानखजूरे आदि जाति के जोड़ोंवाले कीड़े, उसके बाद हड्डीवाली मछली, फिर मण्डूक, फिर सर्प, फिर पक्षी और अन्त में स्तनधारियों का स्थान है। इनकी आकृति में विभिन्नता का कारण विकास है। अच्छे यन्त्र के बन जाने पर जिस प्रकार पुराने ढंग के यन्त्र अलग हो जाते हैं, उसी प्रकार योग्य प्राणियों के उत्पन्न होने से अयोग्य पीछे रह जाते हैं और नई-नई जातियाँ बन जाती हैं। पिछली जातियों के अवशिष्ट

अवयव इस बात की साक्षी दे रहे हैं। मनुष्य भी स्तनधारियों की ही श्रणी का जन्तु है। इस श्रेणी की वनमनुष्य, बन्दर और लीमर आदि जातियाँ भी विद्यमान हैं, अतः इनकी उत्पत्ति को विकासवाद से अलग समझने की कोई आवश्यकता नहीं है।

इस समस्त वर्णन में हमें यह देखना है कि यहाँ विकासवाद को सिद्ध करनेवाली कौन-कौन सी बातें मिलीं। हमारी समझ से इस वर्णन में विकास को सहायता देनेवाली पाँच बातें हैं—

१. सब प्राणियों का अन्तरीय रचना से ही मिलान होता है बाह्य रचना से नहीं।

२. मत्स्य, मण्डूक, सर्पणशील, पक्षी और स्तनधारियों तथा अमीबा आदि कीटों तक के शरीरों की तुलना से यही प्रतीत होता है कि सब एक ही प्रकार की बनावटवाले हैं।

३, ओपसम, डकबिल, पेंग्विन, मोर और ह्वेल आदि के देखने से ज्ञात होता है कि परिस्थिति के कारण उनके शरीरों में ह्रास-विकास हुआ है और ह्रास-विकास ही दो भिन्न-भिन्न योनियों को एक में जोड़नेवाला है।

४. कई भिन्न-भिन्न जातियों के संयोग से सन्तति का होना भी पाया जाता है, इससे भी ज्ञात होता है कि वे एक ही वंश के हैं।

५. प्राणियों की उत्पत्ति का क्रम यह ज्ञात होता है कि यन्त्र की भाँति पहले सादी रचना के फिर क्लिष्ट रचना के प्राणी हुए, अर्थात् पहले एक कोष्ठधारी अमीबा, फिर दो कोष्ठ का हैड्रा, फिर छोटे कृमि, फिर जोड़ोंवाले कीड़े, फिर हड्डीवाले मत्स्य, फिर मण्डूक, फिर सर्पणशील, फिर पक्षी और अन्त में स्तनधारी हुए।

हमने यदि निष्कर्ष निकालने में ग़लती नहीं की है तो पिछले दोनों शास्त्रों का यही मत है। आगे हम क्रम से इन पाँचों बातों की समालोचना करते हैं।

१. शरीर की अन्तःरचना का मिलान ही ठीक है। भले हो, इसमें हमें कुछ आपत्ति नहीं है, किन्तु हम देखते हैं कि इस शरीर-तुलना-शास्त्र में तो सब श्रेणियाँ बाहरी दिखाव से ही निश्चित की गई हैं। स्तनधारियों की श्रेणी स्तनों को देखकर ही निश्चित की गई है। यह बाह्यरचना है अन्तःरचना नहीं। मांस खाना, जीभ से पानी पीना, मैथुन समय में बँध जाना, पसीना न आना, अँधेरे में देखना आदि भी सब बाहरी लक्षण ही हैं। तीक्ष्णदन्तियों की कक्षा भी तो दाँत देखकर ही बनी है जो सर्वथा ही बाहर की घटना है। सर्पणशीलता, अर्थात् तेज़ चाल भी तो बाहर का ही दिखावा है। चिड़ियों का तैरना, अर्थात् पाँव की झिल्ली और मांस खानेवालों की टेढ़ी चोंच आदि भी तो सब बाहरी ही रचना है। जोड़वाले कीड़ों का वर्गीकरण भी तो बाहर की ही रचना है। जब शुरू से अन्त तक सारा विभाग-क्रम बाह्य रचना पर ही अवलम्बित है तब क्यों व्यर्थ कहा जाता है कि अन्तरीय रचना पर ही वर्गविभाग किया गया है। ह्वेल, चिमगादड़ और गौ के स्तनों को देखकर ही तो इन सबको एक कहा गया है। चिमगादड़ के दाँत देखकर ही तो इसकी गिनती स्तनधारियों की तीक्ष्णदन्तवाली पंक्ति में हुई है, परन्तु इस विज्ञान ने जहाँ बाह्याकृति से काम नहीं लिया, वहीं पर ग़लती हुई है। ऊपर हम कहीं लिख आये हैं कि भालू और गिनीफ़ाउल की श्रेणी बनाने में भूल हुई है और उस भूल को अब रुधिरशास्त्र ठीक कर रहा है। कहने का तात्पर्य यह कि इस प्रकार की अन्तरीय रचना पर वर्गविभाग कभी नहीं हो सकता। अन्दर हड्डियाँ हैं, नस-नाड़ी हैं, यकृत-प्लीहा हैं और गर्भाशय आदि अनेक यन्त्र हैं, परन्तु क्या इन सबको अस्थिविहीन कीड़ों में कोई दिखला सकता है? कभी नहीं। कुत्ते की जिह्वा से पानी पीने की और गौ की घूँट बाँधकर पानी पीने की केवल अन्तःरचना ही देखो तो कभी न कह सकोगे कि ये दोनों स्तनधारी हैं। कहने का भाव यह कि अन्तःरचना बड़ी जटिल है, उसके द्वारा वर्गविभाग

प्रकाश पड़ चुका है। वहाँ सादेपन, क्लिष्टता और कारीगरी तथा उपयोगिता आदि सभी बातों को दिखलाकर कह दिया गया है कि भोक्ता से भोग्य प्रथम होता है। इसी क्रम के कारण भोग्य को सादा और भोक्ता को क्लिष्ट कह सकते हैं, परन्तु विकासवादी जिस प्रकार की सादगी और क्लिष्टता बताते हैं, उसमें कुछ भी सत्यता नहीं है।

(२) प्राणी जब तक एक स्थान से दूसरे स्थान में नहीं जाते तब तक वे वहाँ आप-ही-आप उत्पन्न नहीं हो सकते। यदि आप-ही-आप उत्पन्न हो सकते तो आस्ट्रेलिया में ख़रगोश पहले ही पैदा हो जाते, क्योंकि वहाँ का जल-वायु उनके अनुकूल था, परन्तु जब तक वहाँ उन्हें कोई नहीं ले-गया तब तक वे आप-ही-आप वहाँ उत्पन्न नहीं हो सके। भारत का मोर अब तक दूसरे स्थानों पर बहुत कम पहुँचा है, अतः उसकी सन्तति भी दूसरे स्थान पर नहीं हुई, परन्तु जहाँ पहुँचा है वहाँ सन्तति भी हुई है, अर्थात् जब तक कोई प्राणी कहीं न जाए तब तक आप-ही-आप उसकी उत्पत्ति वहाँ नहीं होती। अब तक कोई नई जाति आप-ही-आप पैदा नहीं हुई। यह विकासवाद के लिए बड़ी भयंकर बात है। जब प्रत्येक स्थान पर प्रकृति विद्यमान है, प्रत्येक स्थान पर प्राणियों के लिए जलवायु अनुकूल हो जाता है तब क्या कारण है कि किसी स्थान में नया अमीबा पैदा होकर धीरे-धीरे वह कोई नई जाति नहीं बना डालता? क्यों उसी पुरानी ही सृष्टि के प्राणियों में विकासवाद की स्वच्छन्द प्रकृति माथा मार रही है? परन्तु क्या प्रकृति चैतन्य बना सकती है? नहीं।

(३) भिन्न-भिन्न देशों के प्राणियों में जो समता है वह उनके एक ही वंश के होने की सूचना है, परन्तु इसमें भेद है। भिन्न-भिन्न देशों के प्राणियों की समता यदि इस प्रकार की जाए कि बिल्ली और कुत्ता दोनों स्तनधारी मांसभक्षी हैं, अतः एक देश की बिल्ली और दूसरे देश के कुत्ते को देखकर कह दिया जाए कि दोनों प्राणी एक ही पिता के सन्तान हैं तो ठीक नहीं, किन्तु यदि बुलडॉग, ताज़ी और लेंडी कुत्तों को देखकर कहा जाए कि ये एक ही पिता के पुत्र हैं तो बिलकुल सत्य है, अर्थात् ख़ाली रचना देखकर ही एक होने का अनुमान न कर लेना चाहिए प्रत्युत समानप्रसव, समानभोग और समान आयु का जब पूरा मेल मिल जाए (चाहे आकृति मिले या न मिले) तो समझ लेना चाहिए कि वे एक ही पिता की सन्तति हैं।

डारविन को टेरोडेलफ़िगो में जब खर्वाकार मनुष्य मिले तब वह उन्हें पहिचान ही न सका कि ये भी मनुष्य ही हैं, किन्तु जब उसने गौरेला और चिंपाञ्ज़ी आदि वनमनुष्यों को देखा तो चिल्ला उठा कि ये भी एक प्रकार के मनुष्य ही हैं। डारविन के इस भ्रम का कारण यही था कि उसने केवल आकृति साम्य पर ही भरोसा कर लिया था, किन्तु सृष्टिनियम ने समानप्रसव का सिद्धान्त सामने रखकर उसके इस भ्रम को हटा दिया और सिद्ध कर दिया कि खर्वाकार और दीर्घाकार मनुष्यों के संयोग से सन्तति होती है, परन्तु मनुष्यों तथा वनमनुष्यों के योग से सन्तति नहीं होती, अतः पहले दोनों एक जाति के हैं और दूसरे भिन्न जाति के। इसी प्रकार यद्यपि घोड़े और गधे में वनमनुष्यों से भी अधिक समानता है, परन्तु दोनों के योग से वंश नहीं चलता, इसलिए दोनों एक जाति के प्राणी नहीं हैं। इस प्रकार की छानबीन से देखना चाहिए कि किस जाति का कौन प्राणी कहाँ है? हमें यह तो स्वीकार है कि एक ही जगह से प्राणियों ने जा-जाकर संसारभर को आबाद किया है, किन्तु यह स्वीकार नहीं है कि सब जातियाँ एक ही प्राणी (अमीबा) का विकास है। हम तो यही मानते हैं कि सब जातियों के पूर्वज आदि में अलग-अलग ही उत्पन्न हुए।

(४) समानता का कारण न दूरता है न निकटता प्रत्युत वंश और परिस्थिति ही कारण है।

अन्यथा वे सब एक ही पूर्वजों की सन्तति हैं।

ओजर्स द्वीप अफ्रीका के वायव्य में है। वहाँ के प्राणियों की अफ्रीका के प्राणियों के साथ बहुत समता है। इसी प्रकार पेसिफ़िक महासागर में बहुत-से द्वीप हैं। इनमें घोंघों की अनेक जातियाँ हैं। भूगर्भशास्त्री बतलाते हैं कि पूर्वकाल में इन द्वीपसमूहों की भूमि एक में जुड़ी थी, अर्थात् यह द्वीपसमूह नहीं, किन्तु महाद्वीप था। इसी से सब घोंघों का मेल है और सब एक ही पिता की सन्तति हैं। तात्पर्य यह कि किन्हीं दो प्रदेशों के प्राणियों की भिन्नता और समानता उन दोनों प्रदेशों की दूरता वा निकटता पर अवलम्बित है। यदि दोनों देश दूर होंगे तो भिन्नता अधिक होगी और निकट होंगे तो समता अधिक होगी, किन्तु कभी-कभी दूरस्थ प्रादेशिक प्राणियों में अधिक समानता होती है, जैसे ब्रिटेन और जापान देश में यद्यपि बहुत अन्तर है, परन्तु इन दोनों देशों के प्राणियों में बहुत बड़ा साम्य है, किन्तु आस्ट्रेलिया और न्यूजीलैंड बहुत पास-पास हैं, फिर भी वहाँ के प्राणियों में महान् वैषम्य है। इसका कारण यह है कि इन दोनों को पृथक् करने में प्रकृति ही प्रतिबन्धक है। यदि दो समीपस्थ स्थानों को कोई पर्वत पृथक् करे तो एक स्थान के नदी-नालेवाली मछलियाँ जैसी होंगी वैसी दूसरे स्थानवाली नहीं होंगी, क्योंकि मछलियाँ पर्वतों को लाँघकर नहीं जा सकतीं, इसलिए समीप होते हुए भी कभी-कभी एकता नहीं हो सकती, किन्तु देश दूर होने पर भी यदि गमनागमन रहे तो समता अधिक हो सकती है। इस प्रकार के प्रमाणों को देखकर ही विकासवादी मुक्तकण्ठ से कहते हैं कि सब प्रकार के जीवित प्राणी एक ही जाति के आद्यवंशजों से सन्तति अनुसन्तति द्वारा उत्पन्न हुए हैं और इनके वर्त्तमान भिन्न-भिन्न रूप परिस्थिति के अनुरूप बने हुए हैं।

इस शास्त्र के यहाँ तक के वर्णन से पाँच ही बातें विकास के अनुकूल प्रतीत होती है—

१. पहले प्राणी सादी रचना के थे, फिर क्लिष्ट रचना के हुए।

२. कोई प्राणी जब तक एक स्थान से दूसरे स्थान में न जाए तब तक वह वहाँ आप-ही-आप उत्पन्न नहीं हो सकता।

३. भिन्न-भिन्न देशों के प्राणियों में जो समता है, वह उनके एक ही वंश के होने की सूचना है।

४. समानता का कारण न दूरता है न निकटता, प्रत्युत वंश और परिस्थिति ही है और

५. परिस्थिति के ही कारण मूल प्राणी की अनेक शाखाएँ होकर अनेक योनियाँ हो गई हैं।

हमारा अनुमान है कि हमने इस प्रकरण का सारांश निकाल लिया है। यद्यपि इन पाँचों बातों में से प्राय: सभी का उत्तर पिछले पृष्ठों में हो चुका है तथापि हम फिर से इनका क्रम से उत्तर देना चाहते हैं। यह प्रकरण कुछ काट-छाँट के बाद हमारे ही अनुकूल है। यदि यह बात सिद्ध हो जाए कि सब प्राणी एक ही मूलप्राणी से विकसित होकर इतनी जातियों में विभक्त नहीं हुए प्रत्युत प्रत्येक जाति के पृथक्-पृथक् पूर्वज ही एक स्थान से सारे संसार में फैले हैं तो हमारा आगे चलकर निर्णय करने का यह बोझ हलका हो जाएगा कि सारी मनुष्य-जातियाँ एक ही पूर्वजों की सन्तान हैं अथवा विकास द्वारा अनेक देशों में अलग-अलग विकसित हुई हैं। हमारी आशा एक रीति से तो पूर्ण ही है, क्योंकि विकासवाद समस्त प्राणियों को एक स्थान में ही पैदा हुए अमीबा की सन्तति मानता है। हाँ, इतनी बात अवश्य निकल जाने योग्य है कि एक ही प्राणी से परिस्थिति के अनुसार इतनी जातियाँ हो गईं। आगे हम क्रम से उत्तर देने का प्रयत्न करते हैं और देखते हैं कि हमारा अनुमान कहाँ तक ठीक है।

(१) पहले प्राणी सादी रचना के थे फिर संकीर्ण रचना के हुए। पिछले पृष्ठों में इसपर

प्रकाश पड़ चुका है। वहाँ सादेपन, क्लिष्टता और कारीगरी तथा उपयोगिता आदि सभी बातों को दिखलाकर कह दिया गया है कि भोक्ता से भोग्य प्रथम होता है। इसी क्रम के कारण भोग्य को सादा और भोक्ता को क्लिष्ट कह सकते हैं, परन्तु विकासवादी जिस प्रकार की सादगी और क्लिष्टता बताते हैं, उसमें कुछ भी सत्यता नहीं है।

(२) प्राणी जब तक एक स्थान से दूसरे स्थान में नहीं जाते तब तक वे वहाँ आप-ही-आप उत्पन्न नहीं हो सकते। यदि आप-ही-आप उत्पन्न हो सकते तो आस्ट्रेलिया में ख़रगोश पहले ही पैदा हो जाते, क्योंकि वहाँ का जल-वायु उनके अनुकूल था, परन्तु जब तक वहाँ उन्हें कोई नहीं ले-गया तब तक वे आप-ही-आप वहाँ उत्पन्न नहीं हो सके। भारत का मोर अब तक दूसरे स्थानों पर बहुत कम पहुँचा है, अतः उसकी सन्तति भी दूसरे स्थान पर नहीं हुई, परन्तु जहाँ पहुँचा है वहाँ सन्तति भी हुई है, अर्थात् जब तक कोई प्राणी कहीं न जाए तब तक आप-ही-आप उसकी उत्पत्ति वहाँ नहीं होती। अब तक कोई नई जाति आप-ही-आप पैदा नहीं हुई। यह विकासवाद के लिए बड़ी भयंकर बात है। जब प्रत्येक स्थान पर प्रकृति विद्यमान है, प्रत्येक स्थान पर प्राणियों के लिए जलवायु अनुकूल हो जाता है तब क्या कारण है कि किसी स्थान में नया अमीबा पैदा होकर धीरे-धीरे वह कोई नई जाति नहीं बना डालता? क्यों उसी पुरानी ही सृष्टि के प्राणियों में विकासवाद की स्वच्छन्द प्रकृति माथा मार रही है? परन्तु क्या प्रकृति चैतन्य बना सकती है? नहीं।

(३) भिन्न-भिन्न देशों के प्राणियों में जो समता है वह उनके एक ही वंश के होने की सूचना है, परन्तु इसमें भेद है। भिन्न-भिन्न देशों के प्राणियों की समता यदि इस प्रकार की जाए कि बिल्ली और कुत्ता दोनों स्तनधारी मांसभक्षी हैं, अतः एक देश की बिल्ली और दूसरे देश के कुत्ते को देखकर कह दिया जाए कि दोनों प्राणी एक ही पिता के सन्तान हैं तो ठीक नहीं, किन्तु यदि बुलडॉग, ताज़ी और लेंडी कुत्तों को देखकर कहा जाए कि ये एक ही पिता के पुत्र हैं तो बिलकुल सत्य है, अर्थात् ख़ाली रचना देखकर ही एक होने का अनुमान न कर लेना चाहिए प्रत्युत समानप्रसव, समानभोग और समान आयु का जब पूरा मेल मिल जाए (चाहे आकृति मिले या न मिले) तो समझ लेना चाहिए कि वे एक ही पिता की सन्तति हैं।

डारविन को टेरोडेलफ़िगो में जब खर्वाकार मनुष्य मिले तब वह उन्हें पहिचान ही न सका कि ये भी मनुष्य ही हैं, किन्तु जब उसने गौरेला और चिंपाञ्ज़ी आदि वनमनुष्यों को देखा तो चिल्ला उठा कि ये भी एक प्रकार के मनुष्य ही हैं। डारविन के इस भ्रम का कारण यही था कि उसने केवल आकृति साम्य पर ही भरोसा कर लिया था, किन्तु सृष्टिनियम ने समानप्रसव का सिद्धान्त सामने रखकर उसके इस भ्रम को हटा दिया और सिद्ध कर दिया कि खर्वाकार और दीर्घाकार मनुष्यों के संयोग से सन्तति होती है, परन्तु मनुष्यों तथा वनमनुष्यों के योग से सन्तति नहीं होती, अतः पहले दोनों एक जाति के हैं और दूसरे भिन्न जाति के। इसी प्रकार यद्यपि घोड़े और गधे में वनमनुष्यों से भी अधिक समानता है, परन्तु दोनों के योग से वंश नहीं चलता, इसलिए दोनों एक जाति के प्राणी नहीं हैं। इस प्रकार की छानबीन से देखना चाहिए कि किस जाति का कौन प्राणी कहाँ है? हमें यह तो स्वीकार है कि एक ही जगह से प्राणियों ने जा-जाकर संसारभर को आबाद किया है, किन्तु यह स्वीकार नहीं है कि सब जातियाँ एक ही प्राणी (अमीबा) का विकास है। हम तो यही मानते हैं कि सब जातियों के पूर्वज आदि में अलग-अलग ही उत्पन्न हुए।

(४) समानता का कारण न दूरता है न निकटता प्रत्युत वंश और परिस्थिति ही कारण है।

सीदी, चीना और भारतवासी परिस्थिति के कारण ही रंग-रूप में भिन्न हैं, परन्तु एक ही वंश के होने के कारण, एक दूसरे से हज़ारों कोस की दूरी पर रहते हुए भी सबमें समानप्रसव, समान भोग और समान आयु पाई जाती है। यदि कोई पूछे कि क्यों सबका समानप्रसव, समानभोग और समान आयु है तो यही उत्तर दिया जा सकता है कि सब एक ही पूर्वजों के वंशज हैं। रही परिस्थिति की बात, तो उसका भी स्पष्टीकरण इसी सिद्धान्त से हो जाता है। सीदी, चीना, रेड इण्डियन और जर्मनों में जो अन्तर है, बुलडॉग, ताज़ी और लेंडी कुत्ते में जो अन्तर है तथा वैलर, अरब और कच्छी घोड़े में जो भेद है, यही परिस्थिति या जलवायु अथवा environment का अन्तर कहलाता है। परिस्थिति से इतना ही भेद होता है—परिस्थिति साँप का ऊँट नहीं बना सकती।

(५) मूल प्राणी की ही अनेक शाखाएँ हो गईं, यह ठीक नहीं, क्योंकि यदि एक ही प्राणी का परिस्थिति के कारण यन्त्रों की भाँति अनेक योनियों में विभक्त होना मानें तो नीचे लिखी अनेक कठिनाइयाँ सामने आती हैं—

१. एक कोष्ठ के अमीबा में स्त्री-पुरुष दो भेद कैसे हो गये?

२. यदि अमीबा के बाद दो कोष्ठ का हैड्रा हुआ तो क्रम से उत्तर-उत्तर समस्त योनियाँ दूने परिमाण से क्यों नहीं बढ़तीं?

३. पक्षधारी प्राणी तो सर्पणशीलों के बाद होना चाहिए था, पूर्व नहीं, तब कृमियों में पक्ष (पर) कैसे उत्पन्न हो गये?

४. अस्थियों की उत्पत्ति कैसे हुई और अस्थिविहीनों से अस्थिवालों की उत्पत्ति कैसे हुई?

५. जब पक्षी, जलजन्तु और कीड़े तक मांस खानेवाले पाये जाते हैं, तब मांसाहारियों का समावेश स्तनधारियों में ही क्यों किया गया?

६. एक ही परिस्थिति में उत्पन्न होनेवाले जोड़ों में से स्त्रियों के डाढ़ी, मूँछ, मयूरी के लम्बी पूछँ, मुर्ग़ी के शिर पर कलग़ी और हथिनी के बड़े दाँत क्यों नहीं होते?

७. प्राणियों में दाँतों की संख्या न्यूनाधिक क्यों है? क्यों घास खानेवाले स्तनधारियों में गाय भैंस के ऊपर के दाँत नहीं होते? क्यों घोड़े के ऊपर के दाँत होते हैं और क्यों कुत्तों के दूध के दाँत नहीं गिरते?

८. घोड़े के स्तन क्यों नहीं होते, बैल के स्तन अण्डकोशों के पास क्यों होते हैं और पुरुषों में स्तन किस प्रयोजन के लिए हैं?

९. घोड़े के पैर में परों के चिह्न क्यों हैं, बच्चा पैदा होते समय घोड़ी की जीभ क्यों गिर जाती है और दूसरे जानवरों की जीभ क्यों नहीं गिरती?

१०. स्त्रीजाति अस्थियों को क्यों उत्पन्न नहीं कर सकती?

११. यदि यन्त्र के सिद्धान्त पर प्राणियों का विकास हुआ, तो कछुवे और साँप की अपेक्षा पक्षी और स्तनधारी क्यों कम जीते हैं? इसी प्रकार अधिक जीनेवालों का कम जीनेवालों से गर्भवास कम क्यों है?

ये कठिनाइयाँ हैं, जो एक ही प्राणी से विकसित होकर अन्य प्राणी के बनने में सामने आती हैं। इनके सिवा और भी बहुत-सी बातें हैं जो आगे चलकर ज्ञात होंगी और ज्ञात होगा कि एक ही प्राणी परिस्थिति से विकसित होकर अन्य जाति नहीं हो सकता। कोई प्राणी अपनी मूलजाति से इतना दूर हो ही नहीं सकता कि समानप्रसव, समानभोग और समान आयु का क्रम भी बन्द हो जाए। स्त्री और पुरुष—नर और मादा—की बनावट ने परिस्थिति के सिद्धान्त का खण्डन कर

दिया है, अतएव यह बात समूल नष्ट हो गई कि एक ही मूल प्राणी परिस्थिति के कारण अनेक योनियों—जातियों—में विभक्त हो जाता है। आयु के प्रश्न से यान्त्रिक सिद्धान्त भी गिर गया है और सिद्ध हो गया है कि प्राणियों का विकास यान्त्रिक सिद्धान्त के अनुसार भी नहीं हुआ। यहाँ तक हमने इस भौगोलिक शास्त्र की समालोचना करके देखा कि यह शास्त्र यदि व्यर्थ की बातों को छोड़ दे तो यह शुद्ध वैदिक सिद्धान्त बन सकता है कि परमात्मा ने सब प्राणियों के पूर्वजों को अलग-अलग एक ही स्थान में पैदा किया, वहीं से वे सब देशों में फैले और परिस्थिति से यद्यपि कुछ भेद हुआ, परन्तु समानप्रसव, समानभोग और समान आयु अब भी स्थिर है।

लुप्त-जन्तुशास्त्र

विकासवाद के लेखक महोदय ने इसका वर्णन पृ० १०४ से १४० तक किया है। यहाँ हम उसी का सारांश देते हैं। आप कहते हैं कि पृथिवी की तहों में लुप्त हुए पत्थरमय प्राणियों की खोज करके वर्त्तमान समय के विद्यमान प्राणियों तक एक शृङ्खला बनाने का कार्य इस शास्त्र द्वारा होता है। शृङ्खला कड़ियों की होती है, परन्तु इसकी बहुत-सी कड़ियाँ नहीं मिलतीं। पुराने समय में उन कड़ियों को पूर्ण करनेवाले प्राणी विद्यमान थे, परन्तु आज वे नहीं हैं। कड़ियाँ क्यों लुप्त हो गईं? इस प्रश्न की यहाँ कोई आवश्यकता नहीं। इस शास्त्र का यही तात्पर्य है कि उन लुप्त कड़ियों को ढूँढ-ढूँढकर इकट्ठा करना। इसमें बहुत-सा काम हुआ है और सफलता भी हुई है। विज्ञानवेत्ताओं का मत है कि विकास की सत्यता इसी शास्त्र पर अवलम्बित है। यदि इस शास्त्र ने लुप्त कड़ियाँ पूर्ण न कर दीं तो विकास पर विश्वास न रहेगा तथापि लुप्त-जन्तुशास्त्र से गर्भशास्त्र (जो आगे लिखा जाएगा) के प्रमाण अधिक बलवान् हैं, क्योंकि गर्भ में परिवर्तन स्पष्ट दिखलाई पड़ते हैं और समस्त परिवर्तन एक ही प्राणी के गर्भ में स्पष्ट हो जाते हैं। यह लुप्त-जन्तुशास्त्र एक सौ वर्ष से काम कर रहा है। इसने अब तक बहुत-सा कार्य कर डाला है। एल० म्यूज़ियम में घोड़े की, साउथ केन्सिग्हन में हाथीदाँतों की, ब्रसेल्स में इग्वेनोडस (Igwanodous) की और क्रिस्टल पेलेस, न्यूयार्क, लन्दन तथा जेना (Gena) में अन्य-अन्य प्राणियों की वंशपरम्परा प्रस्तरीभूत प्राप्त अस्थियों द्वारा बड़ी स्पष्ट रीति से एकत्र की गई है। घोड़े की समस्त कड़ियाँ ठीक हो गई हैं। आर्किओप्टेरिक्स Archaeopterix नामक एक ऐसा प्राणी मिला है, जिससे सर्पवर्ग और पक्षीवर्ग के बीच की कड़ी भी सिद्ध हो जाती है।

अस्थिविहीन और अस्थिसहित ऐसे दो प्रकार के प्राणी हैं। बिना हड्डीवाले मरकर मिट्टी में मिल जाते हैं, परन्तु हड्डीवालों की हड्डियाँ मिट्टी से बरबाद नहीं होतीं। वे हज़ारों वर्ष हो जाने पर भी मिलती हैं। इन्हीं प्राचीन प्रस्तरीभूत हड्डियों को 'फ़ौसील' कहते हैं। उचित था कि ये फ़ौसील सब कड़ियों को पूर्ण कर देते, परन्तु पृथिवी के बहुत बड़े भाग में समुद्र होने के कारण, शीत-उष्ण कटिबन्धों में सर्दी-गर्मी की अधिकता के कारण और अनेक प्राणियों के अत्यन्त निचली तहों में होने के कारण खुदाई का काम हो ही नहीं सकता। अच्छे स्थानों से भी हड्डियाँ प्रायः कुत्ते, गीध, शृगाल आदि उठा ले-जाते हैं। इस प्रकार के भौगर्भिक (Geological) और प्राणिविषयक (Biological) कारण हैं, जिनसे लुप्त-जन्तुशास्त्र के प्रमाण पूर्णतया नहीं मिल सकते। प्राकृतिक परिवर्तनों, अर्थात् नदी के कटाव से प्राणियों के शरीर बह जाते हैं, अग्निप्रपातों से जल जाते हैं, और पृथिवी के ऊपरी तहों के दबाव से निचले तह पिघल जाते हैं, अतः उनमें पड़े हुए फ़ौसील भी पिघल जाते हैं। रहे बिना हड्डीवाले, वे तो गलकर मिट्टी हो ही गये, अतः उनके मिलने की भी कोई आशा नहीं है।

पृथिवी की भिन्न-भिन्न तहों में जो अन्वेषण हुआ है उनमें प्राप्त प्राणियों के आपेक्षिक

समयों का निश्चय करना लुप्त-जन्तुशास्त्र का मुख्य कर्त्तव्य है, परन्तु पृथिवी की आयु का निश्चय करने के लिए वैज्ञानिकों के पास काल्पनिक सिद्धान्तों के सिवा कोई प्रबल साधन नहीं है। पृथिवी की आयु के विषय में भूगर्भशास्त्र के अनुसार प्राणियों की उत्पत्ति से आज तक दश करोड़ वर्ष हुए। साइंसवाले सूर्य की गर्मी आदि से जो समय निकालते हैं वह इससे कम है, किन्तु पेरी नामक प्रोफ़ेसर ने रेडियम की खोज से जो समय निकाला है वह इससे बहुत अधिक है। भूगर्भविद्या के अनुसार पृथिवी के तहों की संख्या चार है। पहली, अर्थात् सबसे निचली तह में हड्डीरहित प्राणी रहे होंगे, परन्तु अब नहीं हैं। द्वितीय चट्टान में प्राणी हैं, परन्तु मत्स्य और मण्डूक की श्रेणी के ही हैं। तृतीय चट्टान में उन्नत प्राणी भी पाये जाते हैं और चतुर्थ में तो वर्त्तमानकाल के सभी प्राणी मिलते हैं। ये प्रमाण विकासवाद के उसी प्रकार पोषक हैं जिस प्रकार पहले तीन शास्त्रों द्वारा बतलाया गया है, अर्थात् पहले बिना हड्डीवाले फिर मत्स्य-मण्डूक आदि हड्डीवाले, फिर सर्प आदि, फिर पक्षी और अन्त में स्तनधारी हुए। जिस काल में जो प्राणी थे, वही थे और बड़े-बड़े दीर्घकाय थे। उन्हीं की अनेक उपजातियाँ विद्यमान थीं और भीमकाय थीं। जब मत्स्य थीं तब सब मत्स्य-ही-मत्स्य थीं और जब सर्प थे तब सब सर्प-ही-सर्प थे। उस समय अनेक जाति की छिपकलीयाँ थीं जो अस्सी-अस्सी मन की बतलाई जाती हैं। उनकी हड्डियों से यह बात सिद्ध की जाती है। हड्डियाँ ही नहीं प्रत्युत मिस्त्रदेश की ममी की भाँति अनेक प्राणियों के शरीर ऐसे मिले हैं जिनमें मांस, चर्म, नस सभी अवयव ज्यों-के-त्यों विद्यमान हैं। मत्स्यपुराण में उड़नेवाले सर्पों की कथा ग़लत नहीं है। इन सर्पश्रेणी के पक्षियों से ही पक्षियों की उत्पत्ति हुई है। जर्मनी में प्रस्तरीभूत घोंघों के कवच जो भिन्न-भिन्न तहों में पाये जाते हैं उनसे विकास का क्रम बहुत अच्छा दिखलाई पड़ता है। घोड़े के विकास के भी प्रमाण मिले हैं। भिन्न-भिन्न तहों में मिले हुए प्राणियों के पञ्जों और सुमों के मिलान से सिद्ध होता है कि घोड़ा किन प्राणियों से विकसित होकर इस रूप में आया है। ऊपर की तहों में वर्त्तमान आकार का ही घोड़ा मिलता है, परन्तु मध्यखण्ड में वह तीन और चार अंगुलीवाला मिलता है तथा अत्यन्त निचली तहों में उसका आकार शशक के समान और पूरे पाँच अंगुली के पञ्जेवाला मिलता है। जैसे गाय-भैंस की पाँच में से चार अंगुलियाँ रह गई हैं, उसी प्रकार इस जानवर की भी अंगुलियाँ क्रम-क्रम से लुप्त होकर बीच की अंगुली टाप बन गई है। घोड़ों के आदि पूर्वज का अब तक पता नहीं लगा, परन्तु ज्ञात होता है कि वह पाँच अंगुलीवाला था। इसी प्रकार हाथी और हिरन के आद्य वंशजों से लेकर वर्त्तमान समय तक की विकास परम्परा ज्ञात होती है।

लुप्त कड़ियों को अंग्रेज़ी में Missing Links कहते हैं। इसका प्रसिद्ध उदाहरण 'ओप्टेरिक्स' प्राणी है। यह पंखयुक्त उड़नेवाला सर्प है। इसका शिर छोटा, जबड़ा बड़ा और दाँत आदि तो सर्प के-से हैं, परन्तु पंख तथा पंख की पाँचों अंगुलियाँ, अर्थात् पञ्जे आदि पक्षियों के से हैं। इसी प्रकार का दूसरा प्राणी 'टेरोडेक्टिल' Teroductyl है। इसके हाथों की एक-एक अंगुली बहुत बढ़ी हुई है, जिससे पंख को सहारा मिलता है। इसमें सर्प, पक्षी और स्तनधारियों की थोड़ी-थोड़ी-सी बातें मिली हुई हैं। इसी प्रकार का हेस्पेरोर्निस तथा प्रथम कहे हुए कंगारु और ओपोसम आदि हैं जो इस शास्त्र की खोज के सहायक हैं।

इस शास्त्र का जो सारांश अब तक वर्णित हुआ है, उसमें विकासवाद को पुष्ट करनेवाली मुख्य सात बातें प्राप्त होती हैं—

१. इसी शास्त्र पर विकासवाद अवलम्बित है, परन्तु अनेक कारणों से सारी पृथिवी में दबे हुए प्राणियों की प्राप्ति नहीं हो सकती।

२. घोड़े की सब कड़ियाँ मिल गई हैं।

३. पशु ममी भी मिली हैं।

४. तहों के हिसाब से एक जाति से दूसरे जाति के प्राणियों के बनने के समय को बतलाना इस शास्त्र का काम है, परन्तु पृथिवी की आयु ही अभी सन्दिग्ध दशा में है।

५. तहों के हिसाब से भी पहले बिना हड्डीवाले, फिर हड्डीवाले पाये जाते हैं।

६. जिस समय जो प्राणी थे, वही-वही थे और भीमकाय थे।

७. उड़नेवाली सन्धियोनियाँ और मत्स्यपुराण के सर्प भी थे।

यदि दृष्टिदोष नहीं हुआ तो हम कह सकते हैं कि इस शास्त्र के वर्णन में यही बातें उपलब्ध होती हैं जो विकास की साधक-बाधक हैं। अब हम क्रम से इनकी आलोचना करते हैं।

१. इसी शास्त्र पर विकास अवलम्बित है, परन्तु सारी पृथिवी की जाँच नहीं हो सकती। हम भी मानते हैं कि पृथिवीभर की जाँच नहीं हो सकती और प्राप्त पृथिवी की पूरी खुदाई भी नहीं हो सकती। खुदाई होने पर भी उस स्थान पर प्राणियों की अविद्यमानता हो सकती है अथवा पिघल जाना आदि भी हो सकता है। सारांश यह कि सब प्राणियों की अस्थियाँ नहीं मिल सकतीं, तब इसी शास्त्र पर सब-कुछ अवलम्बित है, इसको इतना महत्त्व देने की क्या आवश्यकता है ? अस्थियों के मेल का सिद्धान्त ही ग़लत है। कल्पना करो कि एक प्रकार के प्राणी जैसेकि घोड़ा, गधा और ज़ेबरा आदि एक ही स्थान में मिलें तो विकासवाद यही कहेगा कि ये तीनों पञ्जर एक ही हैं, क्योंकि तीनों पञ्जरों में कुछ भेद नहीं है, परन्तु वास्तव में ये तीनों एक नहीं हैं। वे भिन्न-भिन्न जाति के हैं, क्योंकि घोड़े-गधे के योग से वंश नहीं चलता, अतएव केवल अस्थियों का मेल मिलाकर कड़ियों की शृङ्खला दिखलाना बहुत बड़ी ग़लती का काम है।

२. घोड़े की सब कड़ियाँ मिल गई हैं, यह बात भी ग़लत है। इसी प्रकार यह भी ग़लत है कि हिरन और हाथी आदि की भी कड़ियाँ मिल गई हैं। विकासवादियों को घोड़े की कड़ियों पर बहुत बड़ा विश्वास है, अतः हम यहाँ आधुनिक जाँच से दिखलाना चाहते हैं कि यह कितना मिथ्या सिद्धान्त है। विकासवादियों ने यूरोप और अमेरिका की खुदाई से मिले हुए भिन्न-भिन्न समयों के प्राणियों की एक विचित्र जाति के पञ्जरों से यह दिखलाने का प्रयत्न किया है कि ये सब अश्वजाति के पूर्वज हैं और अश्व के विकास की कड़ियाँ हैं। हक्सले महोदय ने एक बार अपने लेक्चर में इन जन्तुओं की चर्चा की थी तब से यह एक सिद्धान्त बन गया है[१], परन्तु वर्त्तमान जाँच से इसका खण्डन हो जाता है। सर जे० डबलू डासन ने अपने 'मार्डन आइडिया आफ़ इवोल्युशन' में अच्छी प्रकार सिद्ध कर दिया है कि अमेरिका और यूरोप के इन जन्तुओं में जिनको घोड़ों का पूर्वज कहा जाता है, परस्पर कुछ भी सम्बन्ध नहीं है[२]। घोड़ा बड़ा ही विचित्र

---

१. Firstly, there is the true horse. Next we have the American Pliocence form—Pliohippus. In the conformation of its limbs it presents some very slight deviation from the ordinary horse. Then comes Protohippus, which represents the European Hipparion, having one large digit and two small ones on each foot. —*The old Riddlle and the Newset Answer,* p. 94.

२. In America a series of horse-like animals has been selected, beginning with the Eohippus of the Eocene—an animal the size of a fox, and with four toes in front and three behind—and these have been marshalled as the ancestors of the fossil horses of America......... Yet all this is purely arbitrary, and dependent merely on a succession of genrea more and more closely resembling the modern horse, being procurable from successive Tertiary deposits often widely separated in time and place. In Europe, on the other hand the ancestry of the horse has been traced back to Palaeotherium—an entirly different form—by just as likely indications, the truth being that as the group to which the horse belongs culminated in the early Tertiary times, the animal has too many imaginary ancestors.

जानवर है। पाँच बातें उसको तृणाहारी पशुओं से पृथक् करती हैं—

१. उसके नीचे-ऊपर दोनों ओर दाँत होते हैं।

२. घोड़ी प्रसव के समय अपनी पहली जिह्वा गिरा देती है।

३. घोड़े के अगले पैरों की गाँठों पर चिह्न होते हैं, जिनको परों का निशान कहा जाता है।

४. नर घोड़ों के स्तन नहीं होते और

५. खुर के स्थान पर टाप होती है।

कहा जाता है कि घोड़ों के पूर्वजों के पैरों में भी पाँच-पाँच अंगुलियाँ थीं, पाँचों में से चार लुप्त हो गईं और पाँचवीं मध्यमा टाप बन गई, परन्तु जब गाय-भैंस की अंगुलियों का प्रश्न आता है तब कहा जाता है कि उनकी पाँचों में से चार विद्यमान हैं, एक बीच की लुप्त हो गई। जो विद्यमान हैं उनमें से दो तो फटे हुए दो खुर बतलाए जाते हैं और दो ऊपर उठी हुई मदनखुरी बतलाई जाती है, अर्थात् गाय-भैंस के खुरों में प्रत्यक्ष बीच की अंगुली का स्थान ख़ाली है, परन्तु जब घोड़े का प्रश्न आता है तब कहा जाता है कि सब अंगुलियाँ लुप्त हो गईं, केवल बीच की मध्यमा ही शेष रह गई है। कैसा उलटा-पलटा बिना नियम का विचित्र विकास है? किसी में सब लुप्त होकर बीच की रहती है और किसी में सब रहती हैं, परन्तु बीच की लुप्त होती है।

ऊपर जैसे कहा गया था कि गधे, ख़च्चर, घोड़े और ज़ेबरे के पंजर में धोखा हो सकता है—वनबिलाव और चीते के पञ्जर में धोखा हो सकता है, इसी प्रकार प्रायः सभी पञ्चर मिलानवाली जातियों को एक ही जाति स्थिर करने में धोखा हो सकता है। मि० डे क्वाटरफ़ेगस अपने 'लेस अम्यूलस डे डारविन' ग्रन्थ में लिखते हैं कि 'घोड़ों की कड़ियाँ न तो इस प्रकार के ज़िन्दा जानवरों से पूरी होती हैं और न प्रस्तरीभूत अस्थिपञ्जरों से ही। ऐसे प्राणियों का अस्तित्व तो केवल कल्पनामात्र है'[१]। इसी प्रकार म्यूज़ियम की बात का खण्डन करते हुए नवम्बर सन् १९२२ के न्यू एज (New Age) नामक पत्र में जोन्स बोसन (Jones Bowson) कहते हैं कि 'ब्रिटिश म्यूज़ियम (अजायबघर) का अध्यक्ष डॉक्टर ऐथ्रिज (Ethridge) कहता है कि इस ब्रिटिश म्यूज़ियम में एक कण भी ऐसा नहीं है जो यह सिद्ध कर सके कि जातियों (species) में परिवर्तन हुआ है। विकासविषयक दश में नौ बातें व्यर्थ और निस्सार हैं। इनके परीक्षणों का आधार सत्यता और निरीक्षण पर बिलकुल अवलम्बित नहीं है। संसारभर में कोई भी सामान ऐसा नहीं है जो विकास की सहायता करता हो'। इस प्रकार की खोजों से, पुराने ज़माने का यह अनुमान अब रद्द हो गया है कि लुप्त-जन्तुशास्त्र की खोज से प्राणियों की कड़ियाँ मिल जाएँगी।

३. पशुओं की ममी भी मिली हैं। इनके विषय में कहा जाता है कि हज़ारों वर्ष पूर्व बर्फ़ के पड़ने से बहुत-से प्राणी ज्यों-के-त्यों दब गये थे और आज भी कभी-कभी मृत, किन्तु ताज़े

Both geneologies can scarcely be true, and there is no actual proof of either. The existing American horses, which are of European origin, are, according to the theory, descendants of Palaeotherium, not of Eohippus; but if we had not known this on historical evidence, there would have been nothing to prevent us from tracing them to the latter animal. This simple consideration alone is sufficient to show that such geneologies are not of the nature of scientific evidence.

—*Modern Ideas of Evolution,* p. 119.

१. The first thing to remark is that not one of the creatures exhibited in this pedigree has ever been seen, either living or fossil. Their existence is based entirely upon theory........ All the ancesteral groups more or less ill-represented in the actual organic world, do not suffice to fill up the gaps in his pedigree; from one stage to another there is sometimes too broad a gulf.

—*Les Emules de Darwin,* II. p. 76.

शरीर की दशा में मिल जाते हैं, मिल जाएँ। यह विषय हमारे इस प्रकरण में बाधक नहीं है। एक प्रकार से साधक तो है, क्योंकि उस ज़माने का कोई ऐसा प्राणी नहीं मिलता कि कड़ी बिठलाई जा सके।

४. पृथिवी की तहों के हिसाब से प्राणियों के युगों की कल्पना की जाती है, परन्तु विज्ञान की यह अधूरी शाखा भी विकासवाद को कभी हरा-भरा न होने देगी। अब तक पृथिवी की तहों की आयु का ठीक-ठीक हिसाब नहीं बैठा। पिछले पृष्ठों में हम दिखला आये हैं कि पृथिवी की आयु निकालने में कितना मतभेद है। यदि भूगर्भवादी थोड़ा समय बतलाते हैं तो रेडियमवाले उसे बहुत अधिक कहते हैं और तीसरे बीच ही में ग़ोते खाते हैं। हमारा विश्वास है कि यह हिसाब कभी भी सही नहीं होगा। यह जब कभी इन विधियों से निश्चित किया जाएगा तब अनुमान पर ही कल्पित होगा, परन्तु स्मरण रखना चाहिए कि सही आयु हमेशा जन्मपत्र—इतिहास—से ही जानी जाती है, कल्पना से नहीं, दाँत, बाल देखकर नहीं। तहों में दबे हुए प्राणियों का अन्तर जानने के लिए उचित था कि तहों की आयु सही होती, परन्तु जब पृथिवी की ही आयु निश्चित नहीं है तब एक तह के बाद दूसरे तहवाले प्राणी कितने दिन में हुए, यह जानने का अब और कौन-सा साधन हो सकता है? विज्ञानवेत्ता यह नहीं कह सकते कि मनुष्य का प्रादुर्भाव कितने वर्ष पूर्व हुआ और उसके पूर्व नरवानरों (वनमनुष्यों) को हुए कितने दिन हुए, अर्थात् विकासवादियों के पास समस्त कड़ियों की वर्षसंख्या मिलाकर पृथिवी की आयु के साथ मेल बैठाने का कोई साधन नहीं है, क्योंकि पृथिवी की अमुक बनावट किन साधनों से होती है और वे साधन किन कारणों से उत्पन्न होते हैं, ये बातें अब तक वर्त्तमान वैज्ञानिकों को नहीं सूझीं। यदि विज्ञान को जगत् की रचना के कारणों का ज्ञान होता तो पृथिवी की आयु तुरन्त ही निकल आती, परन्तु ये सब बातें मनुष्य के मस्तिष्क से सही-सही निकल ही नहीं सकतीं, अतः कल्पना द्वारा निकाला हुआ समय विश्वास योग्य नहीं है।

अगस्त सन् १९२३ के थियोसोफ़िकल पाथ में हैनसन् ने लिखा है कि 'नेवादा (Neveda) में जॉन टी रीड को एक आदमी का पदचिह्न और एक अच्छी प्रकार बना हुआ जूते का तला मिला है, जिसे वह अपने चट्टानविषयक भूगर्भविद्यासम्बन्धी ज्ञान से ५० लाख वर्ष का पुराना बतलाता है। इसमें ऐसी सिलाई, धागों के मरोड़, सीने के छेद और धागों के माप मिले हैं जो आजकल के अच्छे-से-अच्छे बने हुए जूतों से पक्के और सूक्ष्म हैं'। इस वर्णन से प्रकट होता है कि ५० लाख वर्ष पूर्व तो मनुष्य जूते पहनता था और लोहे की सुई बनाने, सूत बनाने और जूते को नापकर सिलाई करने का ज्ञान प्राप्त कर चुका था। विकासवाद के अनुसार तो यह ज्ञान उसको धीरे-धीरे बहुत दिन में आ पाया होगा, इसलिए उसकी उत्पत्ति का समय इस जूता के काल से बहुत दिन पूर्व ही मानना चाहिए। इस विचार के अनुसार हम यदि मनुष्य की उत्पत्ति को एक करोड़ वर्ष पूर्व माने और हैकल की History of Creation के पृष्ठ २९५ पर लिखी हुई प्राणियों की २१ कड़ियों के बाद मनुष्य की उत्पत्ति[१] मानें और प्रत्येक कड़ी को एक करोड़ वर्ष

१. *Monera.* 2. Single-celled Primeval animals. 3. Many-celled Primeval animals. 4. Ciliated planulae (*Planaeada*). 5. Primeval Intestinal animals (*Castraeada*). 6. Gliding Worms (*Turbelaria*). 7. Soft Worms (*Scolecida*). 8. Sack Worms (*Hamatega*). 9. *Acrania.* 10. *Monorrhina.* 11. Primeval fish (*Selachii*). 12. Salamander fish (*Pipneusta*). 13. Gilled Amphibia (*Sozobranchia*). 14. Tailed Amphibia (*Sozura*). 15. Primeval Amniota (*Protamnia*). 16. Primary mammals (*Promammalia*). 17. Marsupiala. 18. Semi-apes (*Prosimiae*). 19. Tailed narrow-nosed Apes. 20. Tail-less narrow-nosed Apes *(Men-like Apes)*. 21. Pithecanthropus *(Speechless or Ape-like Man)*. 22. Talking Man.

का समय दें तो प्रथम प्राणी की उत्पत्ति से मनुष्य की उत्पत्ति तक बाईस करोड़ और आज तक तेईस करोड़ वर्ष होते हैं। लोकमान्य तिलक के गीतारहस्य में डॉक्टर गेडॉ (Gadaw) की साक्षी से लिखा है कि 'मछली से मनुष्य होने में ५३ लाख ७५ हज़ार पीढ़ियाँ बीतीं'। इतनी ही पीढ़ियाँ अमीबा से मछली होने में भी बीती होंगी, अर्थात् अमीबा से आज तक लगभग एक करोड़ पीढ़ियाँ बीत चुकीं। कोई पीढ़ी एक दिन और कोई सौ वर्ष जीती है। यदि सबका औसत २५ वर्ष मान लें तो इस हिसाब से भी प्राणियों के प्रादुर्भाव के समय को आज तक २५ करोड़ वर्ष होते हैं। यह तो निश्चित ही है कि पृथिवी के हो चुकने के करोड़ों वर्ष बाद प्राणी हुए और प्राणियों की उत्पत्ति से आज तक २३ करोड़ वर्ष होते हैं, ऐसी अवस्था में यह संख्या विज्ञान और विकासवादियों की लगाई हुई संख्या से बहुत आगे निकल जाती है। विकासवाद के कर्त्ता विकासवाद में पृथिवी की उन तहों की आयु जिनमें प्राणी हैं केवल १० करोड़ वर्ष की लिखते हैं। ऐसी दशा में यह विकास समय की दृष्टि से कितना लचर है, यह स्पष्ट है।

५. पहले बिना हड्डीवाले फिर हड्डीवाले प्राणी हुए, अर्थात् पहले सादी फिर क्लिष्ट रचना के प्राणी हुए। सच पूछा जाए तो विकासवाद में इतनी ही तो सत्यता है, जिसको बार-बार लिखा जाता है। कौन कहता है कि पहले सादी रचना के प्राणी नहीं हुए। हम तो कहते हैं कि पहले सादी रचना के प्राणी हुए, परन्तु सादी से हमारा अभिप्राय अमीबा नहीं, किन्तु वनस्पति है। अमीबा सादी रचना का प्राणी नहीं है। वह तो बड़ी ही क्लिष्ट रचनायुक्त है। अपने शरीर में प्रत्येक स्थान से छिद्र कर लेना क्या कोई सहज बात है? अमीबा सादी रचना का नहीं है। सादी रचना की तो वनस्पति है, अतः वह पहले हुई। उसके बाद पशु हुए और फिर मनुष्य हुए। पशुओं में भी मांसाहारियों से पहले घास खानेवाले हुए। मांसाहारी जलचर, नभचर और स्थलचर तथा कीटों में भी पाये जाते हैं, अतः चारों प्रकार के पशुओं में मांसाहारी पहले नहीं हुए। इस प्रकार से सादी और क्लिष्ट रचना का यदि अभिप्राय हो तो हमें स्वीकृत है, क्योंकि हम तो भोग्य को सादी और भोक्ता को क्लिष्ट कहते हैं।

नीचली तहों में हड्डियाँ नहीं मिलतीं, इससे कहा जाता है कि पहले हड्डीवाले नहीं हुए। हम कहते हैं कि इस सिद्धान्त में बहुत दम नहीं है। पृथिवी के दबाब से निचली तहें पिघल जाती हैं और उनके साथ ही हड्डियाँ भी पिघल जाती हैं। यह बात विकासवाद पृष्ठ १२३ पर ही लिखी हुई है, अतः निचली तहों में हड्डियाँ नहीं मिलतीं, इसलिए पहले हड्डियाँ नहीं थीं यह स्थापना ही ग़लत है। यदि हम मान भी लें कि पहले बिना हड्डीवाले ही हुए तो इससे यह तो सिद्ध नहीं होता कि बिना हड्डीवाले ही हड्डीवाले हो गये। ऊपर हम अनेक प्रमाणों से लिख आये हैं कि हड्डी आप-ही-आप पैदा नहीं हो सकती, अतः बिना हड्डीवाले से हड्डीवाले उत्पन्न ही नहीं हो सकते। ऐसी दशा में इससे भी विकासवाद को कुछ लाभ नहीं हो सकता।

६. जिस समय जो प्राणी थे अपनी उपजातियों के साथ वही थे और भीमकाय थे। यदि यह बात सत्य हो तो उनसे पहले पैदा हुए प्राणियों को होना ही नहीं चाहिए, किन्तु सबसे प्रथम उत्पन्न हुए एक कोष्ठ के प्राणी भी अब तक विद्यमान हैं और अन्तिम प्राणी मनुष्य से भी अधिक हैं इससे भी ऊपर की बात सत्य ज्ञात नहीं होती। पृथिवी के खोदने से भी यह बात नहीं पाई जाती। जिस तह में जो हड्डियाँ पाई जाती हैं वह तह इस सिद्धान्तानुसार उस प्रकार के जन्तुओं से पटा रहना चाहिए था, परन्तु ऐसा नहीं है। बड़ी मुश्किल से खोदने पर भी बहुत थोड़े जन्तु एक प्रकार के मिलते हैं। रहा दीर्घकाय प्राणियों का होना। इसे हम भी सत्य मानते हैं। हमारा भी विचार है कि प्रारम्भिक प्राणियों में कुछ योनियाँ बहुत बड़े शरीरवाली थीं, किन्तु यह सिद्धान्त

तो विकासवाद के विरुद्ध है। विकास तो बहुत छोटे-छोटे प्राणियों से आरम्भ मानता है। छोटे प्राणी एकदम ऐसे दीर्घकाय हो गये कि छिपकली अस्सी मन की हो गई! वृक्ष ऐसे बढ़े कि खदानों से कोयला देनेवाले पहाड़ बन गये, परन्तु उसी नियम से आरम्भिक मनुष्य की लाशें ऐसी न मिलीं जो कम-से-कम ताड़ के वृक्ष के बराबर तो होतीं! क्यों छिपकली बढ़ी और आदि प्राणी अमीबा न बढ़ा तथा अन्तिम प्राणी मनुष्य भी न बढ़ा? क्यों भैंस के बराबर चींटियाँ देखने को नहीं मिलतीं? आज तो जीवित प्राणियों में कोई भी प्राणी वैसा भीमकाय नहीं है। हमारा तो विश्वास है कि जो योनियाँ भीमकाय थीं और जिनके वंश का अब पता नहीं मिलता वे सपरिवार नष्ट हो गईं, किन्तु विकासवाद कहता है कि ये भीमकाय प्राणी भी अमीबा का ही विकास थे और परिस्थिति प्रतिकूल होने से नष्ट हो गये। हम स्मरण दिलाते हैं कि यदि यह बात सत्य है तो विकासवाद का यान्त्रिक सिद्धान्त यहाँ फिर असत्य ठहर रहा है। यहाँ विकास स्पष्ट मान रहा है कि दीर्घकाय प्राणी नष्ट हो गये, परन्तु अल्पकाय जी रहे हैं। जिस प्रकार दीर्घजीवी कछुवे ने अल्पजीवी कबूतर को उत्पन्न किया उसी प्रकार भीमकाय छिपकली ने अल्पकाय छिपकली उत्पन्न की। कछुवा तो भला कहीं-कहीं पाया भी जाता है, परन्तु अस्सी मन की छिपकली का तो कहीं नाम-निशान भी नहीं है। ऐसी दशा में यह यन्त्रों का सुधार कहा जाएगा या बिगाड़। दीर्घ शरीरवाले प्राणी न किसी का विकास थे और न वर्त्तमान प्राणी किसी का ह्रास हैं। जिस कर्मफल के कारण जितना बड़ा शरीर जितने दिन के लिए उन्होंने पाया था वह भोगकर वे चले गये। अब जिन शरीरों के योग्य संसार है, वे शेष बचे हुए हैं और कर्मफल भोग रहे हैं। इसमें न कहीं विकास की बात है, न ह्रास की।

७. सन्धियोनियों और मत्स्यपुराण के सर्पों का सहारा बेकार है। विकासवादी सन्धियोनियों की सिद्धि पर ही विकास की सिद्धि माने बैठे हैं, किन्तु हम अनेक बार कह चुके हैं कि उस प्रकार के प्राणियों को सन्धियोनियाँ मानने का किसी को क्या अधिकार है? विचित्र गढ़न को मध्यस्थ कड़ी (Missing Link) क्यों कहा जाता है और क्यों चिमगादड़ को पशु और पक्षी के बीच का माना जाता है? पक्षी एकदम चिमगादड़ होकर स्तनधारी हो गये या धीरे-धीरे? यदि धीरे-धीरे मानो तो इस प्रकार की आगे-पीछे की हज़ारों कड़ियाँ दिखलानी पड़ेंगी। यह मानने से काम न चलेगा कि हज़ारों कड़ियाँ आगे-पीछे दोनों ओर की नष्ट हो गईं। भला, पहली कड़ियाँ तो पिछली कड़ियों से निर्बल थीं—अयोग्य थीं—इसलिए नष्ट हो गईं, परन्तु पिछली क्यों नष्ट हो गईं, वे तो विकसित होकर सुदृढ़ बनी थीं। वर्त्तमान चिमगादड़ से उत्तर की कड़ियाँ सबल थीं वे तो नष्ट हो गईं, केवल वर्त्तमान चिमगादड़ ही अगली-पिछली पीढ़ियों को पीछे हटाकर स्वयं बच गया, इसे कौन मानेगा?

पुराणों में भी उड़नेवाले सर्प लिखे हैं और उड़नेवाले सर्पों की हड्डियाँ भी मिल गई हैं, इसलिए विकास और पुराण दोनों की जम गई '**परस्परं प्रशंसन्ति अहोरूपमहो ध्वनिः**', परन्तु पुराणों में तो घोड़ों के उड़ने की भी बात लिखी है और पहाड़ों के उड़ने का भी वर्णन है। आल्हखण्ड में लिखा है कि महोबे के ऊदनसिंह का घोड़ा बेंदुला भी उड़ता था तो क्या यह सब सत्य है? जिस प्रकार ये सब बातें मिथ्या हैं, वैसे ही साँप के उड़ने की बातें भी हैं। कोई-कोई तो अब भी कहते हैं कि जब साँप के पर निकल आते हैं तब वह मलयागिरि में जाकर चन्दन में लिपट जाता है और उड़ने के समय जो कोई उसकी छाया में पड़ जाता है उसे पक्षाघात हो जाता है, परन्तु क्या यह बात सत्य है? नहीं। सत्य बात तो यह है कि वेदों में अश्व और सुपर्ण किरणों को कहते हैं। सुपर्ण पक्षी को भी कहते हैं। वह उड़ता भी है। इस अश्व और सुपर्ण की ऐक्यता

के कारण पुराणों ने जब सुपर्ण को उड़नेवाला लिखा तो अश्वों को भी उड़नेवाला लिख दिया। इसी प्रकार वेदों में बादलों और पहाड़ों का एक ही नाम होने से और बादलों के उड़ने से पुराणों में पहाड़ भी उड़नेवाले लिख दिये गये हैं। अहि भी बादल का नाम है, बादल उड़ता ही है, इसलिए अहि=साँप को भी उड़नेवाला लिख दिया है, परन्तु विकासवाद तो उड़नेवाले सर्पों, पक्षियों और बहुत-से स्तनधारियों के बाद मनुष्य की उत्पत्ति मानता है, ऐसी दशा में आप-ही-आप प्रश्न होता है कि जब मनुष्य उड़नेवाले सर्पों के लाखों वर्ष बाद हुआ तो सर्पों को उड़ते हुए देखा किसने, जिसके आधार पर पुराण लिखे गये?

सत्य बात तो यह है कि मध्यस्थ कड़ियों की कल्पना ही मिथ्या है। सन्धियोनियाँ विकास की मध्यम कड़ियाँ नहीं हैं। वे स्वयं एक स्वतन्त्र जाति के प्राणी हैं जो कर्मफल भोग रहे हैं। यहाँ तक हमने इस लुप्त-जन्तुशास्त्र के एक-एक आरोप की आलोचना करके देखा कि विकासवाद को सिद्ध करनेवाली कोई बात प्राप्त नहीं होती। पिछले शास्त्रों के अनुसार यह शास्त्र भी केवल सादी रचना, क्लिष्ट रचना और मध्यम कड़ियों की ओर संकेत करके ही विकासवाद मान लेने के लिए दबाव डालता है, किन्तु ये दोनों बातें निर्जीव, असत्य और केवल कल्पना के आधार पर अस्तित्व रखनेवाली हैं, अत: प्रमाणकोटि में उनका समावेश नहीं हो सकता। इस शास्त्र द्वारा भी विकासवाद के लेखक कुछ सिद्ध नहीं कर सके। विकासवाद पृष्ठ १०८ पर वे स्वयं स्वीकार करते हैं कि 'जब हम लुप्त-जन्तुशास्त्र के इतिहास-प्रदर्शक पत्रों की ओर दृष्टि फेरते हैं तो प्रतीत होता है कि इस शास्त्र की अवस्था और भी अधिक शोचनीय है। लुप्त जन्तुशास्त्र द्वारा प्राप्त होनेवाले विकास-सम्बन्धी इतिहास के न केवल पृष्ठों-के-पृष्ठ, परन्तु अध्यायों-के-अध्याय लुप्त हैं, यही कारण है कि इस लुप्त-जन्तुशास्त्र के अन्वेषण अधिक भ्रम में डालनेवाले हैं। गर्भवृद्धिशास्त्र तथा लुप्त-जन्तुशास्त्र द्वारा विकास का जो संक्षिप्त इतिहास दिखता है उसमें अधिक सयौक्तिक तथा मान्य कौन-सा है, इसपर यदि विवाद हो तो हमें कहना पड़ेगा कि गर्भवृद्धिशास्त्र द्वारा मिलनेवाला इतिहास अधिक बलवान् है'। यहाँ ग्रन्थकार को स्वयं इस लुप्त जन्तुशास्त्र के प्रमाणों में अधिक सयौक्तिकता तथा मान्यता नहीं दिखती, अत: अब इस विषय में हमें भी कुछ नहीं कहना है। आगे गर्भशास्त्र को भी देखते हैं, जिसपर ग्रन्थकार को अधिक भरोसा है।

गर्भ-शास्त्र

विकासवाद में इस विषय का वर्णन पृष्ठ ८१ से ९९ तक है। उसी का सार हम यहाँ लिखकर आलोचना करेंगे। ग्रन्थकार क़हते हैं कि गर्भधारण से जन्म तक और जन्म से अवस्था की पूर्णता तक प्राणियों की शरीर-रचना के जितने परिवर्तन हैं, उन समस्त परिवर्तनों का इस शास्त्र द्वारा बोध होता है। प्राणी जिस प्रकार अमीबा, हाइड्रा, जोड़वाला, मछली, मण्डूक, सर्पणशील, पक्षी और स्तनधारी हुआ है उसी प्रकार गर्भ में भी ये समस्त परिवर्तन दिखलाई पड़ते हैं। वही समस्त निरीक्षण इस शास्त्र द्वारा दिखलाये जाते हैं। सबसे प्रथम मण्डूकों के इतिहास के विकास के प्रमाण उपस्थित करते हैं। पानी में पड़े हुए पत्तों या लकड़ी पर चिपटे हुए जो लसदार, काले, चिकने पिण्ड दिखलाई पड़ते हैं, वही मण्डूकों के अण्डे हैं। तीन चार दिन में ये पिण्ड पूँछदार और चपटे शिरवाले हो जाते हैं। फिर इनके गले के पास मछलियों की भाँति श्वास लेने के लिए गलफड़ बन जाते हैं। इतनी क्रिया अण्डे में ही हो जाती है। इसके पश्चात् अण्डों को फोड़कर बच्चे पानी में तैरने लगते हैं। ये उस समय गलफड़ों से ही श्वास लेते हैं और पूँछ भी होती है। एक प्रकार से ये मछली जैसे ही होते हैं। शीतऋतु के आते ही ये बन्द जगहों

में छिप जाते हैं और वर्षा के आरम्भ होते ही फिर बढ़ने लगते हैं। धीरे-धीरे पूँछ लुप्त हो जाती है, पैर फूट निकलते हैं, फेफड़े बनने लगते हैं और गलफड़ों से श्वास लेना बन्द हो जाता है। अब वे पूरे मेंढक बन जाते हैं। यह इतिहास बतलाता है कि प्रत्येक प्राणी को अपनी उन्नति का—विकास का पूरा चक्र घूमना पड़ता है, अर्थात् जिस-जिस जाति में घूमता हुआ वह प्राणी जिस अन्तिम जाति में पहुँचा है उस पहुँचनेवाले की सन्तति को भी गर्भ से लेकर वृद्धि तक के समय में ही वह सारा चक्र घूमना पड़ता है।

मुर्ग़ी का इतिहास भी यही बतलाता है। मुर्ग़ी का अण्डा भी एक कोष्ठ से ही आरम्भ होता है। इसके अण्डे के भीतर ही मछलियों के-से गलफड़ होते हैं। गलफड़ की ये दर्जें अण्डे से बाहर आने पर भी गले के पास बनी रहती हैं। इससे भी यही अनुमान निकलता है कि पक्षी भी मछली और मण्डूकों में होता हुआ ही पक्षी हुआ है। यद्यपि गर्भ के परिवर्तन बहुत संक्षिप्त होते हैं तो भी वे पूर्व पीढ़ियों का सब इतिहास दिखला देते हैं। शूकर, गौ, शशक और मनुष्य आदि स्तनधारियों के गर्भ सब एक ही प्रणाली से विकसित होते हैं। मानवगर्भ भी पहले मछली, फिर मण्डूक, फिर सर्प, फिर पक्षी के आकार का होकर तब स्तनधारियों की अवस्था में आता है। इससे यही ज्ञात होता है कि मनुष्य का इन योनियों से सम्बन्ध है। चाहे लाखों वर्ष लग गये हों, परन्तु मनुष्य की उन्नति अमीबा से ही हुई है। यह प्रत्यक्ष प्रमाण है। इससे अधिक प्रकृति हमें और क्या प्रमाण दे सकती है। कीड़ों के प्रथम पिण्ड सब एक ही समान होते हैं। उस दशा में यह नहीं पहचाना जाता कि यह आकार तितली, भौंरा, ततैया अथवा कानखजूरे में से किसका है। तितली और रेशम के कीड़े जो अपनी वृद्धि में अनेक रूप दिखलाते हैं। वे भी प्राथमिक दशा में एक ही समान रहते हैं। इससे यही अनुमान होता है कि ये सब एक ही पूर्वज की सन्तति हैं और अपनी पीढ़ियों का पूरा चक्कर लगा रहे हैं। गर्भ के बढ़ने का क्रम यह है कि वह पहले एक कोष्ठवाला होता है फिर एक के दो हो जाते हैं। दो के चार, चार के आठ, और आठ के सोलह कोष्ठ हो जाते हैं, अर्थात् कोष्ठ सदैव दूने क्रम से बढ़ते हैं। इसी प्रकार अण्डा भी दूने क्रम से बढ़ता है। अमीबा एक कोष्ठधारी और हाइड्रा दो कोष्ठधारी है, अर्थात् प्राणियों की वृद्धि भी दूने क्रम से ही होती है। इस शास्त्र से भी यही सूचित होता है कि पहले प्राणी सरल रचना के और पश्चात् क्लिष्ट रचना के होते हैं। यहाँ तक के इस सारांश से हम विकासवाद को पुष्ट करनेवाली दो ही बातें पाते हैं—

१. जिस नियम से प्राणियों की उत्पत्ति होती है वही नियम गर्भ का भी है। एक कोष्ठवाले अमीबा से बढ़कर जिस प्रकार समस्त प्राणी बने हैं उसी प्रकार गर्भ भी एक कोष्ठ से आरम्भ होकर मछली, मण्डूक, सर्प और पक्षियों की आकृतियों में घूमता हुआ स्तनधारी होता है।

२. मुर्ग़ी और मेंढ़क का इतिहास इसका प्रत्यक्ष प्रमाण है। शूकर, शशक, गौ और मनुष्य के गर्भों के मिलान से भी यही बात पाई जाती है। कीड़ों के आरम्भिक पिण्ड भी यही सूचित करते हैं, अर्थात् गर्भ के बढ़ने का क्रम बतलाता है कि किस प्रकार परिवर्तन होकर एक जाति से दूसरी जाति का निर्माण होता है और किस प्रकार गर्भ, अपनी पिछली पीढ़ियों का चक्कर लगाकर ही वर्त्तमान आकृति का प्राणी बनाता है। इन दोनों बातों का सारांश इतना ही है कि पहले सादी रचना और फिर क्लिष्ट रचना होती है तथा गर्भावस्था में प्रत्येक प्राणी सादी से क्लिष्ट रचना का चक्कर लगा जाता है। यहाँ हम क्रम से इन दोनों बातों की आलोचना करते हैं।

१. हम आरम्भ से ही इस बात को कहते हुए आ रहे हैं कि पहले सादे और फिर क्लिष्ट प्राणी उत्पन्न होते हैं, परन्तु सादों से ही क्लिष्ट नहीं बन जाते प्रत्युत वे अपने-अपने भिन्न-भिन्न

आदि पूर्वजों से ही उत्पन्न होते हैं। इसका कारण भोग्य और भोक्ता का सम्बन्ध है। गर्भ में जो सादी रचना के अनन्तर क्लिष्ट रचना दिखलाई पड़ती है उसका कारण विकास की उत्पत्ति का पुनर्दर्शन नहीं है, प्रत्युत यन्त्र और क्लिष्ट पुर्ज़ों के बनाने का एक साधारण नियम है। कोई भी यन्त्र बनाया जाए, उसके बारीक और क्लिष्ट पुर्ज़ों के अटकाने के लिए एक सीधा-सादा आधार अवश्य चाहिए। उदाहरण के लिए वर्त्तमान चरख़े को लीजिए। चरख़े के कारीगर ने गरारी में तख़्तियों को डालकर रक्खा। किस चीज़ में रक्खा? साधारण सीधे एक रूल जैसे डण्डे में। इसके बाद दो खूँटे गाड़े गये। कहाँ गाड़े गये? एक सीधी-सादी पटिया पर। यह पटिया ही इस चरख़ा-यन्त्र का मूल है। इसी में खूँटे गाड़े गये और इसी में वह यन्त्र रक्खा गया जो एक गरारी के साथ तख़्तियों को जोड़कर पहले रक्खा गया था। तकुवा के पासवाले छोटे-बड़े सब पुर्ज़े भी एक छोटी-सी पटिया में ही गड़े हुए हैं, अर्थात् सबसे पहले एक सीधा-सादा मज़बूत आधार बनाया जाता है उसी पर सूक्ष्म तथा क्लिष्ट पुर्ज़े गाड़े जाते हैं। चाहे जो यन्त्र हो वह इसी सिद्धान्त पर बनता है। मनुष्य का शरीर भी एक यन्त्र है। इसके सूक्ष्म और क्लिष्ट पुर्ज़ों के लिए पहले पीठ की हड्डी ही बनाई जाती है। उसी को विकासवादी मछली कहने लगते हैं। उसी में जब शिर और हाथ-पैर जोड़े गये तो उसे मण्डूक कहने लगे। क्या शिर और हाथ-पैर तथा हृदय और फुफ्फुस आदि यन्त्र बिना पीठ की हड्डी के किसी प्रकार एक में जोड़े जा सकते हैं? क्या विकासवादी कोई ऐसा यन्त्र दिखला सकते हैं जिसके सूक्ष्म और क्लिष्ट पुर्ज़े किसी आधार पर रक्खे बिना यन्त्र होकर काम दे रहे हों? क्या वे मनुष्य-शरीर के अनेक अवयवों को, बिना पीठ की हड्डी के, अलग-अलग रखकर, शरीरपञ्जर को काम के योग्य बना लेंगे? कभी नहीं। छोटे-छोटे कीड़ों में भी जोड़ों का आधार बनाया गया है। यही आधार रीढ़ की हड्डी का काम देता है, अतएव जो रचना गर्भ में होती है वह प्राणियों की पीढ़ियों का चक्कर नहीं प्रत्युत यन्त्र-रचना के नियमों का चक्कर है और अत्यन्त आवश्यक है।

यह हम पहले ही लिख आये हैं कि कोई भी प्राणी सादा नहीं है। जिस अमीबा को बिलकुल सादा कहा जाता है वह महान् क्लिष्ट है। किस प्रकार उसके समस्त सूक्ष्म अवयव उतने ही छोटे से स्थान में रक्खे गये हैं! बालों में होनेवाली लीख को या खटमल को या चींटी को सादी रचनावाला प्राणी किस प्रकार कहा जा सकता है? उसमें मनुष्यशरीर से अधिक कारीगरी और क्लिष्टता है, अतएव प्राणियों में न कोई सादा है और न कोई क्लिष्ट। हमारी इस बात को पाश्चात्य वैज्ञानिक भी दूसरे शब्दों में इस प्रकार कहते हैं। 'मेन्युअल ऑफ़ ज्यूलोजी' के पृष्ठ ९-१२ में मि० मिकलसन कहते हैं कि 'अमीबा नामक क्षुद्र जन्तु एक अकल्प्य सूक्ष्म कण ही है, परन्तु उसकी पाचनशक्ति क्लिष्ट-से-क्लिष्ट रचनावाले प्राणियों की पाचनक्रिया के यन्त्रों से कम नहीं है। यह अपने अन्दर भोजन लेता है और विना किसी पृथक् अवयव के पचा जाता है। सबसे बड़ी बात तो यह है कि वह अपना भोजन पसन्द करने की अद्भुत शक्ति रखता है। वह भोजन में से पोषक भाग रख लेता है और अनुपयोगी भाग निकाल डालता है'। इसी प्रकार के सूक्ष्म जन्तुओं के विषय में 'प्राणियों का वर्गीकरण' की भूमिका पृष्ठ १०-११ में हक्सले कहते हैं कि 'ग्रेगारिनीडा वर्ग के जन्तुओं से नीचे दर्जे के अन्य जन्तु नहीं हैं, परन्तु रीजोपोडा वर्ग के सूक्ष्म जन्तु उनसे भी अधिक सादी रचना के हैं। सूक्ष्मदर्शक यन्त्र से देखा गया है कि इनमें शरीर जैसी कोई गढ़न होती ही नहीं। ये तो पतले किये हुए सरेस के एक परमाणु-जैसे ही हैं, परन्तु इनमें भी जीवनशक्ति के समस्त गुण विद्यमान हैं। ये अपने ही जैसे प्राणी से उत्पन्न होते हैं, भोजन पचा सकते हैं और हलचल कर सकते हैं। यही नहीं किन्तु ये अपने घुसने

की छींट, जो बिलकुल ही क्लिष्ट रचनायुक्त होती है, बना लेते हैं। जेली का यह एक कण प्राकृतिक शक्तियों को इस प्रकार क़ाबू में करके ऐसी गणितयुक्त रचना (छींट) बना सकता है, यद्यपि स्वयं रचनारहति और अवयवहीन है। मेरे लिए यह विषय असाधारण सारयुक्त है'। इन बातों से कौन नहीं जान सकता कि इनके अन्दर क्लिष्ट रचना नहीं है? सादी और क्लिष्ट रचना का अभिप्राय ही दूसरा है। सादे का तात्पर्य भोग्य और क्लिष्ट का तात्पर्य भोक्ता है। भोग्य भोक्ता में ज्ञान और कर्म का सिद्धान्त काम कर रहा है। ज्ञान और कर्म के सिद्धान्त से वृक्ष ज्ञान और कर्म दोनों से हीन हैं। पशु ज्ञानहीन, किन्तु कर्मयुक्त हैं और मनुष्य ज्ञान-कर्म दोनों से युक्त हैं। इसीलिए इनमें एक दूसरे का भोग्य और भोक्ता है। वृक्ष कर्म-ज्ञान शून्य हैं, अतः कर्मवाले पशुओं के भोग्य हैं, किन्तु मनुष्य ज्ञान और कर्म दोनों में श्रेष्ठ है, अतः कर्म से वृक्षों पर और ज्ञान से पशुओं पर शासन करता और उनको भोगता है। तात्पर्य यह कि पहले वृक्ष, फिर पशु, फिर मनुष्य को उत्पन्न होना चाहिए और इसी क्रम से सृष्टि हुई है।

विकासवादी यह सिद्ध करते हैं कि पहले सादी रचनावाले हुए फिर क्लिष्ट रचनावाले। यद्यपि इसको वे अच्छी रीति से बतला नहीं सकते तथापि हम इसे स्वीकार करते हैं, परन्तु क्या इस स्थूल बात को भी सिद्ध करने की आवश्यकता है—बार-बार कहने की आवश्यकता है कि वृक्ष के बाद पशु हुए? क्या कभी किसी युग में कोई ऐसा भी मूर्ख था जिसने यह कहा हो कि वनस्पति के पहले पशु हुए? अथवा वनस्पति या पशुओं के पहले मनुष्य हुए? किन्तु हाँ, यह विकासवादी कहते हैं कि वनस्पति और पशु साथ-ही-साथ हुए। हम कहते हैं यह ग़लत है। वृक्ष पहले हुए। यदि प्राणियों की उत्पत्ति का चक्कर गर्भ में लगता है तो गर्भ में मनुष्य प्राणी शिर के बल उलटा क्यों लटका रहता है? विकासवादी नहीं जानते, परन्तु यह वृक्षों का नमूना है कि ज्ञान-कर्मरहित वृक्ष अधोशिरवाले हैं। पैदा होकर लड़का आड़ा-आड़ा हाथ-पैर से चलता है, यह कर्मयुक्त ज्ञानरहित पशु दशा है, परन्तु ज्ञान उदय होते ही वह खड़ा होकर मनुष्य हो जाता है, यह कारण है गर्भ में नीचे शिर का और यह प्रमाण है वृक्षों के पहले उत्पन्न होने का। जब से नवीन विज्ञान ने खोज का फैलाव किया है तब से विद्वान् मानने लगे हैं कि पहले वनस्पति हुई[१]। कहने का तात्पर्य यह कि सादी और क्लिष्ट रचना का जो यथार्थ भाव है, वह यह है।

२. दूसरी बात गर्भ में पिछली योनियों के चक्कर की है। अभी ऊपर मुर्ग़ी का इतिहास दिया गया है। मुर्ग़ी पक्षीजाति का प्राणी है। इसके पूर्व मछली, मण्डूक और सर्पजाति के प्राणी हो चुके हैं। मुर्ग़ी के गलफड़ों ने मछली का आकार दिखलाया और पैर तथा शिर के फूटने पर मान लो कि उसने मेंढक की नक़ल भी कर दी, परन्तु तीसरी नक़ल सर्पणशीलों की उसने क्या दिखलाई? पक्षी सर्पों के बहुत निकट हैं। वे उन्हीं से पक्षी हुए हैं, अतएव चाहिए था कि उनमें सर्पणशीलों के गुण विशेष हों, परन्तु क्या सर्पणशीलों के दाँत पक्षियों के मुँह में दिखलाई पड़ते हैं? चिमगादड़ को छोड़कर अन्यों में नहीं, परन्तु चिमगादड़ सर्पणशीलों से पक्षी नहीं हो रहा, वह तो पशुओं से पक्षी हो रहा है, क्योंकि उसके कान और स्तन हैं। इससे ज्ञात हुआ कि मुर्ग़ी में सर्पणशीलों के गुण नहीं है। तब पिछली योनियों का चक्कर कैसा? मुर्ग़ी के गले के पास केवल दर्ज़ों को देखकर इतना बड़ा हवाईकिला खड़ा करना कितना भयंकर है, यह सहज ही अनुमान किया जा सकता है।

---

१. 'Supposing the existence of life of some kind, it is more likely to have been vegetable than animals'. As plants are primarily the food of animals, there is reason for believing that the idea of life was first expressed in a plant. —*Mannual of Geology*, P. 742.

मण्डूक की जो वृद्धि होती है वह बिलकुल यान्त्रिक सिद्धान्त के अनुसार ही होती है। मण्डूक यदि मछली होता तो उसके पैर न होते। गलफड़ों से वह श्वास उस समय लेता है, जिस समय बढ़ता है। उसकी यह वृद्धि की अवस्था गर्भावस्था ही है। गर्भावस्था में तो मनुष्य का बच्चा भी नाल के द्वारा प्राण और पोषण पाता है तो क्या वह भी मछली ही है ? यदि ऐसा होता तो सभी बच्चे पहले गलफड़ों से ही श्वास लेते, क्योंकि सभी का विकास मछली से हुआ है, परन्तु मनुष्य और पशुओं के बच्चे माता से लगे हुए नाल के द्वारा प्राण पाते हैं, ऐसी अवस्था में विकास का प्रमाण व्यापक नहीं रहता, क्योंकि गर्भ के नियम दूसरे और बाहर के दूसरे हैं।

पशुओं और मनुष्यों के गर्भों की तुलना भी वही यान्त्रिक सिद्धान्त बतलाती है। हम सब पहले रीढ़ की हड्डी से ही आरम्भ करते हैं, उसी को विकासवादी मछली की शकल बतलाते हैं। पैर और शिर के होते ही उसे मण्डूक कहने लगते हैं, परन्तु सर्पणशीलों के दाँत और उड़नेवाले के पर, मनुष्यों और पशुओं के गर्भ में नहीं देखे गये। इस चक्कर में इन दोनों विभागों के लक्षण क्यों नहीं दिखते ? विकासवादियों के पास इसका उत्तर नहीं है। इस गर्भवृद्धि से न तो यही बात सिद्ध होती है कि यह क्रम से प्राणियों की उत्पत्ति की नक़ल है और न यही सिद्ध होता है कि यह पिछली पीढ़ियों और जातियों का चक्कर ही है।

हमने तुलनात्मक शरीररचना-शास्त्र में जैसे आयु की अनियमता का दृष्टान्त दिया था उसी प्रकार प्राणियों के गर्भवास की अवधि में भी कोई नियम नहीं है। स्तनधारियों में घोड़ी १२ महीने में, गाय ९ महीने में, भैंस दस महीने में, वानर ४ महीने में और मनुष्य ९ महीने में बच्चा पैदा करता है। चार महीनें से १२ महीने तक की अवधि है। यह नियम न तो शरीर की सुदृढ़ता पर है और न आयु पर। घोड़ा मनुष्य से बल में अधिक है, परन्तु आयु में कम और गर्भवास में अधिक है। कछुवा आयु में अधिक है, बल में कम है और गर्भवास में तो बहुत ही कम है। क्या कोई विकासवादी इस अव्यवस्थित क्रम का कारण बतला सकता है ? नहीं।

गर्भ में बँधी हुई गठरी के समान रहने पर भी कोई अङ्ग न तो एक-दूसरे से चिपकता है, न निकम्मा होता है, यद्यपि बाहर ऐसा होने पर सब अङ्ग निकम्मे हो जाते हैं। क्या इस भेद का कारण कोई बतला सकता है ? नहीं। गर्भ की विचित्रता और महत्ता तथा उस कारीगर की कारीगरी क्या तुच्छ मनुष्य की बुद्धि में आने योग्य है ? ऊपर जिन प्राणियों के चक्कर पर गर्भ का इतना बड़ा नियम कह डाला गया उस इतिहास पर विज्ञानवेत्ताओं को ही पूरा सन्तोष नहीं है। विकासवाद के लेखक पृष्ठ ९ पर स्वयं कहते हैं कि 'जैसाकि हक्सले तथा हैकल ने लिखा है कि यह इतिहास इतना संक्षेप करके लिखा हुआ है कि इसके प्रत्येक वाक्य का भाष्य और उनपर व्याख्या करने में तो बड़ा विस्तृत ग्रन्थ बन जाएगा। इस अण्डस्थ वा गर्भस्थ वृद्धि में जो इतिहास लिखा हुआ है उसमें कभी-कभी पंक्तियाँ, पूरे पैराग्राफ़ और कभी पृष्ठों-के-पृष्ठ छूटे हुए हैं। इतना ही नहीं, परन्तु कभी-कभी प्रक्षिप्त प्रकरण भी इसमें डाले हुए दृष्टिगोचर होते हैं'। यह है उस शास्त्र की दशा, जिसपर पूरा भरोसा था। जिस प्रकार लुप्त जन्तुशास्त्र में अध्याय-के-अध्याय लुप्त बतलाये गये थे उसी प्रकार यहाँ भी पृष्ठ-के-पृष्ठ लुप्त हैं।

भला! लुप्त जन्तु में तो यह बहाना था कि सारी पृथिवी खोदी नहीं गई, किन्तु गर्भ-इतिहास के पन्ने-के-पन्ने क्यों लुप्त हैं ? गर्भ-परम्परा तो अमीबा से लेकर मनुष्यपर्यन्त चली आ रही है फिर बीच में पन्ने क्यों लुप्त हुए।

हक्सले महोदय यह भी कहते हैं कि उस इतिहास में प्रक्षेप भी किया हुआ है। ग़जब हो गया! यदि गर्भ-इतिहास प्राणियों के विकासक्रम की पाठमाला है तो इसमें प्रक्षेप कहाँ से

आया ? बीच में गर्भ कर्मरहित क्यों भासित होने लगा ? मण्डूक से सर्पणशील होकर पक्षी होना था, परन्तु सर्प की अवस्थाओं का पता नहीं। बीच में पुच्छलतारे की आकृतियाँ क्यों दिखने लगीं ? इस शास्त्र में तो ऐसा न होना चाहिए। इस भयानक अड़चन का जवाब विकासवाद के ज्ञाता पृष्ठ ९१ पर यह देते हैं कि 'इस गर्भस्थ अवस्था के इतिहास में जहाँ-जहाँ समानताएँ समाप्त होकर भिन्न-भिन्न मार्गों का अवलम्बन किया हुआ प्रतीत होता है, वहाँ वे-वे स्थान बतलाये हैं कि यहाँ-यहाँ प्राणियों ने परिस्थिति के अनुसार भिन्न-भिन्न मार्गों में चलना आरम्भ किया'। आपके कहने का तात्पर्य यह है कि घास खानेवाले स्तनधारियों के बाद जहाँ से मांस खानेवाले स्तनधारियों की मांस खाने की प्रवृत्ति हुई, वहीं प्रक्षेप प्रतीत होता है। यह बड़ी भद्दी रफ़ूगरी है। क्या घास खानेवाले एकदम मांस खानेवाले हो गये ? क्या गाय के बछड़ों में से एक भेड़िया हो गया ? यदि विकासवाद ऐसा मानता हो तब तो उसे आँख के सामने ही सब-कुछ सिद्ध करना चाहिए, परन्तु यदि वहाँ भी क्रम-क्रम से विकास माना जाए तो इस प्रकार का भेद न पड़ना चाहिए। मछली से मेंढक होना जितना कठिन है, उतना बछड़े का भेड़िया होना कठिन नहीं है।

ऊपर विकासवाद ने यह दिखलाने का यत्न किया है कि मेंढक गर्भ में मछली बन गया, अत: अब उपशाखाओं में चलकर पृथक् मार्ग अवलम्बन करने का बहाना बतलाना ठीक नहीं। अच्छा, यह तो प्रक्षेप का बहाना हुआ, परन्तु पृष्ठों-के-पृष्ठ लुप्त क्यों हैं ? मुर्ग़ी गर्भावस्था में सर्पणशीलों के दाँत क्यों नहीं दिखलाती ? कुछ भी उत्तर नहीं। सत्य बात तो है कि प्रत्येक जाति के गर्भ स्वतन्त्र रीति से अमुक-अमुक समय में बनते हैं। वहाँ न प्राणियों की पीढ़ियों का चक्कर है, न जातियों का इतिहास है। हार मानकर अन्त में विकासवाद के लेखक भी पृष्ठ ८१ पर कहते हैं कि 'किसी प्राणी की गर्भावस्था का इतिहास पूर्णतया हम नहीं जानते और न किसी प्राणी की गर्भावस्था के सब परिवर्तन देखे गये हैं अथवा न उनका सार्थक कारण पूर्णतया बतलाया जा सकता है'। चलो छुट्टी हुई। जिस शास्त्र पर इतना भरोसा था वह भी गया, अत: अब हम भी इसकी समालोचना यहीं समाप्त करते हैं और आगे मनुष्य की उत्पत्ति पर विचार करते हैं।

मनुष्य की उत्पत्ति

अब तक विकास का स्वरूप और उसके प्रमाणों का वर्णन हुआ और समालोचना से उसका जो कुछ परिणाम निकला उसे दुबारा कहने की आवश्यकता नहीं। यह न समझना चाहिए कि विकास और उसके प्रमाण बतलाने में विकासवाद के लेखक ने कोई कोताही की है। वे स्वयं पृ० १५४ पर कहते हैं कि 'प्राणियों की शरीर-रचना, वृद्धि तथा चट्टानवर्ती प्रस्तरीभूत शरीरों का जिस प्रकार हमने वर्णन किया है, उससे यदि अधिक विस्तारपूर्वक तथा अधिक सूक्ष्मता के साथ हम वर्णन करते तथापि हमारा यह विचार है कि विकास की वास्तविकता तथा प्रत्यक्षता अच्छे प्रकार कदाचित् ही स्पष्ट होती'। सत्य है, विकासवाद के पास केवल तीन ही बातें हैं—एक तो पृथिवी की निचली और ऊपर की तहों से यह दिखला देना कि पहले सादी रचना हुई और फिर क्लिष्ट। दूसरी यह कि गर्भ में प्रत्येक प्राणी उसी सादी रचना से आरम्भ करके पूरे शरीर, अर्थात् क्लिष्ट रचना तक अपनी पूर्वजातियों का चक्कर लगा आता है और तीसरी यह है कि मध्यम कड़ियाँ भी देखने को मिलती हैं। बस, इसके सिवा विकासवाद के पास और कुछ भी सामग्री नहीं है। विकासवाद के लेखक ने ही लुप्त-जन्तुशास्त्र की सार्थकता पर असन्तोष प्रकट किया है और गर्भशास्त्र के लिए भी कह दिया है कि इसका पूरा ज्ञान नहीं है, क्योंकि गर्भ-इतिहास के पृष्ठ लुप्त हैं। ऐसी दशा में मध्यम कड़ियों का कुछ मूल्य ही नहीं रहता, अतएव आप जो कहते

हैं कि 'विकास की वास्तविकता तथा प्रत्यक्षता कदाचित् ही स्पष्ट होती' बहुत ठीक है।

आगे हम मनुष्य के विकास पर ग्रन्थकार का मत लिखकर समालोचना करते हैं। ग्रन्थकार ने इस प्रकरण को पृष्ठ २०० से २६० तक लिखा है। जिसका सारांश इस प्रकार है—

१. ऊपर के वर्णन के पश्चात् अब हमारा अधिकार और कर्त्तव्य हो गया है कि मनुष्य की उत्पत्ति पर भी विचार करें, किन्तु मनुष्य ने जो अपने आपको श्रेष्ठ मान लिया है, यह एक बड़ी अड़चन है।

२. तुलनात्मक दृष्टि से मनुष्य की शरीर-रचना, गर्भ-परिवर्तन, मनुष्य के प्राप्त हुए चट्टानवर्ती अवयव और यन्त्र की भाँति मनुष्य का भी उन्हीं प्राकृतिक नियमों के अधीन रहना, जिनके अधीन अन्य प्राणी हैं।

३. मनुष्य का शरीर भी उन्हीं पदार्थों से बना है, जिनसे अन्य प्राणी बने हैं। उसके भी वही आठ संस्थान हैं। शरीर कोष्ठों से और कोष्ठ प्रोटोप्लाज़्म से बने हैं। जिस तत्त्व पर पृष्ठवंशधारियों की रचना हुई है, उसी तत्त्व पर मनुष्य की भी रचना है, अतः पृष्ठवंश के स्तनधारियों में ही मनुष्य की भी गिनती करनी चाहिए। स्तनधारी श्रेणी की बन्दरकक्षावाली वनमनुष्य उपजाति में ही मनुष्य का स्थान है।

४. वानरकक्षा की आठ विशेषताएँ हैं—

(क) गर्भ नालझिल्ली से सम्बन्ध रखता है।

(ख) हाथों और पैरों के अँगूठे चारों ओर फिर सकते हैं, जिससे पैर से भी वे पकड़ सकते हैं।

(ग) ये वृक्षों पर रहते हैं।

(घ) इनके भी दूध के और स्थिर दाँत होते हैं।

(ङ) वानरकक्षा के भिन्न वंशो में दाँतों की संख्या नियत होती है।

(च) हाथ में पाँच ही अंगुलियाँ होती है, नाखून तथा पंजे भी होते हैं।

(छ) हँसली की अस्थियाँ दृढ़ और उन्नत होती हैं।

(ज) प्रत्येक के दो ही स्तन होते हैं।

५. पूर्णतया सीधे खड़े होकर चलना, मस्तिष्क का बहुत अधिक विकास, वाणी द्वारा बोलने की शक्ति और विचार करने की शक्ति—ये चार मनुष्य की विशेषताएँ हैं।

६. पहली दोनों विशेषताएँ तात्त्विक नहीं प्रत्युत परिमाण की हैं, अर्थात् छोटाई-बड़ाई का ही अन्तर है। खड़े होकर चलना भी मस्तिष्क की ही उन्नति का परिणाम है।

७. वानरों की जातियाँ, उपजातियाँ तथा वंश अनेक हैं। 'लीमर' अर्धबन्दर है, जो हाथ-पैर से ही बन्दर प्रतीत होता है। 'मार्मोसेट' भी आकार में लीमर सदृश ही होता है, परन्तु वानरों से अधिक मिलता है। इसके नाख़ून पञ्जेदार होते हैं और सामान्य बन्दरों को सब लोग जानते ही हैं।

८. वनमनुष्य भी वानरकक्षा का ही वंश है। इसके चार प्रकार हैं—गिबन, ओरांग, औटांग, चिपांजी और गोरिला। इनके दाँत मनुष्यों के दाँतों के समान होते हैं। नाक नीचे की ओर झुकी होती है, परन्तु अन्दर की ओर दो छिद्र नहीं होते। इनके हाथ, पैरों से अधिक लम्बे होते हैं। गाल की थैली और पूँछ बिलकुल नहीं होती।

९. गिबन जाति की मादा अपने बच्चे का मुँह धोती है। चिपांजी अपने शरीर से बहते हुए ख़ून को दबाकर बन्द करने की चेष्टा करता है। वैज्ञानिकों का मत है कि चिपांजी की बुद्धि नव

महीने के बालक के समान होती है।

१०. मनुष्य की ख़ास विशेषताएँ दो ही हैं, मस्तिष्क का बहुत विकास और खड़े होकर चलना। खड़े होकर चलने का भी कारण मस्तिष्क का ही विकास है। वनमनुष्य खड़े हो सकते हैं, परन्तु झुके हुए रहते हैं।

११. मनुष्य के खड़े होने से ही आँत उतरने की बीमारी होती है। मनुष्य और चिपांज़ी के मस्तिष्क की तुलना करने से ज्ञात होता है कि दोनों में परिमाण का ही अन्तर है। मनुष्य का मस्तिष्क स्पष्ट होता है और चिपांजी का अस्पष्ट। यही हाल हाथ-पैरों का भी है। बन्दर पैर से वस्तु उठा लेता है, इसी प्रकार एक जंगली स्त्री भी पैर से वस्तु उठा लेती है। अक्कलडाढ़ मनुष्य के देर से आती है और छोटी होती है, परन्तु गौरिला की बड़ी बलवान् और शीघ्र निकलनेवाली होती है। असभ्य जातियों में भी यह डाढ़ शीघ्र निकलती है। मनुष्य के शरीर में बाल बिलकुल नहीं होते, परन्तु किसी-किसी के कानों और कन्धों पर होते हैं। जापान के ऐन्यू लोगों के शरीर पर बाल बहुत होते हैं। मिस जुलिया पास्ट्राना बहुत बालवाली प्रसिद्ध है। सारांश यह कि मनुष्य का इन प्राणियों से कोई तात्त्विक भेद नहीं है। भेद केवल परिमाण का है—कम-अधिक का है।

१२. मनुष्य के शरीर में अवशिष्टाङ्ग, अर्थात् पुरानी योनियों के कई अङ्ग अब तक पाये जाते हैं। मनुष्य अपनी इच्छा से शरीर की खाल नहीं हिला सकते, यद्यपि हिलानेवाली नसें विद्यमान हैं। शिर के चाँद की चमड़ी भी सब मनुष्य नहीं हिला सकते, परन्तु कोई-कोई हिला सकते हैं। कान भी सब नहीं फड़फड़ा सकते, परन्तु कोई-कोई फड़फड़ा सकते हैं। नाक से सूँघकर भी सब मनुष्य नहीं पहचान सकते, परन्तु कोई-कोई पहचान सकते हैं। मनुष्य रोएँ खड़े नहीं कर सकता, यद्यपि रोएँ खड़े करनेवाली नसें विद्यमान हैं। इस प्रकार के अङ्ग पशुओं में पूरे काम कर रहे हैं, यद्यपि वे मनुष्य से धीरे-धीरे लुप्त हो रहे हैं, तथापि किसी-किसी में विद्यमान हैं। भौहें चढ़ाना, माथा सिकोड़ना, ओठ, गाल और नाक को मनमाना नचाना मनुष्य में अब तक बना हुआ है।

१३. अन्न-नलिका के अन्त में Vermiform Appendix नामक एक थैली है, जो जानवरों को काम देती है, परन्तु मनुष्य के लिए बिलकुल निष्प्रयोजन है। निष्प्रयोजन ही नहीं, किन्तु यदि उसमें गुठली आदि कठोर पदार्थ चला जाए तो मनुष्य के लिए घातक हो जाती है। छठे महीने गर्भ में मनुष्य का सारा शरीर बालों से छा जाता है जो वानर का पूर्वरूप है। बन्दर के बच्चे माँ के पेट में लिपटे रहते हैं, अतः जन्म होते ही बालक के हाथ की मुट्ठी इतनी मज़बूत होती है कि वह रस्सी पकड़कर लटका रह सकता है।

१४. मनुष्य की रीढ़ की अन्तिम गाँठ आसकाक्सिक्स (Oscoccyx) कहलाती है। इसी को पूँछ का चिह्न कहा जाता है। पूँछवाले मनुष्यों में यह गाँठ ८-१० इञ्च तक बढ़ी हुई पाई जाती है। यह केवल मांसस्नायुयुक्त होती है। इसमें हड्डी नहीं होती।

१५. मनुष्य की अस्थियाँ तीसरी चट्टानों में ही मिलती हैं। पहले मनुष्य की ऐसी जातियाँ हो गई हैं, जिनका अब संसार में नाम व चिह्न भी नहीं है। जावा द्वीप में एक खोपड़ी मिली है जो जंगली मनुष्य की खोपड़ी से अवनत और वनमनुष्य की खोपड़ी से उन्नत है। यह वनमनुष्य और मनुष्य के बीच की कड़ी अनुमान की जाती है।

१६. जो लीख आदि प्राणी मनुष्य के शरीर में होते हैं वही पशुओं के शरीरों में भी होते हैं। चूहों का रोग मनुष्यों के भी होता है। ऐसा कोई रोग नहीं जो मनुष्यों के होता हो और पशुओं को न होता हो। इलाज भी दोनों के एक ही हैं। नशा भी दोनों को होता है। किसी का रुधिरकण गोल, किसी का दीर्घ वर्तुल और किसी का चपटा होता है।

१७. स्याही के १०, चूही के ८, कुतिया और गिलहरी के ८, बिल्ली और रीछ के ६ और सब तृणाहारी तीक्ष्णदन्तियों के ४ स्तन होते हैं, परन्तु जर्मनी की एक स्त्री के ४, जापान देश की एक स्त्री के ६ और पोलैंड की एक स्त्री के १० स्तन हैं।

यहाँ तक मनुष्य के विकास पर विकासवाद के लेखक ने प्रमाण और युक्तियाँ उपस्थित की हैं, किन्तु यदि विचार से देखा जाए तो यह सारा भवन अनुमान पर ही खड़ा है। प्रत्यक्ष परीक्षण का इसमें कहीं नाम भी नहीं है। जो हो, हम इन सब बातों का उसी क्रम से उत्तर देते हैं।

१. मनुष्य की उच्च कल्पना ने डारविन, हक्सले और हैकल आदि पर कुछ भी असर नहीं किया। इस समय भी लाखों मनुष्य अपने पूर्वजों को बन्दर ही समझते हैं। सत्य विचार करनेवालों ने हमारे देश में तो कभी इस प्रकार का मिथ्या दम्भ किया ही नहीं। एक कवि की उक्ति है कि **'पशुतन की पनही बनै नरतन कछू न होय'**, अर्थात् पशु-शरीर से तो जूते बनते हैं, परन्तु मनुष्य-शरीर तो सर्वथा ही निकम्मा है। यहाँ पशु से भी उसका दर्जा नीचा किया गया है, किन्तु कब? जब परमेश्वर की आराधना नहीं करता। कहने का तात्पर्य यह है कि मनुष्य ने निष्कारण ही अपने को बड़ा नहीं मान लिया। विकासवाद के लेखक स्वयं पृ० २३६ पर कहते हैं कि 'इसपर भी यह नहीं समझना चाहिए कि इसमें और मनुष्य में कुछ भेद ही नहीं है। मनुष्य को सब प्राणियों में जो उच्च स्थान प्राप्त हुआ है, उसका कारण उसके ज्ञानजन्तुओं का विकास है। यद्यपि गोरिला शरीरबल, हाथ-पैर और छाती में मनुष्य को हरा सकता है, किन्तु बुद्धिबल में वह मनुष्य से बहुत कम है, इसी से वह मनुष्य के अधीन हो जाता है'।

२. तुलनात्मक दृष्टि से मनुष्य की रचना, गर्भपरिवर्तन, चट्टानों में मिले हुए मनुष्य अवयव और यान्त्रिक नियमों से अन्य प्राणियों की भाँति इसे भी अपना स्वरूप प्राप्त करना आदि जितनी बातें लिखी गई हैं, इन सबका उत्तर अन्य पशुओं के वर्णन के साथ आ गया है। विकासवाद के लेखक ने स्वयं पाँचों शास्त्रीय प्रमाणों में अपनी असमर्थता दिखलाई है। प्रत्येक विभाग में केवल कल्पना और अनुमान के अतिरिक्त तनिक भी परीक्षण से काम नहीं लिया गया और परिस्थिति से यन्त्रों की भाँति प्राणियों का परिवर्तन होना भी सिद्ध नहीं हुआ, अत: अब यहाँ वही बातें फिर लिखना बेकार हैं।

३. मनुष्य का शरीर भी उन्हीं पदार्थों से बना है, जिनसे अन्य प्राणी बने हैं, उसके शरीर में भी आठ संस्थान हैं, कोष्ठ और कोष्ठान्तर्गत प्रोटोप्लाज़्म भी वैसा ही है, और पृष्ठवंशधारी की स्तनवाली श्रेणी में उसका स्थान है। इन बातों में से बहुत-सी बातों का उत्तर पिछले पृष्ठों में हो चुका है। हमारे यहाँ यह शरीर **'क्षिति, जल, पावक, गगन, समीरा। पंचरचित यह अधम शरीरा'** माना गया है। आठ संस्थान न हों तो वह प्राणी ही नहीं कहला सकता। हमने पहले ही कोष्ठ और कोष्ठान्तर्गत प्रोटोप्लाज़्म की वास्तविकता बतला दी है। यहाँ इतना विशेष समझना चाहिए कि अमीबा एक कोष्ठधारी कहा जाता है, उसके एक ही कोष्ठ में आठों काम होते हैं, परन्तु जब वह एक से दो होता है तब उसी के अन्दर एक दूसरा कोष्ठ तय्यार हो जाता है और अलग होने के पहले तक दोनों कोष्ठ एक ही में रहते हैं। ऐसी दशा में उसे एक कोष्ठधारी क्यों कहा जाता है? इसी प्रकार कई कोष्ठवाले प्राणी का प्रत्येक कोष्ठ अमीबा की भाँति आठों काम अलग-अलग नहीं करता। भिन्न-भिन्न कोष्ठों के काम भिन्न-भिन्न हो जाते हैं। ऐसी दशा में किस आधार से कहा जाता है कि ये कोष्ठ भी अमीबा के ही जैसे कोष्ठ हैं? अनेक कोष्ठवाले प्राणियों में सँभाल पाया जाता है और सब कोष्ठों को सँभालनेवाला कोई एक ही कोष्ठ विदित होता है, क्योंकि यदि सब कोष्ठ प्रबन्ध करने लगें तो शरीर में अव्यवस्था हो जाए, परन्तु हम

शरीरों में व्यवस्था देखते हैं, इससे ज्ञात होता है कि व्यवस्था किसी एक ही स्थान में है, तब सब कोष्ठ चेतन हैं, ऐसा क्यों कहा जाता है ? कोष्ठों के अन्दर का रस कभी चैतन्य का कारण नहीं हो सकता। ज्ञानशक्ति, संयुक्त पदार्थ से उत्पन्न नहीं हो सकती, क्योंकि अनेक संयुक्त चैतन्यों से व्यवस्था का विघात होता है। इसी प्रकार मनुष्य हड्डीवालों में से स्तनधारियों की श्रेणी का भले हो, परन्तु न तो इनमें से किसी के संयोग से इसका वंश चलता है, न किसी के साथ आयु मिलती है, न भोग मिलता है और न गर्भवास का समय ही मिलता है। ऐसी दशा में उसको पशुओं के साथ मिलाना अन्याय ही प्रतीत होता है।

संसार में मनुष्य को छोड़कर जितने प्राणी हैं, उन सबके बालों में, पैदा होने से मृत्यु तक, किसी प्रकार का परिवर्तन नहीं होता। जो गाय जिस रंग की पैदा होती है, आजीवन उसी रंग की रहती है। यही हाल ऊँट, घोड़ा, गधा, बैल, भैंस, बकरी, भेड़ी आदि का है। बन्दर और वनमनुष्य भी जिस रंग का पैदा होता है आजीवन उसी रंग का रहता है, परन्तु मनुष्य के बालों का रंग जीवनभर में चार बार चार प्रकार का पलटता है। पैदा होने के समय सुनहरी रंग, जवानी में काला और वृद्धावस्था में सफ़ेद होता है तथा अत्यन्त वृद्धावस्था में पिङ्गल हो जाता है। पशुओं और मनुष्यों में अन्तर डालनेवाला यह बाल-परिवर्तन दोनों को पृथक् किये हुए है। दूसरा अन्तर पानी में तैरने का है। जितने पशु हैं सब पानी में डालते ही तैरने लगते हैं। यहाँ तक कि बन्दर भी तैरने लगता है, परन्तु मनुष्य बिना तैरना सीखे तैर नहीं सकता। इनके अतिरिक्त दो पैर पर खड़े होना, बोलना, विचार करना, हँसना, रोना और गाना आदि अनेक बातें हैं जो मनुष्य में ही हैं, पशुओं में नहीं, अर्थात् बिना शिक्षा के अपने कार्य कर लेना पशुओं में ही है, मनुष्यों में नहीं। इससे स्पष्ट प्रतीत होता है कि मनुष्य पशु-श्रेणी का नहीं है।

जिस प्रकार पशुओं और मनुष्यों के बीच में अन्तर है उसी प्रकार वृक्षों और पशुओं में भी अन्तर है। पशु आड़े शरीर के हैं और वृक्ष उलटे शरीर के, अर्थात् वृक्षों के शिर नीचे की ओर हैं। दूसरा अन्तर देखने-सुनने आदि के अङ्गों का है। सबसे बड़ा और विरोधी अन्तर तो दोनों की खुराक का है। वृक्ष जिस दूषित वायु को खाकर जीते हैं अन्य प्राणी उसको खाकर मर जाते हैं, अर्थात् वृक्षों की खुराक प्राणनाशक वायु है और प्राणियों की खुराक प्राणप्रद वायु है। वृक्ष प्राणप्रद वायु देते हैं और पशु प्राणनाशक वायु देते हैं। इस प्रकार वनस्पति और पशुओं का भी कोई शारीरिक अथवा उत्पादक सम्बन्ध प्रतीत नहीं होता। ऐसी दशा में न तो मनुष्य पशु-श्रेणी का प्रतीत होता है और न वनस्पति ही पशु-श्रेणी की ज्ञात होती है, अतः स्पष्ट है कि विकासवाद इन तीनों को एक बनाने में भारी भूल करता है।

४. वानरकक्षा की जो आठ विशेषताएँ बतलाई गई हैं वे यथार्थ में वानरों की ही विशेषताएँ नहीं है। उनमें आधी से अधिक अन्य प्राणियों में भी पाई जाती है, परन्तु दो-चार विशेषताएँ जो यथार्थ में वानरों में ही पाई जाती हैं वे स्वयं कह रही हैं कि मनुष्यजाति का वानरों से कोई सम्बन्ध नहीं है। गर्भनाल तो भैंस के भी लगा रहता है। अँगूठों के घूमने से तो वह मनुष्य श्रेणी का नहीं प्रतीत होता। वृक्ष पर तो चिड़ियाँ और कीड़े भी रहते हैं। दोनों प्रकार के दाँत तो गाय-भैंस आदि के भी होते हैं। दाँतों की अन्य पशुओं में भी अलग-अलग संख्या होती है। पाँच अंगुलियाँ तो गिलहरी के भी होती हैं। नाख़ूनों और पंजों का होना ही उसे मनुष्यश्रेणी से अलग करता है। हँसली की अस्थियों की दृढ़ता और उन्नति से यहाँ कोई सरोकार नहीं दिखता। दो स्तन तो बकरी के भी होते हैं। यहाँ सम और विषम दोनों प्रकार के अंगो का वर्णन करके पता नहीं 'विकासवाद' के लेखक ने क्यों व्यर्थ विषय को बढ़ाया है ?

५-६. मनुष्य का सीधे खड़ा होना, मस्तिष्क की बड़ाई, बोलना और विचार करना इन चारों का कारण मस्तिष्क की वृद्धि बतलाया जाता है। मस्तिष्क की वृद्धि ही मनुष्यता नहीं है। वानरों और वनमानुषों के मग़ज के दृश्य से जो यह कहा जाता है कि बोलने, विचार करने, सोचने और सीधा खड़े होने का कारण केवल मस्तिष्क की उन्नति है—उसकी शक्तियों का अधिक स्पष्टपना ही है, यह बात हाल के वैज्ञानिकों ने असिद्ध कर दी है। चींटी को सबने देखा है। उसके शिर की खोखली टोपी भी सबने देखी है। उसमें भेजे का नाम नहीं है, परन्तु चींटी इतनी बुद्धिमती और प्रबन्ध करनेवाली है कि विज्ञानवेत्ता, मनुष्य से उतरकर सारे संसार का प्रबन्ध कर सकनेवाला प्राणी चींटी को ही बतलाते हैं[१]। इससे यह नहीं पाया जाता कि बड़े और स्पष्ट मस्तिष्क से ही बुद्धि और विचारों में उन्नति होती है।

७. वानरों की अनेक जातियाँ हैं। ये उसी प्रकार की जातियाँ हैं जैसे मांसाहारियों की—कुत्ता, शृगाल, भेड़िया, बिल्ली, व्याघ्र, सिंह आदि की बतलाई गई हैं, परन्तु हमने पहले ही बतला दिया है कि जिनके मेल से वंश चले वही जाति है, अन्य नहीं। क्रमविकास दिखलाने के लिए ही ये 'लीमर' और 'मार्मोसेट' आदि प्राणी वानर कहे गये हैं, परन्तु लीमर आदि स्वतन्त्र योनियाँ हैं, इनका परस्पर वंश नहीं चलता, इसलिए ये वानरजाति की नहीं हैं।

८. चार प्रकार के वनमनुष्य भी वानरकक्षा के कहे गये हैं, परन्तु उनका बन्दरों के साथ बहुत ही थोड़ा मेल है। ये अलग स्वतन्त्रजाति के प्राणी हैं, इनका एक-दूसरे से कुछ सम्बन्ध नहीं है।

९. यदि गिबन की मादा मुँह धोती है तो गाय-भैंस चाटकर अपने बच्चे को साफ़ करती हैं और चिड़ियाँ बच्चों को दाना लाकर देती हैं। यदि वनमनुष्य दबाकर ख़ून बन्द करता है तो कुत्ता भी घास खाकर जुलाब लेता है और हाथी भी दवा करता है। यदि चिम्पांजी केवल ९ महीने के बालक की-सी बुद्धि रखता है तो चींटी सारे संसार का प्रबन्ध मनुष्य की भाँति, कर सकती है, इसलिए वनमनुष्य मनुष्यश्रेणी के नहीं हो सकते।

१०. मस्तिष्क की थ्योरी चींटियों के प्रमाण से नष्ट हो गई है। चींटियों के मस्तिष्क होता ही नहीं। यदि मानना ही पड़े की उनके मस्तिष्क होता है तो यह तो प्रत्यक्ष ही है कि वनमनुष्य (चिम्पांजी) के मस्तिष्क से बहुत छोटा होता है। जब चींटी बिना मस्तिष्क के सब काम करती है तब मनुष्य के मग़ज़ की तुलना दोनों को एक नहीं कर सकती। विकासवाद के लेखक ने स्वयं ही मनुष्य और पशु में अन्तर माना है[२]।

---

१. Could the ant have ruled the world? Lord Avebury has suggested that in the absence of man the ant might have become master of the earth. Now here do we find the ability to rule so well developed as in these remarkable insects, which enslave other insects—the aphides, into their service. The white ants or termites, display an even higher intelligence when the eggs are about to be laid by the queen, hiding away the mother for a period. The ants which might have won the race for mastery if man had not been.

Had the ant combined its balance of experiance and specialised instinct with greater bodily development, involving greater responsibilities and opportunities it might, in time, have stood forth as certainly a competitor for the mastery of the earth.

—*Hormsworth Popular Science,* Vol. I. p. 45-55.

२. शरीररचना और स्वभाव आदि में मनुष्य और अन्य पशुओं की समानता है, इसपर भी इसका अर्थ यह नहीं समझना चाहिए कि उनमें कोई अन्तर नहीं और मनुष्य तथा वानर सब अंशों में परस्पर सदृश हैं। यह कथन असङ्गत और वास्तविक अवस्था की अशुद्ध कल्पना देनेवाला है। —विकासवाद पृ० २२६

११. चौपाये से जब दो पाँव का होकर मनुष्य खड़ा हुआ तो आँत उतरने लगी। यदि ऐसा होता तो यह प्राणी इस डर से कभी खड़ा ही न होता। करोड़ों वर्ष के बाद भी यदि मनुष्य की आँत खड़े होने के कारण उतरती है तो उस समय जब यह चौपाये से दो पैरवाला होकर खड़ा हो रहा होगा, उस समय के समस्त द्विपद प्राणी आँत की बीमारी से आक्रान्त हो गये होंगे। यदि वास्तव में ऐसा होता तो कहना चाहिए कि कोई भी मनुष्य कभी खड़े होने की हिम्मत ही न करता। सत्य बात तो यह है कि यह रोग मनुष्य को इसलिए होता है कि वह खाने में बड़ा पेटू है। पशु इच्छा न होने पर नहीं खाते, किन्तु यह पेट भरा रहने पर भी खा लेता है। इसी से इसे यह बीमारी होती है। सर्वमान्य डॉक्टर लुई कुन्हे अपनी पुस्तक 'न्यू साइन्स ऑफ हीलिंग' के भाग २ पृष्ठ ३९९ पर लिखते हैं कि 'आँत के उतरने का कारण पेडू के भीतर विकारी द्रव्य के बोझ की खिंचावट है। अमाशय की झिल्ली के उन स्थानों में जहाँ तनिक-सी भी रुकावट मिल जाती है, अन्तड़ियाँ अत्यन्त अन्तरीय दबाव के कारण छेद कर देती हैं और बाहर निकल आती हैं। भिन्न-भिन्न पुरुषों की झिल्ली के फटने के स्थान भिन्न-भिन्न होते हैं, परन्तु कारण सदैव एक ही होता है। इसलिए इस रोग का कारण चोट, गिर पड़ना अथवा कोई और बतलाना भूल है। अन्य कारणों से भी झिल्ली फट सकती है, परन्तु आँत उतरने का कारण चोट आदि नहीं है। मेरी चिकित्सा रीति का सेवन करने से और इसके द्वारा विकारी द्रव्य को शरीर से निकाल देने से इस प्रकार के छिद्र आराम हो जाते हैं'।

प्रत्येक रोगी की झिल्ली भिन्न-भिन्न स्थान से फटती है। इसका कोई दूसरा कारण नहीं है। जब कुन्हे के उपाय से झिल्ली की छीरें आराम हो जाती हैं तब चौपाये से द्विपद होनेवाली बात सिवा बच्चों के खेल के और कुछ भी दम नहीं रखती। मस्तिष्क के कम-अधिक परिमाण का सिद्धान्त चींटियों ने नष्ट कर दिया है। मनुष्य के साथ किसी प्राणी की तुलना में मस्तिष्क की बात कुछ मूल्य नहीं रखती। हाथ-पैरों की समता का भी कुछ मूल्य नहीं। कहने को हाथ कह लीजिए, परन्तु जब वे चलने का—दौड़ने का काम देते हैं तब उनका नाम हाथ नहीं हो सकता। वे पैर ही हैं। जब तक वनमनुष्य दो पैर पर सीधे खड़े होकर चलने न लगें तब तक वे चतुष्पाद ही कहलाएँगे। ऐसी दशा में पैर को हाथ बतलाना उचित नहीं। मनुष्य के हाथ, हाथ हैं, परन्तु वनमनुष्य के हाथ, पैर हैं, अतएव हाथ के साथ पैरों की कोई तुलना नहीं हो सकती। बन्दर पैर से भी वस्तुएँ उठा सकते हैं और एक जंगली स्त्री भी पैरों से वस्तु उठा सकती है। इससे यह सिद्ध नहीं होता कि यह बन्दरों की निशानी है। अभ्यास करने से तो बाजीगर आँख से पैसा उठा लेते हैं और भानमती पानी के अन्दर मुँह डालकर जीभ से नथ में मोती पिरो देती हैं। क्या आप ये बातें बन्दरों में दिखला सकते हैं। अच्छे पहलवान पैर से दाव करते हैं, सरकसवाले पैर से अद्भुत-अद्भुत काम करते हैं तो क्या ये सब बन्दरों के ही चिह्न हैं ? इसी प्रकार अक़्कलडाढ़ की बात है। जंगली लोगों में यदि यह शीघ्र निकलती है तो उनके बन्दर से विकसित होने की यह दलील भी ठीक नहीं है। वेश्याओं की लड़कियों के स्तन बहुत शीघ्र निकल आते हैं तो क्या वे किसी शीघ्र जननेवाले प्राणी का विकास हैं ? अङ्गों का शीघ्र स्फुटित होना खाद्य-पेय, आचार-व्यवहार और जल-वायु पर अवलम्बित है। हमारा विश्वास है कि जंगली मनुष्यों में अक़्कलडाढ़ कच्चा अन्न और कच्चा मांस खाने से ही शीघ्र निकलती है और इसीलिए वह बड़ी भी होती है। किसी-किसी के शरीर पर बालों की अधिकता का कारण गर्भ में पुरुषशक्ति की अधिकता है। जब कभी गर्भ में यह शक्ति उचित परिमाण से कम या अधिक प्रविष्ट होती है, तभी सन्तान के रोमों पर प्रभाव होता है। पुरुषशक्ति अधिक होने से कभी-कभी स्त्रियों में भी डाढ़ी-मूँछ निकल

आते हैं और कभी-कभी न्यून होने से पुरुषों में भी डाढ़ी-मूँछ का अभाव हो जाता है। रोम, बाल, हड्डियाँ और स्नायु आदि कठिन पदार्थ पितृशक्ति से ही उत्पन्न होते हैं। इसलिए किसी-किसी में बाल अधिक देखकर बन्दरों के बालों का अनुमान नहीं करना चाहिए। यदि अधिक बाल वानरों का चिह्न है, तो जिन पुरुषों के मूँछ-डाढ़ी नहीं होतीं और जिन स्त्रियों के होती हैं, वे किसका विकास हैं ? क्या ऐसे बन्दर कभी किसी ने देखे हैं जिनके डाढ़ी के पास स्त्रियों की भाँति बाल बिलकुल न हों ? रहा वंशपरम्परागत बालों का होना, वह तो सहज ही सिद्ध है। जब एक बार सन्तान के बाल निकल आये तो वे धीरे-धीरे दश-पाँच पीढ़ी के बाद ही जाते हैं। जापान के ऐन्यू लोगों की सन्तान में अब बाल कम हो रहे हैं, इसलिए बालों की तुलना से मनुष्य वानरकक्षा का सिद्ध नहीं होता।

१२. अङ्गों को हिला न सकना इस बात की दलील नहीं है कि अब वे अङ्ग निकम्मे हो गये हैं। निकम्मे क्यों हुए? क्या पीठ पर बैठे मक्खी, मसे और मच्छर आदि उड़ाने की अब आवश्यकता नहीं है ? यदि कहो कि अब इनके उड़ाने के लिए दूसरे साधन हो गये हैं तो आँख, भौं, बाल, ओठ और मस्तिष्क सिकोड़ने हिलाने की शक्ति क्यों बनी हुई है ? इनकी शक्ति तो सबसे पहले ही चली जानी चाहिए थी, क्योंकि हाथ का साधन इनके समीप ही प्राप्त है। वास्तविक बात तो यह है कि परमात्मा ने जिस प्रकार के भोग भोगने के लिए जिसका जैसा शरीर बनाया है, उसमें उसी प्रकार के अवयव और शक्ति नियुक्त की है। गाल, भौं, मस्तक और ओठ का फड़काना, नचाना यदि बन्द हो जाता तो नाटक और नृत्यकारों का भाव कैसे समझ में आता तथा दो अपरिचित भाषावालों का परस्पर परिचय और संवाद कैसे जारी होता? सूँघकर पहिचानने की शक्ति सभी मनुष्यों में है। अनेक प्रकार के इत्र, अनेक प्रकार के फूलों की गन्धों के भेद, मल, मूत्र और पसीना आदि बासों का अन्तर और घी-तेल की बू का अन्तर प्राय: सभी जानते हैं, परन्तु अभ्यास के कारण इत्र बेचनेवाला सूँघकर इत्रों के भेद जितनी जल्दी बतला सकता है उतनी जल्दी ब्योरे के साथ प्रत्येक मनुष्य नहीं बतला सकता। इत्र बेचनेवाले इत्रों के पहचाननेवालों को बहुत बड़ा अमीर समझते हैं। वे कहते हैं कि अमुक नवाब साहब अच्छे सूँघनेवाले हैं। जिस प्रकार अभ्यास से गानेवाले स्वरों के भेदों को जानते हैं, जिस प्रकार उनको स्वरों के तनिक-तनिक-से भेद बहुत स्थूल सुनाई पड़ते हैं, उसी प्रकार सर्वसाधारण को वैसे भेद सुनाई नहीं पड़ते। इसी प्रकार सूँघने की भी बात है। जंगली और बेपढ़ेलिखे लोग प्राय: स्मरण से अधिक काम लेते हैं, इसलिए उनकी वह शक्ति बलवान् हो जाती है, परन्तु इसका यह अर्थ नहीं है कि ये उनके पूर्वजातियों के चिह्न हैं। राजपूताने में पदचिह्न पहचाननेवाले ऐसे-ऐसे मनुष्य हैं कि बहुत शीघ्र दूसरे के पैर के चिह्न को पहचानकर चोरों का पता लगा लेते हैं, परन्तु बतलाइए तो सही कि यह उनका अभ्यास किस पूर्वजाति का अवशिष्ट है ? रोएँ खड़े कर सकना मनुष्य को आवश्यक नहीं, क्योंकि वह रोमवाला प्राणी नहीं है, परन्तु सच्ची मनुष्यता के समय—हर्ष, आनन्द के समय उसके रोमाञ्च होता है, इसलिए रोमाञ्च करनेवाली नसें दुर्बल नहीं कही जा सकतीं। दुर्बल वस्तु एक बार भी काम नहीं देती। टूटा हुआ हाथ यदि एक बार भी काम दे दे तो उसे टूटा नहीं कहा जा सकता, परन्तु ये रोमाञ्चवाली नसें दुर्बल नहीं हुईं। न ये अपने समय में प्रतिदिन अनेक बार काम देती हैं। हाँ, उनपर क़ाबू नहीं है। क़ाबू तो हृदय पर भी नहीं है। कोई उसे ठहरा नहीं सकता, किन्तु वह अपने ढंग से अपना काम किये जाता है। क्या कोई उसे दुर्बल कह सकता है ? कोई नहीं। जब हृदय कमज़ोर नहीं है तो रोमाञ्चवाली नसें क्योंकर दुर्बल समझी जा सकती हैं ? रोमाञ्च मनुष्य का ही गुण है। यह अन्य पशुओं को प्राप्त नहीं है, इसलिए

इसकी औरों के साथ तुलना नहीं हो सकती।

१३. Vermiform Appendix नाम की थैली तो फलों की गुठली न खाने की धमकी देने के लिए है। मनुष्य फलाहारी प्राणी है। फलों में बेर, छुहारे, आम, जामुन और अन्य अनेक फलों में गुठलियाँ होती हैं, इसीलिए प्रायः लोग बच्चों को उक्त फलों को खाते समय धमका देते हैं कि ख़बरदार गुठली न खाना, नहीं तो पेट में वृक्ष उत्पन्न हो जाएगा। इसका यही तात्पर्य है कि गुठली न खाई जाए। गुठली में यदि हानि का डर न होता तो गुठली खाने में आदमी सावधान न रहता। परिणाम यह होता कि गुठलियों की कठोरता से पाचनशक्ति नष्ट हो जाती है और मनुष्य शीघ्र ही मर जाता, अतएव मनुष्यों में यह थैली इसी धमकी के लिए है, क्योंकि मनुष्य फलाहारी है, गुठली खा जाना उसके लिए सम्भव है। गर्भ में सारा शरीर बालों से छा जाने का तात्पर्य यह नहीं है कि मनुष्य गर्भ में अपने पूर्वरूप वानर का दृश्य दिखा रहा है। गर्भपरिवर्तन का तात्पर्य यदि केवल दृश्य दिखलाने का ही हो तब तो यह प्रश्न अवश्य उत्पन्न होता कि सबसे प्रथम एक सैल का आदि प्राणी अमीबा अपनी उत्पत्ति से किसका दृश्य दिखा रहा है, इसलिए गर्भ में बालों का कोई दूसरा ही प्रयोजन होना चाहिए। गर्भ में छह महीने के बाद बच्चे की खाल बाहर आने के योग्य होने लगती है, क्योंकि सात-सात महीने में अनेक बच्चे पैदा होते हैं और पूर्ण आयु तक जीते हैं, इसलिए उस खाल की जरायु में भरे हुए गन्दे पानी से रक्षा करने के लिए ही गर्भ में बालों का आयोजन होता है, क्योंकि बालों में पानी प्रविष्ट नहीं होता। रही मनुष्य के बालों के साथ वानरों के बालों की तुलना, वह किसी प्रकार नहीं हो सकती। बताइए तो सही किस वानर के सिर पर चार-चार फ़ीट लम्बे बाल होते हैं? बताइए तो किस वानर की डाढ़ी एक-एक गज़ लम्बी होती है? हमने चार फ़ीट लम्बे सिर के और तीन फ़ीट लम्बी डाढ़ी के बाल कई स्त्री-पुरुषों के देखे हैं। संसार में कोई प्राणी इस प्रकार के बाल नहीं रखता। तब कैसे कहा जा सकता है कि मनुष्य के बालों—रोमों की तुलना बन्दर के रोमों के साथ हो सकती है? मनुष्य का बच्चा जो सालभर तक रस्सी पकड़कर लटकने की शक्ति रखता है, इसका कारण यह नहीं है कि माँ के पेट में बन्दरों के बच्चे चिपके रहते हैं, इसलिए मनुष्य के बच्चों में भी यह शक्ति है, प्रत्युत इस शक्ति और अभ्यास का कारण बच्चे की मुट्ठी का बँधा रहना है। बच्चा गर्भ में मुट्ठी बाँधे ही रहता है। इसका कारण यह है कि यदि मुट्ठी खुली रहे तो डर है कि वह पेट की कोई चीज़ पकड़ ले और पैदा होते समय कठिनाई हो। परमात्मा ने हर बात का प्रबन्ध बड़ी बुद्धिमत्ता से किया हुआ है, परन्तु मनुष्य अपने अधूरे ज्ञान से ऐसा मतवाला हो रहा है कि वह कुछ-का-कुछ समझा करता है।

१४. मनुष्यों की यह पूँछ, पूँछ नहीं है। ग्रन्थकार स्वयं कहते हैं कि 'इसमें हड्डी नहीं होती केवल मांस और नसें होती हैं'। यह तो बढ़ा हुआ उस स्थान का मांस है। जिस प्रकार अमेरिका की अमेज़न नदी के किनारे रहनेवाले मनुष्यों के ओठ एक-एक फुट लम्बे होते हैं[१] उसी प्रकार इन मनुष्यों के उस स्थान की खाल भी बढ़ी हुई होती है, परन्तु जिस प्रकार उक्त अमेरिकन हाथी का विकास नहीं माने जाते उसी प्रकार ये भी बन्दरों का विकास नहीं हो सकते। दूसरी बात यह है कि मनुष्य वनमनुष्य का विकास है और वनमनुष्य के पूँछ होती नहीं तब मनुष्य में पूँछ कहाँ से आई? विशेषकर ऐसी दशा में जब वनमनुष्य और मनुष्य के बीच में एक और नरवानर apeman भी माना जाता है। गया ज़िले में फ़ीलपाव, फैज़ाबाद में अण्डवृद्धि और जगन्नाथपुरी की ओर घेघ बहुत बढ़ता है। मारवाड़ में पेट भी बढ़ता है। इसी प्रकार अफ़्रीका के मनुष्यों के

१. सरस्वती वर्ष १०, अंक ४

ओठ भी मोटे होते हैं, परन्तु इन सबमें ये नये अङ्ग नहीं फूट रहे। उक्त फ़ीलपाव आदि को रोग कहते हैं, परन्तु उसमें रोग की कोई बात नहीं है। न तो उसमें दर्द है, न पीड़ा है और न मौत का भय है। हमारे कहने का तात्पर्य यह है कि स्थानविशेष में होने के कारण इस मांसगत वृद्धि को—रोग-सदृश विशेषांग को पूँछ कहना उचित नहीं है।

१५. जावाद्वीप में जो खोपड़ी मिली है वह किसी बालक की होगी या फ्रीनालोज़ी के मत से मूर्ख की। लुप्तजन्तु-शास्त्रानुसार जिस प्रकार शशक जैसे घोड़ों का आविष्कार असत्य ठहरा है उसी प्रकार इन खोपड़ियों और अवयवों की बात है। विकासवाद के लेखक पृ० २५५ पर उसके विरुद्ध स्वयं ही कहते हैं कि 'वर्त्तमान मनुष्य और वनमनुष्य के पूर्णतया बीच की कड़ी के अन्वेषण की आशा रखना व्यर्थ है'। जब यह हाल है तब खोपड़ी की चर्चा करने की क्या आवश्यकता थी?

१६. जिन तत्त्वों से मनुष्य बना है उन्हीं से पशु बने हैं। मांस-ख़ून उनमें भी है। अन्न ही वे भी खाते हैं। जब सभी पञ्चरचित हैं तब लीख, रोग, ओषधि, नशा आदि यदि दोनों में एक समान ही प्रभाव करते हैं तब इसमें आश्चर्य क्या है? क्या इस समानता से मनुष्य पशु और पशु मनुष्य हो गये? हम पहले ही लिख आये हैं कि मनुष्य बालों का रंग बदलने से और पशु पानी में तैरने से एक जाति का सिद्ध नहीं होता।

१७. विकासवाद के अनुसार अनेक स्तरों की स्त्रियों से निश्चित होता है कि मनुष्य पिछली पीढ़ियों में स्याही, कुतिया, गिलहरी, बिल्ली और रीछ होकर मनुष्यरूप में आया है, किन्तु हमने अभी अमेरिका के लम्बे ओठवालों का हाल लिखा है जो हाथी की बनावट के कहे जा सकते हैं। तो क्या मनुष्य हाथीश्रेणी की योनियों में भी होकर आया है? अफ्रीका के बुशमैन बहुत दूर तक अँधेरे में देखते हैं और दौड़कर अपना शिकार भी पकड़ लेते हैं तो क्या मनुष्य गीध, उल्लू, सर्प और घोड़े की योनियों में होकर आया है? उसके पूँछ भी पाई जाती है तो क्या वह कुत्ता, बिल्ली, ऊँट, वानर आदि समस्त पूँछवाली योनियों में होकर आया है? यदि मनुष्य में किसी अन्य प्राणी के-से लक्षण इस बात का प्रमाण हैं कि वह उन-उन प्राणियों में होकर आया है तो संसारभर के मनुष्यों में यदि ऐसे गुण सूक्ष्मता से ढूँढ जाएँ तो संसार की ऐसी एक भी योनि न निकलेगी जिसके लक्षण मनुष्य में न पाये जाएँ। ऐसी दशा में क्या विकास इस बात को मान लेगा कि मनुष्य संसार की समस्त योनियों में होकर आया है? यदि ऐसा हो तो समझना चाहिए कि हैकल, हक्सले की २१ श्रेणियों की बात असत्य है, अर्थात् मनुष्य किसी विशेष-विशेष योनियों से ही सम्बन्ध नहीं रखता प्रत्युत संसारभर की योनियों से सम्बन्ध रखता है।

विकासवाद अपनी हठ से चाहे यह न माने, परन्तु बिना ऐसा माने मनुष्य का समस्त प्राणियों के साथ जो मेल दिखता है उसकी संगति नहीं लग सकती। हिन्दूशास्त्र तो यही कहते हैं कि मनुष्य संसार की समस्त योनियों में होकर आया है—वह चौरासी लक्ष योनियों के पश्चात् उत्पन्न हुआ है। वे कहते हैं कि पैदा होते ही दूध पीने की प्रवृत्ति, हर्ष, शोक और भय का संचार उसके अनेक जन्मों की सूचना है। पैदा होने के दिन ही जब इतने चिह्न पूर्वजन्म के पाये जाते हैं तब गर्भवास के समय में भी उसके जन्म-जन्मान्तरों के संस्कार उदय होते ही रहते होंगे। कहा नहीं जा सकता कि किस समय किस पूर्वजन्म की किस योनि के संस्कार उदय हो उठें। जिस प्रकार गर्भस्थ प्राणी के निज के संस्कार उदय होकर उसकी बनावट में अन्तर पैदा कर सकते हैं उसी प्रकार सगर्भा माता के विचार और व्यवहार भी गर्भस्थ पर अनेक प्रकार के प्रभाव डाला करते हैं। सुना जाता है कि जिस देश की स्त्रियों में यह रिवाज है कि गर्भिणी यदि ग्रहण पड़ने

के समय पानी में पैर डालकर न बैठे तो उसके गर्भ से बच्चा लूला-लँगड़ा पैदा होता है, वहाँ कभी-कभी ऐसा ही हो जाता है, परन्तु जहाँ इन बातों के संस्कार नहीं हैं, वहाँ ऐसा नहीं होता। माता के प्रभाव के अतिरिक्त देशकाल, जलवायु और अकाल-सुकाल का प्रभाव भी गर्भस्थ पर पड़ता है। वज्रपात, युद्ध और अग्निकाण्डों का भी प्रभाव होता है। इस प्रकार—

१. गर्भस्थ के संस्कार

२. माता के विचार तथा व्यवहार

३. देश की परिस्थिति में विशेषता उत्पन्न हो जाने तथा

४. गर्भस्थापन के समय अनेक वीर्यकणों के परस्पर मिल जाने से गर्भस्थ में विकृति उत्पन्न हो जाती है, इस विकृति के विषय में विकासवाद कहता है कि मनुष्यों के ये विकृत चिह्न—विशिष्टावशिष्ट अङ्ग—उन पिछली जातियों के चिह्न हैं, जिनसे मनुष्य विकसित हुआ है।

विकासवाद के इस आरोप के विरुद्ध सृष्टि ने कुछ ऐसी बातें प्रकट करके दिखला दी हैं कि जिनके सामने आते ही विकासवाद सदा के लिए अस्त हो जाता है। नरों के स्तन, अजा के गलस्तन, अश्व के स्तनों का अभाव, मेढ़ा के सींग और मनुष्य की छठी अंगुली ने विकासवाद के विशिष्टावशिष्ट अङ्गों की मिथ्या कल्पना का अन्त कर दिया है। बैल, भैंसा, बकरा, हाथी, ऊँट, सिंह, कुत्ता, वानर और पुरुषों में स्तन कब, क्यों और कैसे उत्पन्न हुए और घोड़ों के क्यों उत्पन्न नहीं हुए? बकरी के गले में स्तन क्यों होते है, मेढ़ा के सींग कहाँ से आ गये और मनुष्य के छठी अंगुली क्यों होती है? इन सब प्रश्नों का विकासवाद के पास कोई उत्तर नहीं है। जब से सृष्टि आरम्भ हुई—जब से अमीबा हुआ—तब से ही स्त्री-पुरुष—नर-मादा अलग-अलग नहीं थे। अमीबा अकेला ही नर-मादा का काम देता था, परन्तु कुछ ही पीढ़ियों के पश्चात् मसा, मक्खी, लीख, और जूँओं की उत्पत्ति के साथ ही नर और मादा का भेद हो गया, किन्तु स्तनों की उत्पत्ति नहीं हुई। इन कीड़ों के पश्चात् जोड़वालों—बिना हड्डीवालों की सृष्टि हुई, तब भी स्तन नहीं हुए। जोड़वालों के पश्चात् मत्स्य, मण्डूक और सर्पणशीलों की उत्पत्ति हुई, परन्तु अब भी स्तनों की उत्पत्ति नहीं हुई।

इनके बाद पक्षियों का नम्बर आया, परन्तु पक्षियों में भी स्तनों का अभाव ही रहा। हाँ, सबसे प्रथम चिमगादड़ में स्तनों का प्रादुर्भाव दिखलाई पड़ने लगा। यहीं से स्तनधारियों का क्रम शुरू हुआ। अब तक बिना स्तनों के ही, बच्चों की परवरिश का काम चलता रहा और किसी प्रकार की कोई हानि नहीं हुई। नर-मादा का भेद हुए भी लाखों पीढ़ियाँ व्यतीत हो गईं और सन्तति होते तथा उसका पालन-पोषण होते भी लाखों पीढ़ियाँ व्यतीत हो गईं, परन्तु अब तक किसी प्राणी के स्तन नहीं हुए। अब प्रंश्न होता है कि चिमगादड़ के स्तन क्यों हुए? पहले तो मादा में ही स्तनों की उत्पत्ति का कारण बतलाना विकासवाद के लिए समस्या है, फिर नरों में स्तनों के प्रादुर्भाव का कारण बताना तो उसके लिए दूनी समस्या है। यह संकट और भी अधिक बढ़ जाता है जब घोड़ें में स्तनों का बिलकुल ही अभाव देखा जाता है। इसी प्रकार यह समस्या और भी अधिक भयङ्कर रूप धारण करती है जब अजा के गलस्तनों का प्रादुर्भाव सामने आता है, क्योंकि नर-मादा की पृथक्ता स्तनधारियों के पूर्व ही पक्षियों और सर्पणशील तथा मण्डूक, मत्स्य और जोड़वाले कीड़ों के पूर्व ही हो चुकी थी, इसलिए कोई यह नहीं कह सकता कि नर-मादा में स्तनों की उत्पत्ति तब की है जब नर-मादा में भेद ही नहीं हुआ था।

हम देख रहे हैं कि नर-मादा का भेद हो जाने के लाखों-करोड़ों वर्ष पश्चात् स्तनधारियों की उत्पत्ति हुई है, तब आक्रमणपूर्वक प्रबलता से प्रश्न उत्पन्न होता है कि नरों के स्तन किस

पिछली योनि के अवशिष्टांग हैं और यदि अवशिष्टांग हैं तो फिर वे घोड़ों के क्यों नहीं होते? यदि कहा जाए कि ये विशिष्टांग हैं—नये निकल रहे हैं—तो प्रश्न यह है कि इनका उपयोग क्या है, ये किस प्रयोजन के लिए हैं और वह प्रयोजन घोड़े के लिए क्यों नहीं है? इसी प्रकार अजागलस्तन, मनुष्य की छठी अंगुली और मेढ़े के सींगों की उत्पत्ति का कारण भी अज्ञात ही है। बकरी के गले में जो स्तन होते हैं वे भी किसी प्राणी के अवशिष्टांग प्रतीत नहीं होते, क्योंकि ये बकरी के सिवा और किसी प्राणी में नहीं होते। ये विशिष्टाङ्ग भी प्रतीत नहीं होते, क्योंकि वंश परम्परा में इनका अस्तित्व नहीं देखा जाता।

यही हाल मनुष्य की छठी अंगुली का है। प्राणिसमूह के समस्त वर्गों, श्रेणियों, कक्षाओं और जाति-उपजातियों में, अमीबा से लेकर मनुष्यपर्यन्त एक भी प्राणी न कभी ऐसा हुआ और न इस समय है जिसके छह अंगुलियों के अस्तित्व की कल्पना की जा सके। ऐसी दशा में छठी अंगुली किसी प्राणी का अवशिष्टांग नहीं कही जा सकती। वह विशिष्टांग भी नहीं कही जा सकती, क्योंकि वह वंशपरम्परा से आगे नहीं चलती। देखा जाता है कि यदि माता के छह अंगुली हैं तो पुत्र के नहीं है। इसी प्रकार माता, पिता, पितामह आदि के नहीं हैं, परन्तु सन्तान के हैं। ऐसी दशा में यह तो कहा ही नहीं जा सकता कि छठी अंगुली का विकास हो रहा है और न यही कहा जा सकता है कि यह पिछली जातियों का चिह्न है। तब क्या विकासवाद इसकी उत्पत्ति का कोई कारण बतला सकता है?

इसी प्रकार मेष—मेढ़े के सींगों की उत्पत्ति बतलाना भी कठिन है, क्योंकि मेढ़ों में भी सींग वंशपरम्परा से नहीं होते। ये कभी कहीं अकस्मात् हो जाते हैं। सम्भव है विकासवादी इनको किसी सींगवाली पूर्वजाति का अवशिष्टांग कह दें, परन्तु इसमें कुछ भी सार नहीं है। जब नरों के स्तन और मनुष्यों की छठी अंगुली अवशिष्टांगो की कल्पना का खण्डन प्रबलता से कर रही है तब अवशिष्टांगों की बात पर कोई कैसे विश्वास कर सकता है? विकासवाद इन अङ्गों की उत्पत्ति के कारणों को बतला ही नहीं सकता। उसके पास कोई उत्तर नहीं है। इसका जो उत्तर है वह आस्तिकों का ही है, जो हम ऊपर लिख आये हैं कि गर्भवासी प्राणी के विचार, माता के व्यवहार, जलवायु का प्रभाव और वीर्यकणों का संयोग ही प्राणियों में विकृताङ्गता उत्पन्न कर देता है। अपवाद को छोड़कर प्रायः मनुष्य में ही विकृत अङ्ग उत्पन्न होते हैं। अन्य प्राणियों में अन्य प्राणियों के चिह्न उद्भूत नहीं होते।

जिस प्रकार मनुष्यों में आठ या दस स्तन और पूँछ आदि के चिह्न देखे जाते हैं, वैसे पशुओं में किसी अन्य पशु के चिह्न नहीं देखे जाते। वानरों में कभी आठ-दश स्तन नहीं देखे गये, न एक-साथ एक से अधिक बच्चे ही उत्पन्न होते देखे गये हैं। यद्यपि वे मनुष्यों की अपेक्षा अनेक स्तन और एक साथ अनेक सन्तान उत्पन्न करनेवाले पशुओं के अधिक निकट हैं। वानरों के एक साथ अधिक बच्चे हो ही नहीं सकते, क्योंकि वे तो बच्चे को छाती से चिपटाये रहते हैं। यदि दूसरा बच्चा भी पैदा हो जाए तो उसका पालन-पोषण ही नहीं हो सकता, परन्तु मनुष्य के अनेक स्तन और अनेक बच्चे एक साथ होते हुए देखे गये हैं। ऐसी दशा में न तो वानर ही अन्य पशुओं का विकास सिद्ध होता है और न मनुष्य ही वानरों से विकसित हुआ कहा जा सकता है और न यही कहा जा सकता है कि मनुष्यों के अनेक स्तन पूर्वजातियों के अवशिष्टांग हैं। मनुष्यों में इस प्रकार के अङ्गों की उत्पत्ति का कारण उसकी मानसिक शक्ति की विशेष उन्नति ही है। इसी उन्नति के कारण जिस प्रकार वह उत्पन्न होने के दिन ही हर्ष, शोक और भय प्रदर्शित करता है उसी प्रकार वह गर्भावस्था में भी स्वप्रवत् अनेक योनियों के संस्कारों का स्मरण करता रहता है।

ये संस्कार माता के किन्हीं विशेष विचारों और व्यवहारों तथा जलवायु, देशकाल आदि परिस्थिति के किसी विशेष योग को पाकर उसके शरीर में चौरासी लक्ष योनि में से किसी योनि का कोई अङ्ग उत्पन्न कर देते हैं, परन्तु पशुओं की मानसिक शक्ति इतनी प्रबल नहीं होती, इसलिए उनको अपनी पूर्व योनियों का स्मरण-संस्कार न होने से उनके अङ्गों में किसी अन्य योनि केअङ्गों के चिह्न उत्पन्न नहीं होते। यह आध्यात्मिक सिद्धान्त है। इसी का पोषक भौतिक सिद्धान्त भी है। भौतिक सिद्धान्तानुसार अनेक वीर्यकणों में से दो कण एक में मिल जाते हैं तभी विशिष्टांगों की उत्पत्ति होती है, इसलिए हम यहाँ इसका भी विचार कर लेना चाहते हैं।

कहने की आवश्यकता नहीं है कि मनुष्य का वीर्य छोटे-छोटे असंख्य दानों से बना होता है। वीर्य का प्रत्येक दाना एक-एक शरीर का बीज है। स्त्री के गर्भ में ये दाने जाते हैं, परन्तु अनेक कारणों से प्राय: सभी घिसकर—गलकर नष्ट हो जाते हैं, एकाध ही बच पाता है। कभी-कभी एक से अधिक दो चार भी बच जाते हैं और उतने ही बच्चे पैदा होते हैं। अपवादरूप से कभी घिसे हुए नष्टप्राय दानों के कोई-कोई अंश कभी छठी अंगुली के रूप में, कभी अनेक स्तनों के रूप में, कभी पूँछ के रूप में और कभी मस्से आदि के रूप में दिखलाई पड़ते हैं। इसी प्रकार मेढ़े के सींग भी होते हैं। भेड़ पर कभी-कभी बकरा चढ़ जाता है और उसका वीर्य गर्भाशय में गिर जाता है। उसी दिन मेढ़ा भी संयोग करता है और गर्भ स्थिर हो जाता है। बकरे के वीर्य में सींगों का उपादान होता ही है। यही अंश गर्भस्थ के शिर में खिंचकर जब जुड़ जाता है तब मेढ़े के भी सींग हो जाते हैं। यहाँ संसार में देखते हैं कि एक प्राणी के अङ्ग दूसरे प्राणी के शरीर में लग जाते हैं। पाँच पैर की गाय जिसने देखी है और उसके बनाने की विधि जो जानता है उससे छिपा नहीं है कि पाँचवाँ पैर दूसरी गाय का है और काटकर दूसरी में लगाया गया है। अभी मुम्बई में हमने इसी प्रकार से बना हुआ एक सींगधारी सीदी देखा था। विलायत में आजकल इस प्रकार के अनेक नमूने देखे जाते हैं—अन्य प्राणी के अङ्ग अन्य प्राणी में जोड़े जाते हैं। जिस प्रकार यहाँ, एक शरीर में दूसरे शरीर के अङ्ग जुड़ जाते हैं उसी प्रकार गर्भ में भी जुड़ जाते हैं।

थर्स्टन नामी विद्वान् अपनी 'वैवाहिक विज्ञान' नामक पुस्तक में लिखता है कि 'सगर्भा गाय साँड को कभी अपने पास नहीं आने देती। इतने पर भी यदि साँड़ उसपर अत्याचार कर ही ले तो जो बच्चा पैदा होगा वह तीन अथवा पाँच पाँव का—दो पूँछ अथवा दो शिर का होगा'। 'हिन्दी बंगवासी' की १७ मार्च सन् १९२४ में एक समाचार प्रकाशित हुआ था कि 'सर्विया की राजधानी वेलग्रेड के अस्पताल में २२ वर्ष के नवयुवक (पुरुष) के पेट से दो बच्चे निकाले गये हैं। इस घटना के कारणों पर विचार करते हुए वैज्ञानिकों ने अनुमान किया है कि जिस समय यह युवक अपनी माँ के पेट में था उस समय पेट में दो बच्चे और थे। किसी प्रकार वे दोनों इसके पेट में समा गये'। विकासवाद के लेखक पृष्ठ १६३ पर स्वयं लिखते हैं कि 'कइयों ने देखा होगा कि जिस वर्ष अकाल पड़ता है उस वर्ष न केवल वृक्षों की वृद्धि रुक जाती है, अपितु वृक्षों पर नये-नये अवयव फूट निकलते हैं'। इन प्रमाणों से यही सिद्ध होता है कि देश काल की परिस्थिति और गर्भदशा में अङ्गांशों के एक-दूसरे में जुड़ जाने से विशिष्टाङ्गों का प्रादुर्भाव हो जाता है, परन्तु स्मरण रखना चाहिए कि इन नवजात विकृत अङ्गों की वंशपरम्परा नहीं चलती, इसलिए ये अपवाद के अतिरिक्त और कुछ नहीं हैं। जिस प्रकार छठी अंगुली, नर-स्तन, मेढ़े के सींग और अजागलस्तन अपवाद हैं, उसी प्रकार मनुष्यों के पूँछ का चिह्न, स्त्रियों के आठ-आठ, दश-दश स्तन और इसी प्रकार के मस्से आदि अन्य अवयव भी अपवाद ही है, पूर्व जातियों के

चिह्न नहीं है, अतएव विकासवाद का यह अन्तिम, प्रबल और भरोसे का कल्पनामय प्रमाणशैल भी गिर गया, अब उसके पास एक भी प्रमाण शेष नहीं है।

विकासवाद का यह मनुष्योत्पत्ति प्रकरण, यदि विचार से देखा जाए तो वह तीन बातों से सम्बन्ध रखता है—

१. मनुष्य कपिवंश की उपजाति का है।

२. इसके और वनमनुष्य के मस्तिष्क में केवल परिमाण का अन्तर है और

३. मनुष्य में अब तक पूर्व जातियों के विशिष्टावशिष्ट अवयव विद्यमान है। इन तीनों में तुलना और विशिष्टावशिष्ट अवयवों का ही समावेश है। यह तुलनात्मक वर्णन कैसा दुर्बल है वह पिछले पृष्ठों में विकासवाद के लेखक की ही साक्षी से दिखला दिया गया है। मस्तिष्क की तुलना को विद्वानों ने चींटियों की नवीन खोज से अनुपयोगी सिद्ध कर दिया है और विशिष्टावशिष्ट अवयवों को पुरुष स्तनों, अजागलस्तनों, अश्वस्तनों, मेषशृङ्गों और मनुष्य की छठी अंगुली ने निस्सार सिद्ध कर दिया है, इसलिए जिस प्रकार समस्त अन्य पशुओं की योनियों का प्रादुर्भाव विकास के द्वारा सिद्ध नहीं हुआ, उसी प्रकार मनुष्यजाति का प्रादुर्भाव भी विकास के द्वारा सिद्ध नहीं होता। हमने आदि से अन्त तक देखा कि विकासवादियों के पास सिवा विशिष्टावशिष्ट अवयवों की चर्चा के अथवा सिवा सन्धियोनियों के बार-बार याद दिलाने के और कुछ भी सामग्री नहीं है। विशिष्टावशिष्ट अवयवों की निस्सारता दिखलाते हुए हमने उनकी उत्पत्ति का सच्चा कारण अच्छी प्रकार दिखला दिया है, अतः अब यहाँ सन्धियोनियों की भी चर्चा करके दिखला देना चाहते हैं कि सन्धियोनियों की उत्पत्ति का सच्चा प्रयोजन क्या है?

सन्धियोनियाँ

सन्धियोनियों को विकासवादी मध्यम कड़ियाँ (Missing Links) कहते हैं। वर्गीकरण, तुलनात्मक, लुप्तजन्तु और भौगोलिक शास्त्रों से इनके प्रमाण एकत्र किये जाते हैं। इनके तीन विभाग हैं—

१. जो प्राणी बिलकुल दो श्रेणियों के-से आकार रखते हैं जैसे चिमगादड़, डकबिल, आर्किओप्टेरिक्स और ओपोसम आदि।

२. जिनके कुछ अङ्ग निकम्मे हो गये हैं, जैसे ह्वेल, मयूर, शुतुर्मुर्ग़, पेंग्विन आदि।

३. जिनके कई अङ्ग अधिक प्रस्फुटित हो गये हैं, जैसे कई स्तनों की स्त्रियाँ, दुमवाले मनुष्य आदि।

संख्या एकवाले प्राणियों में स्पष्ट ही दो प्रकार के प्राणियों के-से चिह्न पाये जाते हैं। ये मध्यम कड़ियाँ हैं, परन्तु इनको विकासवादी जिस प्रकार की मध्यम कड़ियाँ मानते हैं वैसी नहीं हैं। इनका कारण पुनर्जन्म है। इन मध्यस्थ प्राणियों में दो प्रकार के प्राणी होते हैं, जैसे उड़नी गिलहरी और चिमगादड़, अथवा जैसे वानर और वनमनुष्य। इन दोनों में एक उन्नत है और दूसरा अवनत है। एक नीच श्रेणियों से होकर उच्च श्रेणियों में जा रहा है, दूसरा उच्च श्रेणी के प्राणी से पतित होकर नीचे जा रहा है। मनुष्य पाप-कर्म के कारण पशु-पक्षी बनने जा रहा है, अतः वह पहले वनमनुष्य होगा फिर बन्दर होगा तब नीचे जाएगा। दूसरा नीच प्राणी पाप भोगकर उत्तर-[illegible] योनियों में होता हुआ मनुष्य होने जा रहा है, अतः वह पहले बन्दर में आया फिर वनमनुष्य [illegible] मनुष्य हुआ। पशुयोनि से पक्षियोनि में जाने के लिए महान् अन्तर पड़ता है, अतः वहाँ [illegible] ति चिमगादड़, उड़नी गिलहरी, डकविल, आर्किओप्टेरिक्स, ओपोसम आदि

जन्तु बनाये गये हैं। ये सब उन्नत और अवनत दो रूप के हैं। कोई पक्षी से पशु हो रहा है तो कोई पशु से पक्षी। जिसमें पशुता अधिक है वह पशु से पक्षी हो रहा है और जिसमें पक्षीपना अधिक है वह पशु से पक्षी हो रहा है। यही दशा सर्वत्र समझनी चाहिए।

विकासवादियों को अब तक वनस्पति और कीटों का भेद ज्ञात नहीं हुआ। वे कहते हैं कि आदि का प्राणी वनस्पति और रेंगनेवालों के बीच का था, परन्तु यह बात सत्य नहीं है। सत्य तो यह है कि पहले वनस्पति हुई फिर जन्तु। वनस्पति की पहचान है कि वह कटने से दो हो जाने पर भी जीवित रहती है और जन्तु कटने पर जीवित नहीं रहते, परन्तु कहते हैं कि कई रेंगनेवाले कीड़े कटकर दो हो जाते हैं और दोनों जीते रहते हैं, जैसे मानेर और केंचुए (Earthworm) आदि। मानेर की जातिवाले कृमियों को तो हम कृमि कह ही नहीं सकते, क्योंकि वे बहुत सूक्ष्म हैं और अधिकतर वनस्पतिवर्ग के प्रतीत होते हैं, परन्तु केंचुआ तो स्पष्ट ही कृमि प्रतीत होता है। यह प्रत्यक्ष रेंगता और डील-डौल में भी बड़ा होता है। यद्यपि यह रेंगता है और बड़ा भी प्रतीत होता है, परन्तु यह सर्प की प्रकार का हड्डीवाला नहीं है। यह वृक्षों में लिपटी हुई पीले रंग की नागबेल की प्रकार का है। इसमें और नागबेल में जो चैतन्य का अन्तर है वह बहुत थोड़ा है। नागबेल भी वृक्षों पर रेंगकर ही फैलती है, इससे इसका मेल नागबेल ही से अधिक मिलता है, क्योंकि टुकड़े हो जाने पर दोनों का जीवित रहना पाया जाता है। जिस प्रकार नागबेल हर जगह से टुकड़े होकर अपना रूप धारण नहीं कर लेती, किन्तु जहाँ अंकुर होता है वहीं से बढ़ती है, उसी प्रकार केंचुआ भी अमुक स्थान से कटने पर ही दो रूप में जीवित रहता है, प्रत्येक स्थान पर कटने से नहीं।

केंचुए के बीच में एक स्थान होता है, जहाँ छोटे-छोटे छिद्र होते हैं। इन छिद्रों में ही दूसरा प्राणी उत्पन्न करने का बीज रहता है। इनमें नर-मादा अलग-अलग नहीं होते। ये परस्पर लिपटकर उन्हीं बीज-छिद्रों में बीज की बदली और पुष्टि तथा वृद्धि करते हैं। इनको बीच से काटने पर यदि बीज-छिद्र दुम की ओर रह गया तो वह भाग भी जानदार हो जाता है, परन्तु यदि पूँछ की ओर छिद्र न हुआ तो वह टुकड़ा जीवित नहीं रहता। जिस प्रकार किसी मनुष्य के हाथ-पाँव काट डालो तो कटे हुए हाथ-पैर ज़िन्दा न रहेंगे, किन्तु जिस ओर शिर है, वह धड़ जीवित रहेगा, उसी प्रकार केंचुए के शरीर में भी सर्वत्र चेतना नहीं है। उसके अगले भाग ही में चैतन्य है। इससे स्पष्ट हो गया कि जीव सर्वत्र शरीरभर में फैला हुआ विभु पदार्थ नहीं है। केंचुए के पूँछवाले टुकड़े के साथ यदि बीज-छिद्र भी लगा हो तो वह टुकड़ा जीवित हो जाएगा। इससे ज्ञात हुआ कि बीज-छिद्र में जीवन है। बीज-छिद्र के पूँछ की ओर चले जाने से जहाँ पूँछवाला टुकड़ा जीवित हो जाता है और शिर की ओरवाला टुकड़ा बिना बीज-छिद्र के भी जीवित रहता है, जैसे मनुष्य का धड़। इससे स्पष्ट हो गया कि केंचुएँ का निज का जीव तो शिर की ओर है और दूसरे केंचुएँ उत्पन्न करनेवाले बीज (जीव) बीच में रहते हैं। कटने पर ये बीज जब पूँछ की ओर जाते हैं तब मुर्दा पूँछ को अपना धड़ बना लेते हैं और छिद्र को मुख बनाकर नये केचुए बन जाते हैं। मनुष्य आदि प्राणी में और इनमें यही अन्तर है, परन्तु इनका यह अन्तर वृक्षों के साथ मिल जाता है।

संसार में जितने वृक्ष हैं सबके वंशविस्तार का एक ही क्रम नहीं है। कोई वृक्ष फलों के द्वारा, कोई जड़ों के द्वारा, कोई डालियों के द्वारा वंशविस्तार करते हैं। केंचुए का मिलान डालियों के द्वारा वंशविस्तार करनेवाले वृक्षों के साथ मिलता है। डाली से दूसरा वृक्ष बनानेवाले वृक्ष की डाली काट लीजिए तो वृक्ष नहीं मरता, परन्तु यदि डाली ऐसी जगह से कटकर आई है कि जहाँ

अंकुर निकल सकता हो तो वह डाली नया वृक्ष बन जाएगी, किन्तु यदि साथ में अंकुर नहीं आया तो सूख जाएगी। इससे ज्ञात हुआ कि अंकुर में नया वृक्ष उत्पन्न करनेवाला बीज विद्यमान है। यह बीज उस डाल को अपना शरीर बना लेता है और आप सारे वृक्ष का जीव बनकर बैठ जाता है। जो अवस्था इस डाल की है वही अवस्था केंचुए की है। नागबेल की दशा भी बिलकुल इसी प्रकार की है, इसीलिए हमने केंचुए को नागबेल की जाति का माना है। इस विवरण से न तो चेतन जीव के कटने की कोई बात सिद्ध होती है और न इस सिद्धान्त का ही खण्डन होता है कि वृक्ष कटकर जीते रहते हैं और कृमि कटने से मर जाते हैं। यह सिद्धान्त अब भी वैसा ही बना हुआ है। केंचुए का उदाहरण सन्धियोनि का है, इसलिए वह अपवाद है, सिद्धान्त नहीं।

बन्दर और वनमनुष्य जिस प्रकार मनुष्यों और पशुओं के बीच में हैं और उड़नी गिलहरी और चिमगादड़ जिस प्रकार उतरने-चढ़ने की दो सन्धियाँ पशु और पक्षियों के बीच में हैं, ठीक उसी प्रकार नागबेल और केंचुआ भी कीड़ों और वनस्पतियों के बीच में है। केंचुए में कृमिपना और नागबेल में वृक्षपना अधिक है। केंचुआ नागबेल होकर आया है और कृमियों की ओर जा रहा है तथा नागबेल केंचवे के शरीर में होकर आई है और वनस्पति की ओर जा रही है। इस प्रकार से संसार की समस्त सन्धियोनियाँ जीवों को भिन्न-भिन्न योनियों में फिरने के लिए पुल का काम दे रही हैं। बिना इस प्रकार की सन्धियोनियों के पुनर्जन्म का काम चल ही नहीं सकता, इसलिए किसी प्राणी में दो जातियों के शारीरिक चिह्न देखकर उसे उन जातियों का विकास मानना भ्रम है।

दूसरी संख्यावाले अङ्गों का जो ह्रास हुआ बतलाया जाता है, यह भी भूल है। ये अङ्ग जब उनका पूरा काम दे रहे हैं—ह्वेल के पैर और पेंग्विन के पर जब पानी में तैरने का काम दे रहे हैं—तब क्यों माना जाता है कि उनके अङ्ग निर्बल हो गये? मोर के पर कुत्ते आदि से बचने के लिए पूरा काम दे रहे हैं। कुत्ता बकरी को जिस आसानी से पकड़ लेता है, मोर को नहीं पकड़ सकता, तब कैसे सिद्ध हो गया कि उसके परों का ह्रास हुआ है? यहाँ तो उलटा यह सिद्ध होता है कि परमात्मा ने कर्मानुसार जिसका जैसा शरीर बनाया है वह अपना जीवन-निर्वाह बहुत अच्छी प्रकार से कर रहा है और कर सकता है, बशर्ते कि मनुष्य हस्तक्षेप न करे। अङ्गों का निर्बल और सबल होना अपेक्षाकृत है। चील से मोर कम उड़ सकता है, पर इसका मतलब यह नहीं है कि परिस्थिति के कारण मोर के पर दुर्बल हो गये हैं। परिस्थिति से कोई पक्षी कभी अपने पर जैसे शीघ्रगामी विमान को छोड़कर पैर से चलनेवाले पशु का रूप धारण नहीं कर सकता, इसलिए अङ्गों का ह्रास मानकर सन्धियोनियों की कल्पना करना भूल है।

तीसरे क्रमवालों में अपवादरूप से कभी-कभी, कोई-कोई अङ्ग ऐसे निकल आते हैं जिससे विकासवादी कहते हैं कि ये चिह्न इनकी पूर्वजाति के हैं जो कभी-कभी दर्शन दे देते हैं, परन्तु हमने पिछले पृष्ठों में बतला दिया है कि पुरुषस्तन, छठी अंगुली, अजा गलस्तन और भेड़ (मेष) के सींग तथा नर घोड़े के स्तनों का अभाव और उसके पैर में पर के चिह्न ऐसे अङ्ग हैं जो उक्त बात को खण्डित कर देते हैं। पुरुषस्तनों का सिलसिला क्यों चला? क्या कभी पहले पुरुषों—नरों—के भी गर्भ होता था? कभी नहीं। तब ये चिह्न कहाँ से आये? अच्छा, फिर ये चिह्न घोड़े के क्यों नहीं होते। इसी प्रकार बकरे, बैल आदि में ये चिह्न अण्डकोशों के पास क्यों होते हैं? और बकरी के गले में स्तन क्यों है? क्या सृष्टि में कहीं कोई ऐसा भी जन्तु था जिसके गले में स्तन रहे हों? तब फिर ये कहाँ से आये? छोटे-छोटे पतङ्गों—कीड़ों के पर होते हैं, मछलियों के भी पर होते हैं, वे समुद्र में परों से दूर तक उछल भी जाती हैं, परन्तु क्या कोई कह

सकता है कि ये पर उनकी पूर्वजातियों के अवशिष्ट हैं ? कीड़ों के पूर्व अमीबा था, परन्तु वह परदार नहीं था, तब कीड़ों में पर कहाँ से आये ? यदि कहो कि अगले वंश के लिए उत्पन्न हुए हैं तो इन्हीं से बहुत आगे चलकर उत्पन्न मण्डूकों और सर्पणशीलों में पर क्यों नहीं हैं ? हड्डीवालों में मछली प्रथम प्राणी है, परन्तु इसके भी पर हैं। ये किस पूर्वजाति के अवशिष्ट हैं ?

प्रयाग की प्रदर्शिनी में एक मत्स्य-स्त्री आई थी और एक चुकन्दर की जड़ में मनुष्य की आकृति तथा एक दूसरे वृक्ष में मनुष्य के हाथ की आकृति देखी गई है[१]। क्या कोई बतला सकता है कि ये चिह्न उनकी पूर्व जातियों के हैं ? क्या वृक्षों और मछलियों के पूर्व भी मनुष्य था ? वृक्षों और मछलियों के पूर्व मनुष्य का अस्तित्व तो विकासवादी भी नहीं मानते तब फिर ऐसे चिह्नों का क्या कारण है ? यदि कहो कि आगे चलकर इन चिह्नोंवाली जातियाँ होनेवाली हैं तो इन चिह्नों का सिलसिला वंशानुक्रम से आगे नहीं चलता। ये अपवाद हैं, इसलिए अपवादों को लेकर किसी विद्या के सिद्धान्त बनाना बहुत बुरा है।

यहाँ तक हमने सन्धियोनियों का वर्णन करके देखा तो इससे भी विकासवाद को कुछ लाभ न दिखा, प्रत्युत हानि तो प्रत्यक्ष ही है। अब विकासवाद के पास प्रमाणों का अस्तित्व नहीं है। यहाँ तक विकासवाद का लक्षण, स्वरूप और प्रमाणों का वर्णन हुआ अब आगे विकास की विधि, अर्थात् विकास किस प्रकार होता है, उस रीति का वर्णन करते हैं।

विकास की विधि और प्रकार

विकास किस प्रकार का होता है—किस प्रकार एक प्राणी से दूसरा बन जाता है, किस प्रकार मछली का मेंढक, मेंढक का साँप, साँप का मोर और मोर की गाय बन जाती है—उसी का वर्णन विकासवाद के कर्त्ता ने अपने ग्रन्थ के पृष्ठ १५० से २०० तक में किया है। यहाँ उसी का सारांश लिखते हैं। आप कहते हैं कि तुलना, गर्भ और प्रस्तरीभूत प्राणियों के प्रमाणों से दिखलाया गया है कि प्राणियों की विभिन्नता संसार के प्रारम्भ से नहीं है। आदि में सब प्राणियों के जोड़े अलग-अलग उत्पन्न हुए, यह बात युक्ति, विचार और प्रमाणशून्य है। प्राणियों की विभिन्नता का कारण परिस्थिति और स्वाभाविक परिवर्तन ही हैं। यह परिवर्तन यन्त्र के अनुसार ही होता है। यन्त्र के दृष्टान्त में तीन बातें हैं—निर्माता के अनुकूल बन जाना, यन्त्र की अन्तिम अवस्था तक पहुँचने से पूर्व यन्त्र की जातियाँ बन जाना और सर्वश्रेष्ठ रचना का स्थिर रहना। जो अवस्था यन्त्र के विकास की है, वही प्राणियों के विकास की भी है।

विकास की प्रथम विधि में सबसे प्रथम बात अनुकूलन की है। इसको अंग्रेज़ी में Adaptation कहते हैं। इसका तात्पर्य यह है कि प्राणी परिस्थिति के अनुकूल बन जाते हैं। अनुकूलन के दो तत्त्व हैं—

१. भिन्न-भिन्न परिस्थितियों के कारण प्राणियों में परिवर्तन उद्भूत होते हैं और

२. वे परिवर्तन सन्तति में संक्रमित होते हैं, अर्थात् सन्तान को मिलते हैं। परिवर्तनों (Variation) के भी तीन कारण हैं—परिस्थिति (Environment), कार्य (function), और पैतृक संस्कार (Hereditary Influences)। परिस्थिति से अभिप्राय सरदी, गरमी, वर्षा, नदी, नाले, वन, पहाड़ और उनमें बसनेवालों के प्रेम, भय, भूख, प्यास और रोग आदि हैं। ठण्डे देशों के आदमी जब गर्म देशों में जाते हैं तब उनको क्षय रोग हो जाता है, इसी प्रकार जब गर्म देशवाले सर्द देशों में जाते हैं तब उनको भी फेफड़ों की बीमारी हो जाती है। अँधेरे में वृक्षों के

१. 'विश्व की विचित्रता'—मुंशी नवलकिशोर प्रेस, लखनऊ।

सकता है कि ये पर उनकी पूर्वजातियों के अवशिष्ट हैं? कीड़ों के पूर्व अमीबा था, परन्तु वह परदार नहीं था, तब कीड़ों में पर कहाँ से आये? यदि कहो कि अगले वंश के लिए उत्पन्न हुए हैं तो इन्हीं से बहुत आगे चलकर उत्पन्न मण्डूकों और सर्पणशीलों में पर क्यों नहीं हैं? हड्डीवालों में मछली प्रथम प्राणी है, परन्तु इसके भी पर हैं। ये किस पूर्वजाति के अवशिष्ट हैं?

प्रयाग की प्रदर्शिनी में एक मत्स्य-स्त्री आई थी और एक चुकन्दर की जड़ में मनुष्य की आकृति तथा एक दूसरे वृक्ष में मनुष्य के हाथ की आकृति देखी गई है[१]। क्या कोई बतला सकता है कि ये चिह्न उनकी पूर्व जातियों के हैं? क्या वृक्षों और मछलियों के पूर्व भी मनुष्य था? वृक्षों और मछलियों के पूर्व मनुष्य का अस्तित्व तो विकासवादी भी नहीं मानते तब फिर ऐसे चिह्नों का क्या कारण है? यदि कहो कि आगे चलकर इन चिह्नोंवाली जातियाँ होनेवाली हैं तो इन चिह्नों का सिलसिला वंशानुक्रम से आगे नहीं चलता। ये अपवाद हैं, इसलिए अपवादों को लेकर किसी विद्या के सिद्धान्त बनाना बहुत बुरा है।

यहाँ तक हमने सन्धियोनियों का वर्णन करके देखा तो इससे भी विकासवाद को कुछ लाभ न दिखा, प्रत्युत हानि तो प्रत्यक्ष ही है। अब विकासवाद के पास प्रमाणों का अस्तित्व नहीं है। यहाँ तक विकासवाद का लक्षण, स्वरूप और प्रमाणों का वर्णन हुआ अब आगे विकास की विधि, अर्थात् विकास किस प्रकार होता है, उस रीति का वर्णन करते हैं।

विकास की विधि और प्रकार

विकास किस प्रकार का होता है—किस प्रकार एक प्राणी से दूसरा बन जाता है, किस प्रकार मछली का मेंढक, मेंढक का साँप, साँप का मोर और मोर की गाय बन जाती है—उसी का वर्णन विकासवाद के कर्त्ता ने अपने ग्रन्थ के पृष्ठ १५० से २०० तक में किया है। यहाँ उसी का सारांश लिखते हैं। आप कहते हैं कि तुलना, गर्भ और प्रस्तरीभूत प्राणियों के प्रमाणों से दिखलाया गया है कि प्राणियों की विभिन्नता संसार के प्रारम्भ से नहीं है। आदि में सब प्राणियों के जोड़े अलग-अलग उत्पन्न हुए, यह बात युक्ति, विचार और प्रमाणशून्य है। प्राणियों की विभिन्नता का कारण परिस्थिति और स्वाभाविक परिवर्तन ही हैं। यह परिवर्तन यन्त्र के अनुसार ही होता है। यन्त्र के दृष्टान्त में तीन बातें हैं—निर्माता के अनुकूल बन जाना, यन्त्र की अन्तिम अवस्था तक पहुँचने से पूर्व यन्त्र की जातियाँ बन जाना और सर्वश्रेष्ठ रचना का स्थिर रहना। जो अवस्था यन्त्र के विकास की है, वही प्राणियों के विकास की भी है।

विकास की प्रथम विधि में सबसे प्रथम बात अनुकूलन की है। इसको अंग्रेज़ी में Adaptation कहते हैं। इसका तात्पर्य यह है कि प्राणी परिस्थिति के अनुकूल बन जाते हैं। अनुकूलन के दो तत्त्व हैं—

१. भिन्न-भिन्न परिस्थितियों के कारण प्राणियों में परिवर्तन उद्भूत होते हैं और

२. वे परिवर्तन सन्तति में संक्रमित होते हैं, अर्थात् सन्तान को मिलते हैं। परिवर्तनों (Variation) के भी तीन कारण हैं—परिस्थिति (Environment), कार्य (function), और पैतृक संस्कार (Hereditary Influences)। परिस्थिति से अभिप्राय सरदी, गरमी, वर्षा, नदी, नाले, वन, पहाड़ और उनमें बसनेवाले के प्रेम, भय, भूख, प्यास और रोग आदि हैं। ठण्डे देशों के आदमी जब गर्म देशों में जाते हैं तब उनको क्षय रोग हो जाता है, इसी प्रकार जब गर्म देशवाले सर्द देशों में जाते हैं तब उनको भी फेफड़ों की बीमारी हो जाती है। अँधेरे में वृक्षों के

१. 'विश्व की विचित्रता'—मुंशी नवलकिशोर प्रेस, लखनऊ।

पत्ते पीले पड़ जाते हैं। ठण्डे देशों के कुत्ते जब गर्म देशों में जाते हैं तब मर जाते हैं। अवर्षण के साल वृक्ष सूख जाते हैं और उनमें नाना प्रकार के अवयव फूट निकलते हैं। कार्य (Function) से भी शरीर में परिवर्तन होता है। लोहार का हाथ कठोर हो जाता है और जो भिखारी हाथ ऊँचा किये फिरते हैं उनका हाथ पतला हो जाता है। इसी प्रकार पैतृक संस्कारों से भी शरीर में परिवर्तन होते हैं। कुष्ठ आदि बीमारियाँ सन्तति में आती हैं। विलायत में प्रायः भूरे बाल और काली आँखवालों से श्वेत केश और भूरी आँखवाली सन्तति होती है। ये थोड़-से परिस्थिति, कार्य और पैतृक संस्कारों से होनेवाले परिवर्तनों के नमूने हैं।

विकास की दूसरी विधि डारविन के प्राकृतिक चुनाव की है। इसके पाँच तत्त्व हैं—

१. परिवर्तनों की सर्वत्र विद्यमानता,

२. अत्युत्पादन (Over-production),

३. जीवन-संग्राम (The struggle for existence),

४. अयोग्यों का नाश और योग्यों की रक्षा (Survival of the fittest)

५. योग्यताओं का सन्तति में संक्रमण।

इनमें से परिवर्तन का अभिप्राय यह है कि प्रत्येक प्राणी की सन्तति में ही भेद होता है। इस भेद का भी नियम है। उदाहरणार्थ इग्लैंड में सबसे अधिक संख्या उन पुरुषों की है जो ५ फ़ुट ८ से ९ इञ्च तक लम्बे होते हैं। इनसे कम वे हैं जिनकी लम्बाई ५ फ़ुट ७ इञ्च से ८ इञ्च तक और ५ फ़ुट ९ इञ्च से १० इञ्च तक है। इनसे भी कम वे हैं जिनकी लम्बाई ५ फ़ुट ५ इञ्च से ६ इञ्च तक और ५ फ़ुट १० इञ्च से ११ इञ्च तक है। इन सबसे कम वे हैं जिनकी लम्बाई इनसे भी कम या अधिक होती है। इस घटना से यह नियम बना कि यदि पर्याप्त संख्या का मध्यमान ५ फ़ुट ८ इञ्च ज्ञात है और उससे अमुक लम्बाई न्यूनवालों की संख्या भी ज्ञात है तो अधिक लम्बाईवालों की संख्या बतलाई जा सकती है। यह परिवर्तन के निश्चित नियम का नमूना है।

अत्युत्पादन का तात्पर्य यह है कि १५ वर्ष में एक चिड़ी के जोड़े से दो अरब से कुछ अधिक सन्तति उत्पन्न होती है। पेट का एक कीड़ा तीस करोड़ अण्डे देता है। इनमें कई एक तो ऐसे कीड़े हैं जो चौबीस घण्टे में एक करोड़ साठ सत्तर लाख सन्तति उत्पन्न करते हैं। यदि सुख-शान्ति हो तो २५ वर्ष में मनुष्यसंख्या भी दूनी हो जाती है। एक जोड़े हाथी से ८०० वर्षों में दो करोड़ के क़रीब सन्तति होती है। इसी को अत्युत्पादन कहते हैं।

जीवन-संग्राम का तात्पर्य यह है कि सृष्टि में प्रत्येक स्थान पर संग्राम हो रहे हैं। चींटियों में ही युद्ध के कारण करोड़ों की मृत्यु होती है। कई मछलियाँ एक ऋतु में डेढ़ करोड़ अण्डे देती हैं, परन्तु उनके सिर पर बैठे हुए शत्रु उन्हें नष्ट कर देते हैं। एक ऋतु तक रहनेवाले पौधों से २० वर्ष की अवधि में १० लाख पौधे पैदा होते हैं, परन्तु उनके सब दाने अच्छी भूमि में नहीं पड़ते, इससे सन्तति का नाश हो जाता है। वर्षा, तूफ़ान, भूकम्प, सिंह, व्याघ्र, सर्प आदि से और अपने स्वजातियों से सदा असंख्य प्राणियों का नाश होता रहता है। इसी प्रकार नाना प्रकार की बीमारियाँ भी करोड़ों प्राणियों का नाश कर देती हैं। इसी को जीवन-संग्राम कहते हैं।

योग्यों के चुनाव का तात्पर्य यही है कि इन संग्रामों में वही बचते हैं जो दूसरों से योग्य होते हैं और वही मरते हैं जो दूसरों से अधिक निर्बल होते हैं। प्राकृतिक चुनाव की प्रवृत्ति रक्षा की अपेक्षा नाश करने की ओर अधिक है। यही योग्यों का चुनाव है।

योग्यताओं का—विशेषताओं का सन्तति में संक्रमण होता है। एक ही जाति की भिन्न-भिन्न

प्रकार के हज़ारों-लाखों व्यक्तियों को उत्पन्न करने में प्रकृति का हेतु यही प्रतीत होता है कि यदि इनमें से दो-चार या दश-पाँच भी परिस्थिति के अनुकूल होकर बच जाएँ तो उनसे उस जाति का अस्तित्व बना रहे। डारविन की यही विकासविधि है।

विकास की तीसरी विधि लामार्क की है। लामार्क कहता है कि कार्य (Function) से प्राप्त हुआ परिवर्तन सन्तति में आता है। ज़िराफ नामी पशु ने पत्तों के लिए गर्दन उठाई। उसकी सन्तति ने भी प्रयत्न किया। परिणाम यह हुआ कि गर्दन आगे को बढ़ गई। अगली सन्तति ने और अधिक प्रयत्न किया। परिणाम यह हुआ कि गर्दन आगे को बढ़ गई। अगली सन्तति ने और अधिक प्रयत्न किया और गर्दन थोड़ी और बढ़ाई। इस प्रकार बहुत पीढ़ियों तक प्रयत्न करने से उस पशु की गर्दन बहुत लम्बी हो गई।

विकास की और एक विधि, कृत्रिम और प्राकृतिक चुनाव की भी है। पशुओं के पालने-वाले कृत्रिम चुनाव से ही अच्छे-अच्छे बैल और घोड़े उत्पन्न करते हैं। किसान अच्छे बीज से ही अच्छी फ़सल पैदा करते हैं। इस कृत्रिम चुनाव से ही कबूतरों को अनेक प्रकार का बना दिया गया है। जापान के मुर्गों की पूँछ बीस-बीस फ़ीट की लम्बी कर दी गई है। यह कृत्रिम चुनाव की विधि है। आस्ट्रेलिया के शशकों में पहले वृक्ष पर चढ़ने लायक़ नाख़ून न थे, परन्तु अब वैसे ही नाख़ून निकल रहे हैं। यह प्राकृतिक चुनाव का नमूना है।

विकास में कार्यकारणभाव देखा जाता है। इंग्लैंड की गाएँ विधवा स्त्रियों के अधीन जीती हैं। वहाँ एक क्लॉवर (Clover) नाम की वनस्पति होती है। इसकी वृद्धि मक्खियों पर निर्भर है। मक्खियों के अण्डे जब चूहे खा जाते हैं तब घास की वृद्धि मारी जाती है, परन्तु इंग्लैंड की विधवा स्त्रियाँ बिल्लियों को पालती हैं, बिल्लियाँ चूहों को खा जाती हैं, मक्खियों के अण्डे बच जाते हैं और मक्खियों की ख़ूब वृद्धि होती है। इन मक्खियों के परों में केसर पराग लग-लगकर उस घास में संयुक्त होती हैं, जिससे क्लॉवर की ख़ूब वृद्धि होती है और गाएँ उसे आनन्द से खातीं तथा वंश विस्तार करती हैं। इस प्रकार गायों का विधवाओं के साथ कार्यकारणभाव देखा जाता है। यहाँ भारत में भी जहाँ बिल्लियाँ होती है, वहाँ चूहे नहीं होते और जहाँ चूहे नहीं होते वहाँ प्लेग भी नहीं होता। मुसलमानों के घरों में प्राय: मांस की अधिकता रहती है, इसलिए बिल्लियों का पालना उनके लिए अधिक सरल होता है, अत: मुसलमानों में प्लेग भी बहुत कम होता है। यह भी कार्यकारणभाव का नमूना है।

आनुवंशिक परम्परा पर डारविन की सम्मति यह है कि शरीर के प्रत्येक अवयव के प्रत्येक कोष्ठ से उस-उस कोष्ठ के गुणधारी बहुत सूक्ष्म भाग (Gemmules) उत्पन्न होते हैं। ये सूक्ष्म भाग शरीर में सन्तति उत्पादक रजकणों में इकट्ठे हो जाते हैं। इनमें उसी प्रकार के शरीर उत्पन्न करने की शक्ति होती है, जिस प्रकार के शरीर में ये बनते हैं। ये शरीर की प्रतिकृतियाँ ही हैं। इन्हीं से शरीर उत्पन्न होते हैं। इसपर वाइज़मन (Wiseman) की सम्मति यह है कि शरीर के प्रत्येक कोष्ठ में क्रोमेटिङ्ग (Chromating) रहता है। इसी में आनुवंशिक गुण रहते हैं। इसमें माता और पिता के समान गुण विद्यमान रहते हैं। गर्भवृद्धि के साथ-साथ यह भी बढ़ता है और इसकी धारा सन्तति-अनुसन्तति तक लगातार बहती चली जाती है। यदि बीच में कोई परिवर्तन उद्भूत हो तो वह सन्तति में संक्रमित नहीं होता। यह कल्पना नहीं, प्रत्युत सूक्ष्मदर्शक यन्त्र से देखा जा सकता है। पहले वैज्ञानिक इसे नहीं मानते थे, किन्तु अब इसी का आदर करते हैं। यह डारविन के सिद्धान्त का पोषक है। मेंडल नामक विद्वान् ने यह तत्त्व निश्चित किया है कि पुत्र का पिता की अपेक्षा दादा के साथ अधिक मेल दिखलाई पड़ता है। डी० वाइज़ कहता है कि

नई-नई जातियाँ, कभी-कभी एकदम बिना किन्हीं पूर्व चिह्नों के उत्पन्न हो जाती हैं। इनको वह स्वयं परिवर्तित-(Spontaneous Modification)-जाति कहता है। ओसबोर्न (Osborne), बाल्डविन (Baldwin) तथा लायडमार्गन यह सम्मति देते हैं कि डार्विन और लामार्क के मत को मिला देने से प्राणियों का विकास अधिक अच्छे प्रकार सिद्ध किया जा सकता है। नेगेली (Naegeli) तथा ऐमर (Eimer) के सिद्धान्त पर कइयों का अधिक विश्वास है। अज्ञात तथा अज्ञेय शक्ति, आकस्मिक घटना तथा हेतुवाद (Teleology) पर भी कइयों का विश्वास होने लगा है। इससे स्पष्ट कह सकते हैं कि वह वास्तविक और स्वाभाविक है।

इस सारांश में तीन ही बातें हैं—

१. आदि में भिन्न-भिन्न जोड़े नहीं हुए, प्रत्युत एक ही प्राणी से सबका विकास हुआ है।

२. यन्त्रों के अनुसार ही सब विकसित हुए हैं और

३. सबका अनुकूलन होता है, परिवर्तन होता है और वह परिवर्तन सन्तति में संक्रमित हो जाता है। अनेक विद्वानों के एतद्विषयक मत इसी की पुष्टि करते हैं। हम समझते हैं कि उपर्युक्त वर्णन का यह चुम्बुक निकालने में बहुत करके ग़लती नहीं मालूम होती, अतः क्रम से इन सबका उत्तर दिया जाता है।

१. कई विद्वानों ने जो विकासवाद के माननेवाले हैं स्वीकार कर लिया है कि बहुत-से प्राणी अलग-अलग पैदा होते हैं और बहुत-से बिना रूप बदले आदि से अब तक वैसे ही बने हुए हैं। हक्सले अपने 'एनीवर्सरी एड्रेस' में कहते हैं कि 'प्रत्येक पशु और वनस्पति की महान् जातियों में विशेष व्यक्तियाँ ऐसी होती हैं जिनको मैं Persistent type, अर्थात् स्थिर आकृति का नाम देता हूँ। इनके स्वरूप में आदिसृष्टि से लेकर वर्त्तमान कालपर्यन्त कोई ऐसा प्रकट विकार नहीं हुआ जो प्रतीत हो सके'। विकासवाद का दूसरा बड़ा विद्वान् 'डी० वाइज़' कहता है कि नई-नई जातियाँ, कभी-कभी, एकदम बिना किसी पूर्व चिह्नों के उत्पन्न हो जाती हैं। इस विषय के तीसरे ज्ञाता टी०एल० स्ट्रेंज महोदय हैं। इन्होंने The 'Development of the Creation on the Earth' नामी एक बहुत अच्छा ग्रन्थ लिखा है। उसमें आप लिखते हैं कि जलकृमियों में बहुत प्रकार के भिन्न-भिन्न स्वरूपवाले जलजन्तु प्रतिदिन उत्पन्न होते रहते हैं। ये जन्तु एक ही जन्तु से विकृत होकर नहीं होते, प्रत्युत स्वतन्त्ररूप से, बिना दूसरे की अपेक्षा के, एक ही समय में, भिन्न-भिन्न शरीरों में उत्पन्न होते हैं। इन प्रमाणों से स्पष्ट होता है कि अलग-अलग जोड़े उत्पन्न होते हैं। आज भी अलग-अलग प्राणी अपने जोड़ों के साथ नये-नये रूप से उत्पन्न होते देखे जाते हैं, इसलिए यह आवश्यक नहीं कि दूसरे प्राणी से विकसित होकर ही दूसरे प्राणी बनें। लाखों प्राणी आदिसृष्टि से एक ही आकार में बने हुए हैं। अमीबा स्वयं उसी आकार में अब तक बना है, जिस आकार में वह उत्पन्न हुआ था। ऐसी दशा में कैसे कहा जाता है कि पृथक्-पृथक् जोड़े पैदा नहीं हुए।

२. यन्त्र के दृष्टान्त में भी कुछ जान नहीं है। यन्त्र के उद्देश्य में और शरीर के उद्देश्य में आकाश-पाताल का अन्तर है। यन्त्र अपने लिए या दूसरों के लिए बनाया जाता है, यन्त्र के लिए नहीं, परन्तु यह शरीर, शरीर बनानेवाले के लिए नहीं बनाया जाता प्रत्युत शरीर और शरीरों के लिए ही बनाया जाता है। क्या कोई साइकिल उसी साइकिल के लिए बनाई गई है ? नहीं। वह तो बनानेवाले या बनानेवाले की जातिवालों के लिए बनी है, परन्तु यह शरीर न तो बनानेवाले के लिए और न उसकी जाति के लिए बना है, प्रत्युत उसी शरीर या उसी शरीर की जाति के लिए बनाया गया है। ऐसी अवस्था में शरीर के साथ यन्त्रों की तुलना नहीं हो सकती। हम पहले ही

लिख आये हैं कि यन्त्र उत्तरोत्तर टिकाऊ बनते हैं, परन्तु यहाँ तो सर्प और कछुआ १५० वर्ष जीते हैं और उनसे आगे बननेवाले दूसरे समस्त प्राणी उनसे कम जीते हैं। पक्षी से स्तनधारी बनाने में विकासवाद ने बड़ा ही धोखा खाया है। उसने पक्षी से ही मनुष्य को बनाया है जो उड़ने की शक्ति खोकर आज हवाई जहाज़ बनाने में सिर मार रहा है, इसलिए यहाँ यान्त्रिक दृष्टान्त ठीक नहीं बैठता।

३. अनुकूलन से परिवर्तन और परिवर्तन का सन्तति में संक्रमण बताया जाता है। विकासवाद का असल और मौलिक सिद्धान्त यही है। इसी पर सारा भवन खड़ा है। इसपर सैकड़ों मनुष्यों ने अनेक ग्रन्थ लिखे हैं, अतएव ऐसे प्रधान विषय को हम भी तनिक विस्तार से लिखना चाहते हैं। इसमें अनुकूलन, परिवर्तन और संक्रमण—ये तीन शब्द बड़े महत्त्व के हैं। अनुकूलन उसको कहते हैं कि जब जैसा देश, काल और स्थिति आवे तब उसको सह लेना और उसके अनुकूल हो जाना, अर्थात् परिस्थिति को अपने अनुकूल बना लेना या उसके अनुकूल बन जाना। अनुकूलन से परिवर्तन होता है। गर्मी के दिनों की खाल से सर्दी के दिनों की खाल में बड़ा अन्तर हो जाता है। कसरत और बिना कसरतवाले शरीर में भी अन्तर पड़ता है। इसी प्रकार इन परिवर्तनों का सन्तति में संक्रमण भी होता है। यह सब-कुछ ठीक है, परन्तु इस थोड़े-से अनुकूलन, परिवर्तन और संक्रमण से यह बात कहाँ से निकल आई कि इससे साँप की भैंस हो जाती है?

हम यदि प्रश्न करें कि पशुओं के शरीर पर बाल क्यों होते हैं तो यही उत्तर मिलेगा कि सर्दी से बचने के लिए। अच्छा टेराडेल्फ़िगो के आदमी जो सर्दी के कारण इतने ठिगने हो गये कि डारविन को ख़ुद उन्हें मनुष्य समझने में शंका हुई तो फिर अनुकूलन के लिए उनके शरीरों पर बड़े-बड़े बाल क्यों नहीं निकले? विकासवादियों के पास इसका कोई उत्तर नहीं है, परन्तु हम लोगों की दृष्टि में इसका यही उत्तर है कि यदि उनके शरीर पर रीछ के समान बाल निकल आते या कोई अन्य अवयव इधर-का-उधर हो जाता तो उनका अन्य मनुष्यों के साथ समान प्रसव बन्द हो जाता और उनकी अलग एक जाति बन जाती, परन्तु परमेश्वर को एक जाति से दूसरी जाति बनाना स्वीकार नहीं है, इसलिए उनके शरीरों में कोई विकार नहीं हुआ।

इस उदाहरण से हमें अनुकूलन का यह तत्त्व ज्ञात हुआ कि अनुकूलन उतना ही होता है जितना उस प्राणी की रक्षा से सम्बन्ध रखता है। यह नहीं कि वह और-का-और हो जाए। अनुकूलन में ही परिवर्तन का उदाहरण भी मिला हुआ है। टेराडेल्फ़िगो के मनुष्यों में अनुकूलन से जितना परिवर्तन होना था उतना ही हुआ। यद्यपि विकासवाद की दृष्टि से छोटे होने की अपेक्षा बाल निकलना अधिक आवश्यक था, परन्तु बाल न निकलकर शरीर ही छोटा हुआ। इस परिवर्तन को अनुकूलन नहीं कह सकते प्रत्युत प्रतिकूलन ही कह सकते हैं। यन्त्र के उदाहरण से कह सकते हैं कि यह छोटे शरीर की मशीन पहली से ख़राब ही बनी, क्योंकि कोई मशीन पहली मशीन से छोटी—दुर्बल बन जाए, कोई मनुष्य किसी देश में जाकर छोटा या दुर्बल हो जाए तो यह परिवर्तन उसके अनुकूल नहीं, प्रत्युत प्रतिकुल ही कहा जाएगा, किन्तु विकासवाद की विचित्र व्याख्या है, जिसमें अनुकूल और प्रतिकूल अनुकूल ही कहलाते हैं। जिस प्रकार इस उदाहरण में अनुकूलन और परिवर्तन का सिद्धान्त भरा है उसी प्रकार परिवर्तन का सन्तति में संक्रमण भी स्पष्ट दिखलाई पड़ रहा है। टेराडेल्फ़िगो के मनुष्यों ने परिवर्तित होकर जितना परिवर्तन अपनी सन्तति को दिया है, उतना ही स्थिर है। जितने ठिगने वे हज़ारों वर्ष पूर्व थे, उतने ही अब भी हैं। यह नहीं है कि प्रतिवर्ष अधिकाधिक ठिगने होते जाते हों। यही गुणों का संक्रमण

है। पिता अथवा पितामह की ही भाँति बन जाना संक्रमण है, और-का-और बन जाना नहीं।

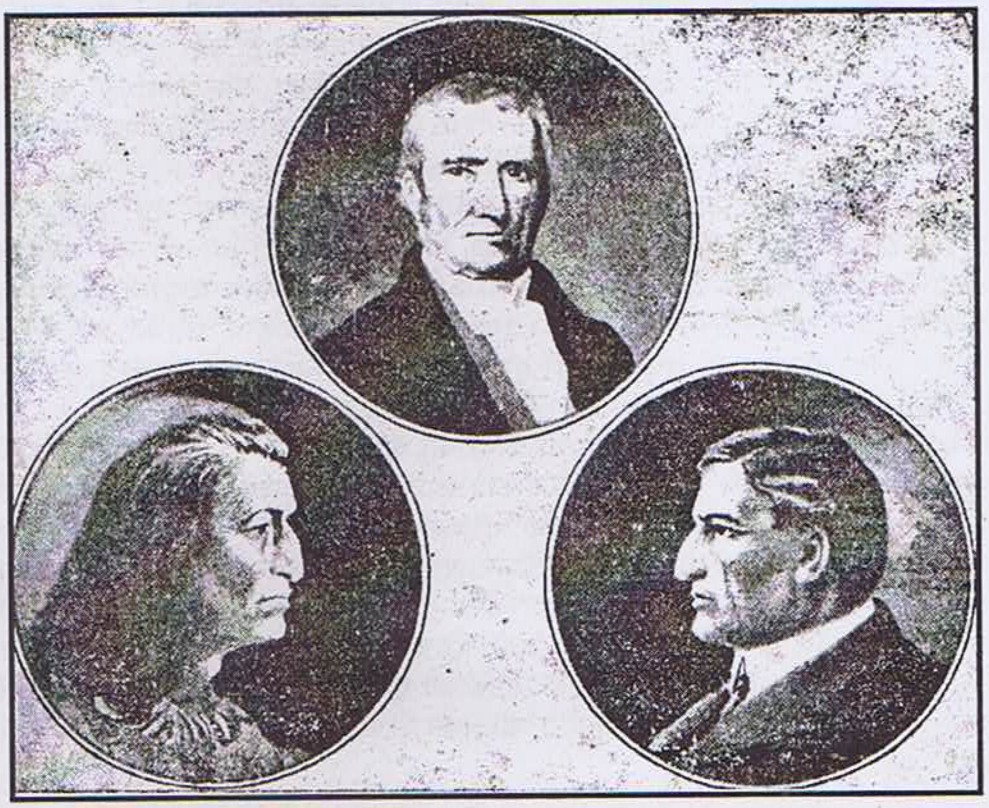
यहाँ तक विकास की तीनों विधियों का स्पष्टिकरण हो गया और परिवर्तन की तीनों विधियों (परिस्थिति, कार्य और पैतृक संस्कारों) का मर्म भी उक्त विवेचन में आ गया। फिर भी इतना और जानना चाहिए कि इनमें अभी मतभेद है। विकासवाद के कर्त्ता लिखते हैं कि 'पैतृक संस्कार' (Hereditary Influence) का प्रश्न बड़े महत्त्व का है। इसपर अभी पूरा विचार नहीं हुआ, क्योंकि 'बफन' नामक विद्वान् परिस्थिति को महत्त्व देता है। वह कहता है कि गर्म देश में रहने से शरीर काले हो जाते हैं और वह रंग उनकी सन्तति में आता है, परन्तु 'लामार्क' नामक विद्वान् कहता है कि इसका कारण 'कार्य' है। देखो लोहार का दाहिना हाथ मज़बूत होता है और यह बात जन्म से ही उसके लड़के में होती है, किन्तु डारविन इन दोनों के विरुद्ध प्राकृतिक चुनाव को ही महत्त्व देता है। वह कहता है कि संक्रमणशीलता का कारण प्राकृतिक चुनाव है। यद्यपि इन सबमें मतभेद है, परन्तु परिवर्तन सब मानते हैं। ठीक है, परिवर्तन तो हम भी मानते हैं। एक घर में ही भिन्न-भिन्न आकृति, बल और बुद्धि के मनुष्य हैं तथा देश-देशान्तरों के मनुष्यों में भी अन्तर है, परन्तु वे सब दूसरी जाति तो नहीं बन गये? हैं तो सब मनुष्य ही?

अब आगे डारविन के प्राकृतिक चुनाव (Natural Selection) को देखते हैं। उसके पाँच तत्त्व हैं। १. परिवर्तनों की सर्वत्र विद्यमानता, २. अत्युत्पादन, ३. जीवन-संग्राम, ४. योग्यों का चुनाव और ५. उस योग्यता का सन्तति में संक्रमण।

इनमें सबसे प्रथम परिवर्तन की बात है, किन्तु हम देखते हैं कि प्रकृति में सर्वत्र परिवर्तन विद्यमान नहीं है। अभी हम ऊपर स्थिर योनियों का वर्णन कर आये हैं कि उनमें आदिसृष्टि से लेकर आज तक परिवर्तन नहीं हुआ। अमीबा आज भी वैसा ही बना हुआ है जैसा लाखों वर्ष पूर्व था। हाइड्रा भी वैसा ही बना हुआ है। इसी प्रकार जितने भी प्राणी देखने में आ रहे हैं बिलकुल वैसे ही हैं जैसे वे लाखों वर्ष पूर्व थे। विकासवाद और हमारे मध्य इतना ही तो झगड़ा है। विकासवाद कहता है कि प्रत्येक स्थान पर निरन्तर परिवर्तन अव्याहत गति से चालू है। हम कहते हैं कि प्रत्येक वस्तु की आयु के हिसाब से तो परिवर्तन हो रहा है, सब प्राणी या तो जवान हो रहे हैं या वृद्ध हो रहे हैं, जिसे ह्रास-वृद्धि कह सकते हैं, परन्तु ऐसा नहीं है कि पृथिवी धीरे-धीरे रेल बन रही है और समुद्र पुच्छलतारा हो रहा है। जिस प्रकार पथिवी रेल नहीं बन रही और समुद्र पुच्छलतारा नहीं बन रहा, उसी प्रकार कबूतर भालू नहीं बन रहा, घोड़ा साँप नहीं बन रहा और गधा बिच्छू नहीं बन रहा।

जलवायु, माता-पिता और पूर्व संस्कारों के कारण जो परस्पर भिन्नता दिखलाई पड़ती है, उतना ही परिवर्तन है। यह न समझना चाहिए कि आगे चलकर किसी देश के आदमी हरे रंग के होनेवाले हैं अथवा किसी देश के ऊँटों के शिर पर सींग निकालनेवाले हैं। जो प्रदेश समुद्र में हैं, यद्यपि उनके जलवायु का पता नहीं है कि वहाँ यदि भूमि निकल आवे और आदमी बस जाएँ तो लाखों वर्ष में वे किस प्रकार के हो जाएँगे, परन्तु इतना तो निश्चय है कि जो रूप-रंग और आकार-प्रकार इस समय संसार में प्रस्तुत है, इन्हीं में तनिक-से हेर-फेर के साथ वहाँ का भी रूप-रंग और आकार-प्रकार होगा। ऐसा न होगा कि अटलांटिक सूखने पर यदि कोई टापू बनेगा तो वहाँ के निवासी ८५ हज़ार वर्ष में बैंगनी रंग के हो जाएँगे और उनके कान बढ़कर पैर तक आ जाएँगे, जिनका यदि वे बुद्धि से प्रयोग करेंगे तो मज़े में पक्षी के परों का काम देंगे। ऐसी बातें शराबघर की गप्पें हैं।

The Effect of Environment



Mr. Bryce points out that the physical features of a people are determined chiefly by their environment. These illustrations show (at top) a typical English settler in the old colonial days of America, a native Red Indian (left) and a typical American of to-day (right). Without any intermingling of red men and white the modern American, thanks to the climatic condition, resembles the Red Indian far more closely than he does his own ancestor of the colonial days.

(Harmsworth History of the World, Vol. I, p. 23)

परिवर्तन का एक उत्तम नमूना अमेरिका में बन रहा है। यूरोप से जो विदेशी अमेरिका में जाकर बसे हैं, क्रम-क्रम से उनका आकार-प्रकार वहाँ के मूल निवासी रेड इण्डियनों का-सा हो रहा है। यह बात सामने के चित्रपट में अच्छी प्रकार दिखलाई पड़ती है। इसमें अलग-अलग तीन चित्र हैं। ऊपरवाला चित्र अमेरिका में उपनिवेश बसाने के समय गये हुए अंग्रेज़ यात्रियों का है, बाईं ओर का चित्र अमरीका के मूलनिवासी रेड इण्डियन का है और दाहिंनी ओर का चित्र अमेरिका के वर्त्तमान निवासियों का है। यद्यपि दाहिनेवाला चित्र ऊपरवालों की सन्तान का ही है, परन्तु आकृति में उसकी जितनी समता अमेरिका के मूल निवासी रेड इण्डियनों के साथ है, उतनी अपने पूर्वज अंग्रेज़ों के साथ नहीं है।

अंग्रेज़ों को इंग्लैंड से अमेरिका गये हुए अभी पूरे चार सौ वर्ष भी नहीं हुए, क्योंकि सन् १५९८ में सबसे पहले कोलम्बस ने अमेरिका का पता लगाया था। उसके पश्चात् ही से यूरोपवालों का अमेरिका में जाना आरम्भ हुआ और इस आरम्भिक गमनागमन के बहुत दिन पश्चात् वहाँ अंग्रेज़ों ने उपनिवेश बसाया है। इसी से कहते हैं कि इंग्लैंडनिवासियों को अमेरिका में पहुँचे हुए अभी पूरे चार सौ वर्ष भी नहीं हुए, परन्तु इंग्लैंडवाले इतने ही थोड़े समय में लाखों वर्ष से बसे हुए रेड इण्डियनों के रूप-रंग के हो गये हैं। इससे ज्ञात होता है कि रेड इण्डियनों का परिवर्तन बन्द है। यदि ऐसा न होता तो दोनों का कभी साम्य न होता। चार सौ वर्ष में यदि अंग्रेज़ मूल निवासियों-जैसे हो पाये तो रेड इण्डियन उतने ही वर्षों में दूसरी ही प्रकार के हो जाते, किन्तु वहाँ के जलवायु ने जितना कुछ परिवर्तन करना था उतना उनमें भी लाखों वर्ष पूर्व ही कर डाला था। यह एक ऐसी बात है जो विकासवाद के परिवर्तन की बेतहाशा दौड़ को धीमा कर देती है। हमने यहाँ टेराडेल्फ़िगो और अमेरिकावालों का परिवर्तन दिखलाकर यह बतलाया कि परिवर्तन की हद है, बेहद परिवर्तन नहीं होता, अर्थात् जो कुछ परिवर्तन होता है वह नियमित और मर्यादित होता है। उससे एक जाति की दूसरी जाति नहीं बन जाती और न परस्पर का सम्बन्ध ही टूटता है, इसलिए मर्यादित परिवर्तन से डारविन का अमर्यादित परिवर्तन सिद्ध नहीं होता।

दूसरी बात अत्युत्पादन की है। अत्युत्पादन और उत्पादन में बहुत बड़ा अन्तर है। अत्युत्पादन मानुषीय है और उत्पादन ईश्वरीय है। ये दोनों एक बड़े प्रबल नियम के अनुसार होते हैं जिसके छह विभाग हैं—

१. कर्मानुसार जाति, आयु और भोगों को लेकर पैदा होना,

२. अपनी जाति, आयु और भोगों से उनको हानि-लाभ पहुँचाना, जिनका कभी हानि-लाभ किया था,

३. पहले भोग्य और पश्चात् भोक्ता का उत्पन्न होना,

४. सब प्राणियों के जोड़े बराबर बने रहना, अर्थात् यदि किसी जाति के नर या मादा की अमुक संख्या मार दी जाए तो उसकी अधिक उत्पत्ति होकर युग्म पूरे हो जाना,

५. बिना पूर्ण आयु जिये यदि बीच में किसी जाति की अमुक संख्या मार दी जाए तो उसकी वह संख्या शीघ्र उत्पन्न हो जाना और

६. यदि पैदा होनेवाले जीवों (लिङ्गशरीरों) को पैदा होने के लिए पर्याप्त माता-पिता न मिलें तो शेष माता-पिताओं में ही अत्युत्पादन द्वारा पैदा होकर सृष्टि को विकृत करना।

इन छह विभागों में तीन ईश्वरीय उत्पादन के हैं और तीन अत्युत्पादन के। जब तक प्राणियों में अकाल मृत्यु नहीं होती, तब तक ईश्वरीय नियमित उत्पादन होता रहता है, परन्तु जब हिंसा,

भूख, युद्ध और प्राकृतिक विप्लवों से प्राणियों की अकालमृत्यु होती है तभी से अत्युत्पादन का आरम्भ होता है। प्राणियों की अकालमृत्यु का कारण मनुष्यों की कामुकता और सृष्टिविस्तार है, इसलिए मनुष्य स्वयं जब तक अपने नियमों को ठीक न करे और स्वयं सन्तति उत्पन्न करना कम न करे तब तक मनुष्यसमाज में कलह, युद्ध, बीमारियाँ और पाप कम नहीं होते। पापी मनुष्य ही अन्य योनियों में जाते हैं, भीड़ उत्पन्न करते हैं और अकालमृत्यु के द्वारा मरते और मारे जाते हैं, परन्तु यदि मनुष्य दूसरों को उत्पन्न करना कम कर दे तो स्वयं भी उत्पन्न न हो, अर्थात् जन्म-मरण से रहित हो जाए। मनुष्य के मोक्षाभिमुखी होते ही नियमित वंश रह जाएँ और संसार की भीड़ छँट जाए। नियमित सन्तति की नियमित वृद्धि के लिए जिस प्रकार पृथिवी अब तक स्थान देती जा रही है उसी प्रकार आगे भी पहाड़, समुद्र और मरुस्थल धीरे-धीरे रूप बदल-बदलकर ख़ुराक उत्पन्न करने योग्य होते जाएँगे, परन्तु अनियमित अत्युत्पादन के लिए पृथिवी में स्थान नहीं है। यदि मनुष्य मोक्षाभिमुखी हो जाए तो यहाँ की भीड़ छँट जाए और तकरार बन्द हो जाए। पहले समय में न तो इतनी वृद्धि थी, न कलह। इसका कारण यही था कि मनुष्य सादे, कम सन्तति पैदा करनेवाले और मोक्षाभिमुखी थे।

सृष्टि में जो अत्युत्पादन शक्ति देखी जाती है वह स्वाभाविक नहीं, किन्तु नैमित्तिक है और बहुत थोड़े दिन से है। जब से मनुष्यों ने स्वाभाविक जीवन निर्वाह करना छोड़ दिया तभी से सृष्टि में 'वंशवृद्धि' और अकारण मृत्यु का क्रम आरम्भ हुआ। मनुष्यों ने अपने बुद्धि-स्वातन्त्र्य से सृष्टि के नियमों का भंग करके महान् व्यतिक्रम उत्पन्न कर दिया है और सृष्टि को उसके स्वाभाविक मार्ग से च्युत कर दिया है। प्राणियों की जो बहुलता देखी जाती है उसके अनेक कारण हैं। प्रथम कारण तो यह है कि आजकल मोक्ष का मार्ग रुका हुआ है। प्राणियों का वास्तविक निवास अनन्त परमात्मा है। वहाँ न जाकर जब प्राणी संकीर्ण स्थानों में ही एकत्र होने लगते हैं, तब नि:सन्देह भीड़ अधिक हो जाती है। भीड़ के कारण बीमारी, दुष्काल और युद्ध होते हैं। जिससे सब प्राणी अल्पायु में ही मरते हैं और अपने शेष फल भोगने के लिए उन्हीं योनियों में फिर आते हैं। उधर मनुष्य भी अधिक पापी होकर उन्हीं योनियों की संख्या बढ़ाते हैं। बढ़ी हुई सृष्टि के कारण सबको पोषण और शान्ति नहीं मिलती, अत: अल्पायु में ही सब मरते अथवा मारे जाते हैं और फिर-फिर पैदा होते हैं। कभी-कभी तो मरे हुओं को पैदा होने के लिए पर्याप्त माता-पिता ही नहीं मिलते। जो माता-पिता शेष बच जाते हैं, उन्हीं के गर्भ से सबके सब उत्पन्न होने लगते हैं, जिससे प्रतीत होता है कि एक ही प्राणी बहुत-सी सन्तति पैदा करता है।

प्राणियों के भक्षण, जंगलों के नाश और खनिज तथा यान्त्रिक उद्योगों से मनुष्यों ने सृष्टि में महान् व्यतिक्रम (disturbance) पैदा कर दिया है। यदि मनुष्य मांस खाना छोड़ दे तो सब प्राणी अपनी पूर्ण आयु भोगकर ठीक मृत्यु के समय मरें और मृत्यु पर मरे हुए प्राणियों के मृत शरीर, मांसाहारी जन्तुओं को मिलें। परिणाम यह हो कि अभी जो प्राणी भूख से अन्य प्राणियों को जीता ही मारकर खा जाते हैं, यह क्रम बन्द हो जाए। अकालमृत्यु से बचे हुए ये प्राणी अपनी पूर्ण आयु तक जीकर अपने भोग भोगकर दूसरी योनियों में चले जाएँ और वहाँ भी इसी सुविधा के अनुसार कर्मफलों को भोगकर मनुष्य हो जाएँ। मनुष्य होकर अपना कर्त्तव्य कर्म करें तो मोक्ष हो जाए। इस प्रकार यह मोक्ष की सड़क यदि खुल जाए और सब मनुष्य उधर के पथिक बन जाएँ तो अत्युत्पादन, जीवन-संग्राम और बलवानों की जीत आदि का सारा क्रम बन्द हो जाए।

मांस-भक्षण की भाँति जंगलों का काटना भी है। मनुष्यों ने जंगलों को काटकर अपनी वास्तविक ख़ुराक फल का और पशुओं के चारे-घास का स्रोत बन्द कर दिया है। जंगलों के

कटने से बरसात भी बन्द हो गई है, अत: पोषण के लिए जितना अन्न चाहिए उतना उत्पन्न नहीं होता। इससे भी अकालमृत्यु की वृद्धि हुई है। इसी प्रकार कल-कारख़ानों, यन्त्रों, तन्त्रों और खनिज पदार्थों के निकलने से भी मनुष्यों और पशुओं का कर्मक्षेत्र रुका है तथा प्राकृतिक विप्लव (disturbance) हुआ है। जंगलों के कटने से मेघों में और भौगर्भिक उत्पात से वायुचक्र तथा विद्युत् आदि में न जाने क्या-क्या अस्वाभाविकता आई है और भीतर-ही-भीतर ज्ञात नहीं प्राणियों को पूर्ण आयु जीने में कितनी रुकावट हुई है। कहने का तात्पर्य यह कि इस समय मनुष्यों ने मनुष्य, पशु-पक्षी, कीट-पतङ्ग, तृण-पल्लव, खान-पहाड़ और नदी-समुद्र आदि सभी को अस्वाभाविक दशा में कर दिया है, जिससे प्राणिमात्र अल्पायु हो गये हैं। मनुष्यों में यही पाप बढ़ा है, इसीलिए समस्त मनुष्य मरकर पशु होते हैं। हिंसा से पशुओं की आयु कम होती है, अत: वे कर्म भोगे बिना ही मरते हैं और शेष कर्म भोगने के लिए उन्हीं योनियों में फिर पैदा होते हैं। आगमन अधिक होने से ही प्राणियों की भीड़ अधिक हुई है, उत्पादन बढ़ा है और संग्राम, कलह तथा नाश की मात्रा भी बढ़ी है, परन्तु यदि मनुष्य अपनी स्वाभाविक स्थिति में आ जाए और ऊपर कहा हुआ सारा विप्लव बन्द कर दे तो कम-से-कम इतना तो अवश्य हो सकता है कि असंख्य प्राणियों की अकालमृत्यु बन्द हो जाए और उनका बारबार पैदा होना भी बन्द हो जाए। कहने का तात्पर्य यह कि यदि मनुष्यों का पशु होना बन्द हो जाए तो अत्युत्पादन भी बन्द हो जाए।

जब अत्युत्पादन ही अस्वाभाविक है तब उससे उत्पन्न हुआ जीवन-संग्राम भी अस्वाभाविक और कृत्रिम है। वह नियमित सन्तति में नहीं होता। अत्युत्पादन का कम करना मनुष्यों के हाथ में है, इसलिए जीवन-संग्रामों का बन्द कर देना भी मनुष्यों के ही हाथ में है। पृष्ठ १८१ पर विकासवाद के लेखक जो कहते हैं कि 'रक्षा की अपेक्षा नाश की ओर प्राकृतिक चुनाव की अधिक प्रवृत्ति है' यह बात उन्हीं के दूसरे वाक्य से खण्डित हो जाती है। पृष्ठ १७५ पर आप कहते हैं कि 'इसमें प्रकृति का यही तात्पर्य है कि दो-चार, दस-पाँच भी बच जाएँ तो इस जाति का अस्तित्व बना रहे'। भला जहाँ नाश की ओर अधिक झुकाव होगा वहाँ दो-चार, दस-पाँच को बचाकर वंशरक्षा का क्या प्रयोजन होगा? कुछ भी नहीं। यह कभी हो ही नहीं सकता कि जो नाश चाहता हो वही वंशरक्षा भी चाहता हो। यथार्थ में बात यह है कि प्रकृति रक्षा ही चाहती है, नाश नहीं। यदि रक्षा न चाहती तो आज संसार में शून्य ही होता। किन्तु हाँ, अस्वाभाविक उत्पादन से संग्राम अवश्य होते हैं जो रोके जा सकते हैं, इसलिए जीवन-संग्राम सृष्टि का नियम नहीं हो सकता, वह अपवाद ही है।

जीवन-संग्राम में ही योग्यों के चुनाव की बात कही जाती है, किन्तु हम संसार में देखते हैं कि योग्यों का चुनाव होता ही नहीं। ऊपर इंग्लैंड के मनुष्यों की ऊँचाई का नियम दिया हुआ है। उससे यह बात स्पष्ट हो जाती है कि सबसे अधिक संख्या मध्यम स्थिति की लम्बाईवालों की ही है। बहुत ही छोटे और बहुत ही लम्बे मनुष्य थोड़े हैं। यदि योग्यों के चुनाव का सिद्धान्त ठीक होता तो सबसे अधिक संख्या सबसे अधिक ऊँचे मनुष्यों की ही होती, क्योंकि मनुष्य की ऊँचाई भी एक योग्यता ही है, परन्तु इन योग्यों की संख्या महा छोटे मनुष्यों के बराबर है जो लम्बाई के हिसाब से महा अयोग्य हैं। यहाँ महा अयोग्यता, महा योग्यता का मुक़ाबला कर रही है और जब तक ये दोनों टकराते हैं तब तक मध्यम, अर्थात् साधारण लोग दोनों को पीछे हटाकर आगे बढ़ रहे हैं और संख्याक्षेत्र में अपनी विजयपताका लहरा रहे हैं।

अमीबा सबसे छोटा है और निर्बल है, परन्तु है सबसे अधिक। जितने छोटे कीड़े हैं, सब

संख्या में अधिक हैं और मनुष्य से अधिक तो प्राय: (हाथी-सिंहादि कुछ प्राणियों को छोड़कर) सभी साधारण प्राणी हैं। संख्या में इनकी विजय है। मनुष्य को बल में हाथी, घोड़ा, ऊँट आदि ने भी परास्त कर दिया है। दीर्घ जीवन में साँप और कछुआ बाज़ी मार ले-गये हैं और बुद्धि में चींटी सबसे प्रथम निकली है। परिश्रम, सञ्चय, प्रबन्धन और कारीगरी में शहद की मक्खी का स्थान प्रथम है। ये सब प्राणी अपने उत्तरवर्ती योग्यों से जब अधिक योग्य सिद्ध हो रहे हैं, तब कैसे कहा जाता है कि योग्यों का चुनाव होता है। योग्यों का चुनाव होता तो जर्मन की विजय होती, परन्तु वैसा नहीं हुआ। भारत अपने पतन के समय संसारभर में योग्य था, परन्तु अयोग्य सिद्ध हुआ। इन बातों से यह सिद्ध नहीं होता कि योग्यों की ही विजय होती है। हाँ, रोगी मनुष्य किसी समय पड़ा-पड़ा यदि शत्रु के बारूदघर में आग लगा दे और उससे उस दल की विजय हो जाए तो शायद विकासवादी बीमारी को ही योग्यता कहने लगें, परन्तु बात यह नहीं है। योग्यता योग्यता ही है। सभी कुछ योग्यता नहीं है। जीवन-संग्राम में हमें पक्षियों के परों को, कछुवा तथा साँप की आयु को और चींटी की बुद्धि को कभी न भूलना चाहिए। ये तीनों ही जीवन की वास्तविक योग्यताएँ हैं। उड़ना कितनी विशेष बात है, अधिक जीना उससे भी बड़ी विशषता है और बुद्धिमान् होना तो सबसे बड़ी विशेषता है, परन्तु जो जन्तु चींटी से आगे बढ़कर कानखजूरे आदि में होंगे उनके पल्ले क्या पड़ा होगा? साँप और कछुवा की-सी आयु छोड़कर पंख पा गये तो क्या? चींटी की अक़्ल, सर्प की आयु और पक्षी की उड़ने की शक्ति खोकर ये स्तनधारी ही हुए तो क्या? लीमर, बन्दर, गाय, भैंस, सुवर, कुत्ता आदि होकर इन्होंने कौन-सी योग्यता सम्पादन की? यदि स्तनधारियों में मनुष्य न होता, तो विकास की सार्थकता भी ज्ञात न होती। जब तक वह नहीं हुआ था तब तक उत्क्रान्ति में कौन-सी योग्यता का विकास था? कुछ नहीं, अत: यह ग़लत है कि योग्यतावाले ही बचते हैं, अयोग्य नहीं।

योग्यता का सन्तति में संक्रमण होना तो बिलकुल ही ग़लत है। हम संसार में देखते हैं कि सन्तान को अयोग्यता ही अधिक मिलती है, क्योंकि अयोग्यों की ही संख्या अधिक है। संसार में निर्धन, निर्बल और निर्बुद्धि ही अधिक पाये जाते हैं। ज्ञानी के लड़के में आप-ही-आप ज्ञान का संक्रमण नहीं होता। मनुष्य यदि अपनी सन्तान को अच्छा बनाने में सावधान न रहे तो वह सबकी सब बिगड़ ही जाए। ऐसी दशा में जब संसार में निर्बलों की,कम उम्रों की, बुद्धिहीनों की ही संख्या अधिक है, तब यह नहीं कहा जा सकता कि योग्यों का ही चुनाव होता है, वही रह जाते हैं और शेष मर जाते हैं। क्या अभी जापान के प्राकृतिक विप्लव में सब अयोग्य ही मरे? क्या जर्मन-युद्ध में सब अयोग्य ही मरे? नहीं, दोनों प्रकार के मरे। हाँ, योग्य गिन्ती में कम अवश्य मरे, परन्तु इसका कारण उनकी संख्या का कम होना ही है। योग्य संसार में कम होते ही हैं। योग्य तो मोक्ष को जाते हैं। संसार तो अयोग्यों के लिए ही हैं, अत: योग्यों के चुनाव का सिद्धान्त ग़लत है और इसके साथ योग्यता का सन्तति में संक्रमण भी ग़लत है।

इस मत से डारविन को भी सन्तोष नहीं था। विकासवाद के लेखक पृष्ठ १८५ पर लिखते हैं, कि 'यह बात दूसरी है कि परिवर्तनों के उद्‌गमों तथा उसके सन्ततिक्रमों का ठीक प्रकार का कार्यकारणवाद अभी निश्चित न हुआ हो। डारविन महाशय भी यह मानते थे कि प्राकृतिक चुनाव विकास का एक मार्ग है, विकास की युक्तियुक्तता बतलाने में उससे अच्छी सहायता मिलती है'। इसी प्रकार पृ० १७३-१७४ पर वे कहते हैं कि 'नई उपजातियों की उत्पत्ति करने में (परिस्थिति, कार्य और पैतृक संस्कार) इन तीन में से कौन-सी अधिक-कार्यकर और कौन-सी कम कार्यकर है, इसका अब तक पूर्णतया निश्चय नहीं हुआ। इस विषय में बहुत मतभेद है

तथापि सब वैज्ञानिकों का इस बात पर एक मत है कि ये तीन बातें कम वा अधिक परिमाण में विकास की उत्पादक है'। इन बातों से यही प्रतीत होता है कि डारविन और उनके अन्य शिष्य-प्रशिष्यों को अब तक विकास के कारणों का यथार्थ ज्ञान नहीं हुआ। वे अब तक किसी पूर्ण निश्चय पर नहीं पहुँचे।

प्राकृतिक चुनाव की विधि पूर्ण विश्वस्त नहीं है, क्योंकि प्राकृतिक चुनाव का अब तक केवल एक ही सन्दिग्ध प्रमाण दिया गया है। पृ० १९१ पर ग्रन्थकार कहते हैं कि 'आस्ट्रेलिया के शशकों में वृक्षों पर चढ़ने योग्य नाख़ून निकल रहे हैं। यदि यह बात ठीक है तो शशकों की एक नई जाति बननेवाली है'। यद्यपि ग्रन्थकार को अभी स्वयं इस बात पर विश्वास नहीं है, तथापि हम मान लेते हैं कि नाख़ून थोड़े-बहुत बढ़ गये होंगे, परन्तु बात तो यह है कि क्या तनिक-से नाख़ूनों के बढ़ने से एक नई जाति उत्पन्न हो गई? क्या उन शशकों का अन्य शशकों के साथ समानप्रसव बन्द हो गया? यदि बन्द नहीं हुआ तो अभी तक उसे दूसरी जाति नहीं कह सकते। जिस प्रकार प्रत्येक व्यक्ति में कुछ भेद है और प्रत्येक देश के मनुष्यों में भेद है—हब्शी और चीना में भेद है—उसी प्रकार का भेद इन शशकों में भी हुआ है, किन्तु जिस प्रकार हब्शी और चीना एक ही जाति के दो रूप हैं, उसी प्रकार शशकों में भी यह देशगत भेद हो सकता है, अतः इसे नई जाति नहीं कह सकते, क्योंकि सृष्टि में दो प्रकार का प्राकृतिक चुनाव देखने में आता है। एक तो देशभेद से एक ही जाति के रूपों में कुछ अन्तर हो जाना और दूसरा अकस्मात् किसी जाति के अङ्गों में वृद्धि हो जाना।

पहला नमूना सबके सामने है। यद्यपि चीना और हब्शी में कुछ भेद है, परन्तु जातिभेद नहीं है। दूसरा नमूना दीमक का है। दीमक में अकस्मात् बड़े-बड़े पर निकल आते हैं। ये दीमक पतङ्गे बन जाते हैं। अब देखना चाहिए कि आस्ट्रेलिया के शशक यदि देश और जलवायु आदि भेद से उतना ही विकास करेंगे जितना कि हब्शी और चीना ने किया है तो दूसरी जाति न होगी। नाख़ून थोड़ा बढ़ जाएँगे, परन्तु समानप्रसव, भोग और आयु समान ही रहेगी, किन्तु यदि उनके नाख़ून बेहिसाब बढ़े तो उसका जो परिणाम होगा उसका नमूना सृष्टि ने पतङ्गों में दिखला दिया है। सबने देखा होगा कि कभी-कभी किसी कारण से दीमक के पर निकल आते हैं जो बहुत लम्बे होते हैं, किन्तु पर निकलते ही—पतङ्गा बनते ही—इनका सर्वनाश हो जाता है। न इनका परवाला पंश चलता है और न इनकी संसार में नई जाति ही स्थिर रहती है।

विकासवाद के लेखक आस्ट्रेलिया के ख़रगोशों की स्थिति पर स्वयं शङ्का करते हैं। वे कहते हैं कि 'यदि यह बात सत्य है'। ऐसी दशा में हम भी उसकी कोई विशेष आलोचना नहीं कर सकते, किन्तु एक सृष्टि का नियम सुना देते हैं कि पृथिवी का प्रत्येक भाग अपने प्रभाव से प्राणी के शरीर पर कुछ फेरफार कर देता है, परन्तु स्मरण रखना चाहिए कि वह फेरफार बहुत शीघ्र स्थिर हो जाता है। यह नहीं है कि प्रलयपर्यन्त फेरफार होता ही रहे। हम पीछे अमेरिका के रेड-इण्डियनों का वर्णन करके चित्रसहित दिखला आये हैं कि देश के कारण जो परिवर्तन होता है वह शीघ्र ही स्थिर हो जाता है और उस जाति के अन्य देशस्थ प्राणियों से सन्तति उत्पन्न होना बन्द नहीं होता, अर्थात् कोई दूसरी जाति नहीं बनती, परन्तु यदि कहीं कारणवश किसी प्राणी के शरीर में कोई अमर्यादित विकास हुआ तो वह प्राणी या प्राणिसमूह पतङ्गे की भाँति नष्ट हो जाता है—उसका वंश नहीं चलता—उस प्रकार की कोई नवीन जाति संसार में उत्पन्न नहीं होती, अतएव प्राकृतिक चुनाव से नवीन जाति का बनना असम्भव है, असत्य है। पूर्व पृष्ठों में विकासवाद के असल सिद्धान्त का खण्डन हो गया कि प्रकृति स्वाभाविक रीति से कोई नवीन

जाति नहीं बनाती।

अब उन कारीगरियों के नियम भी जान लेने चाहिएँ जिनके द्वारा वृक्षों और पशु-पक्षियों को मनुष्य विलक्षण प्रकार का बना देता है। इसी को कृत्रिम चुनाव कहते हैं। जापान और अमेरिका ने इन बातों में बड़ी उन्नति ही है। जापानवाले मुर्ग़ों की पूँछों को बीस-बीस फ़ुट लम्बी बना देते हैं और बड़े-बड़े वृक्षों को इतने छोटे बना देते हैं कि देखकर आश्चर्य होता है। अमेरिका के लूथर वरबैंक नामक माली ने अनेक प्रकार के फल-फूलों को विचित्र प्रकार का बना दिया है और अनेक बेलों को वृक्षों में परिवर्तित कर दिया है। इसी प्रकार कबूतर से खेलनेवालों ने भी अनेक प्रकार के कबूतर बना दिये हैं। यही कृत्रिम चुनाव है। इस कृत्रिम चुनाव के तीन नियम हैं—

१. अमुक मर्यादा तक कृत्रिमता होने पर भी सन्तति का होते जाना,

२. अमुक मर्यादा के बाद अपनी पहली पीढ़ियों के रूप का हो जाना और

३. अमुक मर्यादा के बाद वंश का बन्द हो जाना।

पहला नियम प्राय: सर्वत्र देखने में आता है। इसी सिद्धान्त के अनुसार मनुष्य वृक्षों और पशुओं के उत्तम बीज पैदा करता है। आरोग्य और बलवान् माता-पिता से अच्छी सन्तति होती है। इसका विज्ञान यह है कि माता और पिता के अंशों की रक्षा करते हुए यदि विकास होगा तो वंश चलता जाएगा। बैल के अंश सींग, खुर और हड्डी आदि हैं और गाय का अंश मांस आदि। जिन बैलों में माता का अंश अधिक होता है उनके सींग नहीं होते और जिनमें पिता का अंश अधिक होता है उनके बड़े-बड़े सींग होते हैं, अर्थात् बैलजाति में मुण्डा और सिंगाड़ा दो प्रकार के बैल देखे जाते हैं। मुण्डे में सींगों का लोप नहीं होता, उनके कान के पास, बालों के भीतर सींग के चिह्न बने रहते हैं। उसी के सहारे आगे चलकर उसी की नस्ल में फिर सींगवाला बैल होने लगता है। इसी सिद्धान्त से काँटेवाले वृक्षों से काँटा हटा दिया जाता है। काँटेवाली नागफनी से बेकाँटेवाली नागफनी बना दी गई है। काँटेवाले सिंघाड़े से बिना काँटे का सिंघाड़ा भी होता है। इसका कारण इतना ही है कि नागफनी और सिंघाड़े से कृत्रिम उपायों के द्वारा पितृशक्ति कम कर दी गई है, परन्तु उनमें काँटे के चिह्न शेष हैं। उन्हीं चिह्नों से उपाय करने पर काँटेवाले फिर हो सकते हैं। बिन काँटे की नागफनी और बिना काँटे के सिंघाड़ों में कभी कोई छोटे काँटेवाला सिंघाड़ा भी मिलता है। उसी से सिंघाड़े फिर काँटेदार हो सकते हैं। इसी सिद्धान्त पर कबूतरों की उत्पत्ति भी है। यह सिद्धान्त विश्व में फैला हुआ है। स्त्री, पुरुष और नपुंसकों की बनावट इसी सिद्धान्त से होती है।

दूसरे नियम का उदाहरण क़लमी आम है। यदि क़लमी आम की गुठली बो दी जाए तो उससे उत्पन्न वृक्ष में उतने बड़े फल न लगेंगे। इसी प्रकार दो-तीन पीढ़ी के बाद वह क़लमी आम उसी तुख़्मी (बीजू, गुठलीवाले) आम के सदृश फलवाला हो जाएगा, जिसपर क़लम शुरू हुई थी। भेड़िये और कुत्ते के संयोग से तथा चीते और सिंह के संयोग से सन्तान नहीं होती। यदि होती है तो उस सन्तान का वंश कुछ पीढ़ी पश्चात् कुत्ते और चीते का-सा हो जाता है, अर्थात् विकास आगे नहीं बढ़ता, नई जाति नहीं बनती। इसी विषय पर जोंस बोसन (Jones Bowson) ने नवम्बर सन् १९२२ के 'न्यू एज' (New Age) नामक पत्र में लिखा है कि 'मैं अपने बाग़ में घूमता हुआ क़लम किये हुए पौधों को देखता हूँ तो उनमें कृत्रिमावस्था से अपनी अवस्था में आने के लिए युद्ध होता हुआ दिखता है। प्राय: यही देखने में आता है कि पूर्व की स्वाभाविक अवस्था बलशाली है जो कृत्रिम अवस्था पर विजय प्राप्त कर लेती है। प्रमाण के लिए मैं 'हेनरी

डमण्ड्स' लिखित 'Natural Law in the Spiritual World' नामक पुस्तक के उस अध्याय को प्रस्तुत करता हूँ, जहाँ वह कबूतरों और गुलाब के पेड़ों के उदाहरणों के द्वारा इसी बात को पुष्ट करता है'।

यही सिद्धान्त मेंडल नामक विद्वान् को भी ज्ञात हुआ है। उसका कहना है कि 'कभी-कभी बच्चों का अपने पिता की अपेक्षा पितामह के साथ बहुत मेल दिखाई पड़ता है'। इसका कारण यही है कि यदि कोई व्यक्ति अपने शरीर में अमर्यादित फेरफार कर डाले तो उसका लड़का अपने पिता के ये नूतन गुण न लेकर पितामह के गुणों को ही लेकर जन्म लेगा। इससे स्पष्ट हो गया कि सृष्टि ने पुरानी जातियों की रक्षा और नवीन जातियों की उत्पत्ति को रोकने के लिए कितना दृढ़ प्रबन्ध किया है। कुछ विकासवादी कहते हैं कि प्रो० डी० व्रीज (De Vries) ने सिंघाड़ा (Oenethera Lamarckiana) और पोस्त (Shirley Poppies) की प्रकार के वृक्षों से अभी हाल में एक नई जाति आप-ही-आप प्राप्त की है, जिसेस ज्ञात होता है कि नवीन जातियाँ इसी प्रकार उत्पन्न होती हैं। इसी उत्पत्ति को डी० व्रीज ने 'स्वयं परिवर्तित जाति' (Spontaneous Modification) नाम दिया है, परन्तु हम प्रो० मेंडल और प्रो० जोंस बोसन के प्रमाणों से दिखला चुके हैं कि जो प्राणी किसी भी बाहरी कारण से अपनी सन्तति में फेरफार होने का अवसर प्राप्त करता है तो उसकी सन्तति की अगली सन्तति अपने पितामह अथवा वृद्ध प्रपितामह की ओर वापस आ जाती है। डी० व्रीज़ का आविष्कार अभी हाल का है, परन्तु इसमें सन्देह नहीं कि कुछ वर्ष बाद वह नई जाति जो उसने प्राप्त की है, अपने पूर्वरूप में आ जाएगी।

तीसरा नियम सृष्टि ने यह रक्खा है कि यदि कोई प्राणी बलात् अँधाधुन्ध विकास करता जाए तो उसका वंश रोक दिया जाए। जैसेकि घोड़े और गधे से एक विलक्षण प्राणी—ख़च्चर—हुआ, परन्तु ख़च्चर का वंश बन्द है। इसी प्रकार पैबन्द बेर में विशेष वृद्धि हुई, परन्तु वंश उसका भी बन्द है। जापान के छोटे-छोटे वृक्षों का और बड़े-बड़े मुर्गों का वंश बन्द, पाँच पैर की गाय का वंश बन्द है और बेहिसाब बुद्धिमान् का वंश भी बन्द है[1], अर्थात् सृष्टि को बेहिसाब ह्रास-विकास स्वीकार नहीं है। कृत्रिम चुनाव में अमर्यादित विकास का अवकाश नहीं है। मर्यादा का उल्लङ्घन हुआ कि बस, वंश बन्द।

लामार्क नामक विद्वान् ने चूहों की दुमें काट-काटकर बिना दुम के चूहे पैदा करना चाहा। चूहों की अनेक पीढ़ियों तक वह ऐसा ही करता रहा, परन्तु बिना पूँछ के चूहे न हुए। लेसिस्टरशायर के ग्वालों ने चाहा कि हम अपनी भेड़ों को घोड़े के बराबर बना डालें और कुछ ने चाहा कि हम अपनी भेड़ों को चूहों के बराबर कर डालें, किन्तु इन दोनों दलों के विकासवादियों के प्रयत्न विफल हो गये। भेड़ों में न तो बेहिसाब ह्रास ही हुआ और न वृद्धि ही, किन्तु कुछ तनिक-सी छोटी हो गईं और कुछ तनिक-सी बड़ी। भेड़ों की छोटाई और बड़ाई के बीच वंश-स्थापन का नियम काम कर रहा था, इसलिए वे इतनी ही बड़ी और छोटी हुई कि दोनों से वंश चल सके। वे इस मर्यादा के आगे न गईं—दो जातियाँ न हो सकीं।

प्राकृतिक चुनाव व कृत्रिम चुनाव के नमूने हम आप सभी हैं। प्राकृतिक चुनाव से जो विकास हुआ है उसी से तो हम आप पहचाने जाते हैं। एक ही उम्र की स्त्रियाँ पहचानी जाती हैं कि अमुक उसकी है और अमुक उसकी। समान उम्रवाले घोड़े, गाय, बैल, कुत्ते सब इसी से पहचाने जाते हैं। यह पृथक्ता न होती तो संसार में महा अन्धेर मच जाता। इसलिए व्यक्ति-व्यक्ति की

---

१. अत्यन्तमतिमेधावी त्रयाणामेकमश्नुते। अल्पायुषो दरिद्रो वा ह्यनपत्यो न संशयः॥

पृथक्ता तो होनी ही चाहिए। रही देश-देशान्तरों की भिन्नता वह केवल विवाह-बन्धनों से हुई है। यदि सब देशों के मनुष्य परस्पर विवाह करने लगें तो भौगोलिक पृथक्ता मिट जाए, परन्तु वैयक्तिक पृथक्ता ईश्वरदत्त है। वह तो पहचान के लिए ही है। वह न हो तो संसार का काम ही न चले।

विकासवाद के पास यदि कोई प्रत्यक्ष प्रमाण है तो इतना ही ही है। वह कहता है कि हममें आपमें जो अन्तर हुआ है वही आगे चलकर गिलहरी का रीछ बना देता है, परन्तु बात यह नहीं है। वास्तविक बात तो यह है कि यह अन्तर होना ही चाहिए था। इसके बिना संसार की व्यवस्था ही न होती। बस, यही प्राकृतिक चुनाव है। रही कृत्रिम चुनाव की बात उसे ऊपर देख ही चुके हैं। कृत्रिम चुनाव नई जाति नहीं बनाता। हम हिन्दुओं के लड़की-लड़के लाखों वर्ष से कान में छेद कराते हैं, परन्तु छेद युक्त बच्चा पैदा नहीं होता। हज़रत इबराहिम के समय से जिसको तीन हज़ार वर्ष से अधिक हुआ यहूदी और मुसलमान ख़तना कराते हैं (पहले समय में स्त्रियों का भी ख़तना होता था) पर ख़तना की हुई सन्तान नहीं होती। चीन की स्त्रियाँ न जाने कब से पैर छोटा करती रही हैं, परन्तु छोटे पैर की कोई लड़की पैदा नहीं होती। इससे ज्ञात हुआ कि कृत्रिम विकास भी अमर्यादित नहीं होता। कृत्रिम और प्राकृतिक दोनों प्रकार के चुनाव से नई जाति का—ऐसी जाति का जिसके संयोग से वंश न चले और उसकी आयु तथा भोग भी भिन्न हो—आज तक प्रत्यक्ष विकास नहीं हुआ, न ऐसा होना अनुमानप्रमाण से ही सिद्ध होता है, अतः ज़ोर देकर कहा जा सकता है कि विकासवाद सत्य सिद्धान्त पर स्थित नहीं है।

'सन्तति की धारा किस तत्त्व और सिद्धान्त से बहती है' इस विषय को स्पष्ट करने के लिए विकासवाद के लेखक ने कुछ विद्वानों की सम्मतियाँ उद्धृत की हैं, वे सबकी सब विकासवाद के सिद्धान्त के विरुद्ध हैं। विलायत की विधवाओं से गौवों का पालन-पोषण और मुसलमानों का प्लेग में न मरना सर्वसम्मति से स्वीकार हुआ सिद्धान्त नहीं है। यदि ऐसा हो भी तो इससे यह सिद्ध नहीं होता कि इससे नवीन योनियाँ उत्पन्न होती हैं।

डारविन का यह सिद्धान्त कि 'माता-पिता के प्रत्येक अङ्ग से सार एकत्र होकर सन्तति का जन्म होता है' और वाईज़मैन का यह सिद्धान्त कि 'इस सार के एकत्र होने में यदि कहीं बीच में कोई परिवर्तन उद्भूत हो तो वह सन्तति में संक्रमित न होगा' तथा मेंडल का यह सिद्धान्त कि 'कभी लड़का पिता की अपेक्षा पितामह के गुण संग्रह करता है' और डी० व्रीज़ की यह सम्मति कि 'कभी-कभी नई-नई जातियाँ एकदम उत्पन्न हो जाती हैं' और 'हेतुवाद' तथा 'अज्ञात-अज्ञेय' आदि के सिद्धान्त सब मिलकर विकासवाद का खण्डन ही करते हैं।

'अङ्गादङ्गात्सम्भवसि', अर्थात् सन्तान अङ्ग-अङ्ग के सार से उत्पन्न होती है। यह वैदिक सिद्धान्त ही है जो डारविन का बतलाया जाता है। रहा यह कि इसमें यदि कोई अकस्मात् नया कारण उत्पन्न होता है तो वह नयापन सन्तति में नहीं आता और सन्तान पिता के उन नये गुणों को छोड़कर दादा के गुण ग्रहण करती है। इसका तात्पर्य यही है कि कोई नई जाति उत्पन्न न हो—नवीन अङ्ग उत्पन्न न हों।

जल-कृमियों में नवीन जातियों ने एकदम उत्पन्न होकर दिखला दिया है कि प्राणियों के शरीर बनने के लिए विकास की आवश्यकता नहीं। हेतुवाद ने और अज्ञात- अज्ञेय शक्ति ने इसको पूर्ण कर दिया कि कर्मानुसार ईश्वर प्राणियों की रचना करता है, अतः क्रम विकास की आवश्यकता नहीं। इस प्रकार से जितनी भी नवीन जाँच हो रही है वह विकास के विरुद्ध और विशिष्ट उत्पत्ति के अनुकूल ही होती जाती है, इसमें तनिक भी सन्देह नहीं। यहाँ तक ग्रन्थकार ने यह न बतलाया कि विकास किस प्रकार होता है। उन्होंने जितनी युक्तियाँ दीं, उनपर स्वयं

पृथक्ता तो होनी ही चाहिए। रही देश-देशान्तरों की भिन्नता वह केवल विवाह-बन्धनों से हुई है। यदि सब देशों के मनुष्य परस्पर विवाह करने लगें तो भौगोलिक पृथक्ता मिट जाए, परन्तु वैयक्तिक पृथक्ता ईश्वरदत्त है। वह तो पहचान के लिए ही है। वह न हो तो संसार का काम ही न चले।

विकासवाद के पास यदि कोई प्रत्यक्ष प्रमाण है तो इतना ही ही है। वह कहता है कि हममें आपमें जो अन्तर हुआ है वही आगे चलकर गिलहरी का रीछ बना देता है, परन्तु बात यह नहीं है। वास्तविक बात तो यह है कि यह अन्तर होना ही चाहिए था। इसके बिना संसार की व्यवस्था ही न होती। बस, यही प्राकृतिक चुनाव है। रही कृत्रिम चुनाव की बात उसे ऊपर देख ही चुके हैं। कृत्रिम चुनाव नई जाति नहीं बनाता। हम हिन्दुओं के लड़की-लड़के लाखों वर्ष से कान में छेद कराते हैं, परन्तु छेद युक्त बच्चा पैदा नहीं होता। हज़रत इबराहिम के समय से जिसको तीन हज़ार वर्ष से अधिक हुआ यहूदी और मुसलमान ख़तना कराते हैं (पहले समय में स्त्रियों का भी ख़तना होता था) पर ख़तना की हुई सन्तान नहीं होती। चीन की स्त्रियाँ न जाने कब से पैर छोटा करती रही हैं, परन्तु छोटे पैर की कोई लड़की पैदा नहीं होती। इससे ज्ञात हुआ कि कृत्रिम विकास भी अमर्यादित नहीं होता। कृत्रिम और प्राकृतिक दोनों प्रकार के चुनाव से नई जाति का—ऐसी जाति का जिसके संयोग से वंश न चले और उसकी आयु तथा भोग भी भिन्न हो—आज तक प्रत्यक्ष विकास नहीं हुआ, न ऐसा होना अनुमानप्रमाण से ही सिद्ध होता है, अतः ज़ोर देकर कहा जा सकता है कि विकासवाद सत्य सिद्धान्त पर स्थित नहीं है।

'सन्तति की धारा किस तत्त्व और सिद्धान्त से बहती है' इस विषय को स्पष्ट करने के लिए विकासवाद के लेखक ने कुछ विद्वानों की सम्मतियाँ उद्धृत की हैं, वे सबकी सब विकासवाद के सिद्धान्त के विरुद्ध हैं। विलायत की विधवाओं से गौवों का पालन-पोषण और मुसलमानों का प्लेग में न मरना सर्वसम्मति से स्वीकार हुआ सिद्धान्त नहीं है। यदि ऐसा हो भी तो इससे यह सिद्ध नहीं होता कि इससे नवीन योनियाँ उत्पन्न होती हैं।

डारविन का यह सिद्धान्त कि 'माता-पिता के प्रत्येक अङ्ग से सार एकत्र होकर सन्तति का जन्म होता है' और वाईज़मैन का यह सिद्धान्त कि 'इस सार के एकत्र होने में यदि कहीं बीच में कोई परिवर्तन उद्भूत हो तो वह सन्तति में संक्रमित न होगा' तथा मेंडल का यह सिद्धान्त कि 'कभी लड़का पिता की अपेक्षा पितामह के गुण संग्रह करता है' और डी० व्रीज़ की यह सम्मति कि 'कभी-कभी नई-नई जातियाँ एकदम उत्पन्न हो जाती हैं' और 'हेतुवाद' तथा 'अज्ञात-अज्ञेय' आदि के सिद्धान्त सब मिलकर विकासवाद का खण्डन ही करते हैं।

'अङ्गादङ्गात्सम्भवसि', अर्थात् सन्तान अङ्ग-अङ्ग के सार से उत्पन्न होती है। यह वैदिक सिद्धान्त ही है जो डारविन का बतलाया जाता है। रहा यह कि इसमें यदि कोई अकस्मात् नया कारण उत्पन्न होता है तो वह नयापन सन्तति में नहीं आता और सन्तान पिता के उन नये गुणों को छोड़कर दादा के गुण ग्रहण करती है। इसका तात्पर्य यही है कि कोई नई जाति उत्पन्न न हो—नवीन अङ्ग उत्पन्न न हों।

जल-कृमियों में नवीन जातियों ने एकदम उत्पन्न होकर दिखला दिया है कि प्राणियों के शरीर बनने के लिए विकास की आवश्यकता नहीं। हेतुवाद ने और अज्ञात- अज्ञेय शक्ति ने इसको पूर्ण कर दिया कि कर्मानुसार ईश्वर प्राणियों की रचना करता है, अतः क्रम विकास की आवश्यकता नहीं। इस प्रकार से जितनी भी नवीन जाँच हो रही है वह विकास के विरुद्ध और विशिष्ट उत्पत्ति के अनुकूल ही होती जाती है, इसमें तनिक भी सन्देह नहीं। यहाँ तक ग्रन्थकार ने यह न बतलाया कि विकास किस प्रकार होता है। उन्होंने जितनी युक्तियाँ दीं, उनपर स्वयं

वैज्ञानिकों को ही सन्देह है, अतएव परिस्थिति, कार्य और वंशानुक्रम तीनों विकास की विधियाँ सफल नहीं हुईं।

ग्रन्थकार स्वयं कहते हैं कि 'प्राणियों की विकास द्वारा उत्पत्ति होती है वा नहीं—एक प्रकार के प्राणी से भिन्न-भिन्न प्रकार के प्राणी बनते हैं वा नहीं, इस प्रकार के निरीक्षण करनेवाला मनुष्य भी विकास की क्रिया के किसी अत्यन्त सूक्ष्म भाग को भी प्रत्यक्ष होते हुए पूर्णतया नहीं देख सकता' (पृ० १५५)। 'विकास की विधि पर जब हम विचार करते हैं तब ऐसे तथा एतत्सम्बन्धी कई अन्य तात्त्विक प्रश्न हमारे सन्मुख उपस्थित होते हैं। तात्त्विक प्रश्न कभी-कभी तो ऐसे होते हैं कि उनका सम्पूर्ण उत्तर प्राप्त करना बहुत कठिन तथा असम्भव भी हो जाता है, और इस प्रकार के प्रश्नों के सम्पूर्ण उत्तर प्राप्त करने की आशा भी नहीं करनी चाहिए' (पृ० १५८)। 'निरक्षर और अज्ञानी मनुष्य वैज्ञानिकों के विषय में यह कल्पना करने लगते हैं कि वैज्ञानिक लोग अपने-अपने विभागों को सम्पूर्ण समझते हैं। वास्तव में बात तो यह है कि सबसे पूर्व वैज्ञानिक ही यह कहने का साहस करते हैं कि किसी विषय में हठ करना ठीक नहीं' (पृ० ११)। 'विचार करने से यह प्रतीत होगा कि यद्यपि विकासवाद स्वयं स्पष्ट है तथापि इसका अन्तिम निश्चय करा देना बहुत सुगम नहीं है' (पृ० २)।

विकास और उसकी विधि पर 'विकासवाद' के लेखक के ये आन्तरिक उद्‌गार हैं। हमने अब तक जो कुछ कहा है वही बात आप भी कह रहे हैं। आप नहीं कह रहे प्रत्युत आपके मुख से यूरोप का समस्त वैज्ञानिक समाज कह रहा है। कहने की आवश्यकता नहीं कि ऐसी दशा में ऐसे सन्दिग्ध विषय पर विश्वास करना कितना भयङ्कर है। ग्रन्थकार ने आरम्भ में कहा था कि यह विकासवाद विज्ञान द्वारा अनुमोदित है, अत: हमें चाहिए कि हम अपने भविष्य जीवन के कार्य-निर्धारण के लिए इसके नियमों को जानें, परन्तु हमने अब तक इसकी समग्र शाखा-उपशाखाओं को देखकर जान लिया कि यह एक कल्पना है—थ्योरी है, सिद्धान्त नहीं। ऐसी दशा में यदि हम अपने जीवन को विकास के अनुसार बनाएँ और यह निश्चय कर लें कि निर्बलों को मार डालना सृष्टि का नियम है तो हमारी धार्मिक, सामाजिक और राजनैतिक कितनी हानि होगी, इसका अनुमान कौन लगा सकता है और इसका उत्तरदायी कौन हो सकता है। राज्य और धर्म समाज को सुखी और शान्त करने के लिए हैं, परन्तु यदि हम यह ठान लें कि समाज में निर्बलों को जीने का अधिकार नहीं है तो हमसे सामाजिक भलाई की क्या आशा हो सकती है? महात्मा गांधी अपनी 'नीतिधर्म और धर्मनीति' नामक पुस्तिका में लिखते हैं कि 'डारविन के कथानुसार मनुष्यों तथा अन्य प्राणियों में जीते रहने की इच्छा रहती है। जो इस स्पर्धा में टिक सकता है वही जीवित रहता है और जो टिकने योग्य नहीं रहता, वह जड़मूल से नष्ट हो जाता है, किन्तु यह स्पर्धा केवल शरीर-बल से ही नहीं निभ सकती।

'मनुष्य और रीछ अथवा भैंस की तुलना करें तो ज्ञात होगा कि मनुष्य से शरीरबल में रीछ और भैंस दोनों अधिक हैं। मनुष्य यदि इन दोनों में से एक से भी कुश्ती लड़े तो हार जाए, तथापि मनुष्य बुद्धिबल के कारण अधिक बलवान् सिद्ध होता है। मनुष्य की अनेक जातियों में भी इस बात की तुलना की जा सकती है। लड़ाई के समय वही नहीं जीतता जिसके पास बहुत-से योद्धा अथवा असंख्य जनसमुदाय होता है, प्रत्युत वह जीतता है जिसके पास कला-कौशल्य और उत्तम कार्यकर्त्ता होते हैं। ये चाहे थोड़े और निर्बल ही क्यों न हों, परन्तु वही जीतते हैं। यह बुद्धिबल का उदाहरण हुआ।

'नीतिबल बुद्धिबल और शरीरबल से भी अधिक महत्त्व का है, क्योंकि अयोग्य मनुष्य की

अपेक्षा योग्य मनुष्य का निर्वाह अधिक होता है। पुराने इतिहासों से पता लगता है कि जो जातियाँ अनीतिमान् थीं, वे आज बिलकुल नष्ट हो गई हैं। सोडम और गमोरा-निवासी अपनी अनीति के कारण आज बेपता हैं। आज भी देखने को मिल रहा है कि जो लोग अनीति का व्यवहार करते हैं, वे प्राय: नष्ट हो जाते हैं।

'अब थोड़े से सादे नमूनों को लेकर देखिए कि साधारण नीति भी मनुष्य के लिए कितनी उपकारी है। 'शान्त स्वभाव' नीति का एक अङ्ग है। ऊपर-ऊपर के देखने से ज्ञात होगा कि शान्तस्वभाव मनुष्य आगे बढ़ सकता है, परन्तु सहज ही विचार करने से ज्ञात होगा कि शान्तस्वभावरूपी तलवार अन्त में अपना ही गला काटती है। 'व्यसन न करना' नीति का दूसरा अंग है। विलायत के अंकों के देखने से ज्ञात होता है कि तीस वर्ष की उम्रवाले शराबी १३-१४ वर्ष से अधिक नहीं जीते, किन्तु निर्व्यसनी मनुष्य सत्तर वर्ष तक जीते हैं। 'व्यभिचार न करना' नीति का तीसरा अङ्ग है। देखा गया है कि व्यभिचारी मनुष्य बड़े झपाटे से नष्ट होते हैं। उनके सन्तान नहीं होती। यदि होती है तो अत्यन्त निर्बल। व्यभिचारियों के मन हीन हो जाते हैं और जैसे-जैसे दिन बीतते हैं, वैसे-वैसे उनका दिखाव पागलों का-सा हो जाता है।

'अन्य जातियों की चाल-ढाल पर दृष्टि डालिए तो यही स्थिति दिखाई पड़ेगी। अण्डमान टापू के लोग अपनी स्त्रियों को उसी समय छोड़ देते हैं जब उनसे उत्पन्न बच्चे तनिक चलने-फिरने लगते हैं, अर्थात् वे परमार्थबुद्धि के स्थान में स्वार्थबुद्धि अधिक रखते हैं, परिणाम यह हुआ है कि उस जाति का धीरे-धीरे नाश होता जाता है।

'जानवरों में भी परमार्थ बुद्धि पाई जाती है। डरभुत पक्षी अपने बच्चों को बचाने के लिए आक्रामक हो जाते हैं। इससे प्रकट है कि यदि प्राणिमात्र में थोड़ी बहुत परमार्थबुद्धि न होती तो संसार में आज पत्थरों और ज़हरीली वनस्पतियों के अतिरिक्त और कुछ होता ही नहीं।

'मनुष्य और दूसरे प्राणियों में मुख्य अन्तर यही है कि मनुष्य सबसे अधिक परमार्थी है। वह अपने नीतिबल के अनुसार, दूसरों के लिए, अपनी सन्तान के लिए और अपने देश के लिए सदा से अपना बलिदान करता आया है, इसलिए शरीरबल और बुद्धिबल में नीतिबल ही सर्वोपरि है। इसका एक प्रबल प्रमाण यह है कि ग्रीस की प्रजा वर्त्तमान यूरोपीय प्रजा से अधिक बुद्धिमान् थी, परन्तु जब उसने नीति का त्याग किया, बस, उसकी बुद्धि ही उसकी शत्रु हो गई और आज उसका अस्तित्व भी नहीं है। जातियाँ न तो धन से निभती हैं न सेना से। वे केवल नीति के ही आधार पर ठहर सकती हैं, अतएव मनुष्य को उचित है कि वह इन विचारों को सदा अपने सामने रक्खे और सदैव परमार्थरूपी परम नीतियुक्त आचरण करे'।

इस समस्त वर्णन से पाया जाता है कि संसार में दया, प्रेम और न्याय से ही अस्तित्व स्थिर रहता है—परमार्थबुद्धि से ही जातियों की वृद्धि होती है। यह परमार्थबुद्धि पशु-पक्षियों में भी पाई जाती है। महात्मा गांधी ठीक कहते हैं कि यदि संसार में परमार्थबुद्धि न होती तो आज ज़हरीली वनस्पतियों और कंकड़-पत्थरों के सिवा कुछ भी न होता। ऐसी दशा में विकासवाद का यह सिद्धान्त कि संसार में सर्वत्र जीवन-संग्राम जारी है, उसमें बलवानों की ही विजय होती है नितान्त अनर्गल है, इसलिए विकासवाद की शिक्षा के अनुसार हमें अपना जीवन बनाना उचित नहीं है।

विकासवाद के लेखक ने इस क्रूर सिद्धान्त को सिद्ध करने के लिए पुराणों के वे श्लोक जिनमें ८४ लक्ष योनियों की गिनती बताई गई है उद्धृत किये हैं और विकास का सिलसिला बताने के लिए मच्छ, कच्छ, वाराह, नरसिंह आदि अवतारों को भी घसीटा है, परन्तु इसमें कुछ भी तत्त्व नहीं है। इन अवतारों के ज़माने में भी मनुष्य-शरीरधारी देवता, दानव और मनुष्य

उपस्थित थे। ऐसी दशा में अवतारों से विकास सिद्ध नहीं होता। इसी प्रकार आपने '**या ओषधी पूर्वाजाता....त्रियुगा पुरा०**' और '**त्वज्जाता०**' वेद के इन दो मन्त्रों से भी इस घृणित सिद्धान्त की पुष्ट की है, परन्तु इनसे भी क्रम-विकास को सहारा नहीं मिलता। पहला मन्त्र जरायुज, अण्डज और ऊष्मजों से पूर्व ओषधियों का होना बतलाता है, जो ठीक ही है। इससे यह सिद्ध नहीं होता कि ओषधियाँ ही मनुष्य हो गईं। रहा दूसरा मन्त्र, वह ज्योतिषविषय का है। उसमें कहा गया है की पाँचों ग्रहों में सूर्य की किरणें पड़ती हैं। इन मन्त्रों में न कहीं विकासवाद है, न विकासवाद की कोई बात है।

एक बार इसी प्रकार हक्सले ने भी '**आकाशाद्वायु०**' के वैदिक सिद्धान्त को लेकर कहा था कि पूर्वकाल में भारत देश में भी विकासवाद माना जाता था, परन्तु इसमें भी डारविन के विकासवाद की गन्ध तक नहीं है। भारतवर्ष के नाम से किसी सिद्धान्त को प्रचलित करने का इतना ही कारण है कि उसमें किसी को शंका नहीं होती, क्योंकि इतना तो यूरोप-निवासियों ने अच्छी प्रकार मान लिया है कि प्राचीन आर्यों ने सृष्टि और धर्म-सम्बन्धी जो सिद्धान्त प्राप्त किये हैं, वे अटल हैं, परन्तु हमने विकासवाद की आलोचना करके देखा कि इसका एक भी आरोप सच्चे सिद्धान्त पर स्थिर नहीं है। यही कारण है कि अब धीरे-धीरे पाश्चात्य विद्वान् भी इसके रूप में फेरफार करते जाते हैं। वर्त्तमान विज्ञान के झुकाव से प्रतीत होता है कि अब बहुत शीघ्र विकासवाद एक कल्पना सिद्ध होगा और विद्वानों के समूह से इसका आदर उठ जाएगा।

अभी प्रथम विश्वयुद्ध के समय 'क्रिश्चियन हेरल्ड' में यह समाचार छपा था कि ब्रिटिश साइंस सोसाइटी का अधिवेशन मेलबोर्न (आस्ट्रेलिया) में हुआ। प्रोफ़ेसर विलियम वेटसन इसके सभापति थे। उन्होंने अपने भाषण में कहा कि 'डारविन का विकासवाद बिलकुल असत्य और विज्ञान के विरुद्ध है'। दूसरे वक्ताओं ने सामयिक युद्ध की ओर सङ्केत करके कहा कि 'यह युद्ध इस बात का प्रमाण है कि मनुष्य जैसा पहले था वैसा ही अब भी है'। अमेरिका की कई रियासतों ने अपने यहाँ के स्कूलों में डारविन के सिद्धान्त की शिक्षा को क़ानून के विरुद्ध ठहराया है और विकासवाद की चर्चा को दण्डनीय ठहरा दिया है[१]। कानपुर के २५-७-२५ के वर्त्तमान पत्र में छपा था कि 'विकासवाद की शिक्षा देने के अपराध में अमेरिकन प्रोफ़ेसर जानस्कोप्स पर एक सौ पौंड जुर्माना किया गया। जज ने निर्णय में लिखा है कि अभियुक्त ने शिक्षा दी थी कि मनुष्य छोटे-छोटे पशुओं का विकसित स्वरूप है'। उच्च कोटि के विद्वान् अब विकासवाद पर विश्वास नहीं करते, क्योंकि मनुष्य के विकास-सम्बन्धी जितने प्रमाण मिले हैं उनसे उसका विकसित होना नहीं पाया जाता। प्रो० प्रेट्रिकगेडिस कहते हैं कि 'यह मान लेना चाहिए कि मनुष्य के विकास के प्रमाण सन्दिग्ध हैं और साइंस में उनके लिए कोई स्थायी स्थान नहीं हैं[२]'। सर जे० डब्ल्यू डासन कहते हैं कि 'विज्ञान को बन्दर और मनुष्य के बीच की आकृति का कुछ भी पता नहीं है। मनुष्य की प्राचीनतम अस्थियाँ भी वर्त्तमान मनुष्य जैसी ही हैं। इनसे उस विकास का कुछ पता नहीं लगता, जो इस मनुष्य-शरीर के पहले हुआ था'[३]। इन नवीन वैज्ञानिकों ने अब विकास का क्रम भी उलट दिया है। अब तक लोग समझते थे कि विकासवादी

१. The Court of Law in reactionary state of Tennessee has decided that it is criminal for a professor in the state to inculcate the principles of Darwinism. —*Vedic Magazine*, October 1925.

२. For it must be admitted that the factors of the evolution of man partake largely of the nature of the may-be's which has no permanent position in Science. —*Ideals of Science and Faith.*

३. No remains of intermediate form are yet known to Science. The earliest known remains of man are still human and tell us nothing as to the previous stage of development.

मनुष्य की उत्पत्ति बन्दर से मानते हैं, परन्तु प्रसिद्ध विद्वान् वुड जोन्स कहते हैं कि 'डारविन से ग़लती हुई है, मनुष्य बन्दर से उत्पन्न नहीं हुआ, प्रत्युत बन्दर मनुष्य से उत्पन्न हुए हैं'[१]। सिडनी कॉलेट कहता है कि 'साइंस की स्पष्ट साक्षी है कि मनुष्य अवनत दशा से उन्नत दशा की ओर चलने के स्थान में उलटा अवनति की ओर जा रहा है। मनुष्य की आरम्भिक दशा उत्तम थी'[२]।

प्रागुत्तर अश्मकाल की एक खोपड़ी (Neanderthal Skull) मिली है। यह खोपड़ी जिस शिर की है वह यूरोप में सबसे बड़ा समझा जाता है। यह खोपड़ी ११४ क्यूबिक इञ्च है। यूरोप में छोटे-से-छोटा सिर ५० क्यूबिक इञ्च और बड़े-से-बड़ा ७५ क्यूबिक इञ्च पाया गया है। यह शिर बता रहा है कि वर्त्तमान समय में यूरोप-निवासियों की दिमाग़ी शक्ति बढ़ नहीं रही। 'Engine Skull' के विषय में प्रसिद्ध विकासवादी प्रो० हक्सले का कहना है कि आधुनिक यूरोपियनों के सिरों से यह खोपड़ी बड़ी है। सन् १८८३ में एक सिर हालैंड में निकला है जो यूरोप निवासियों के औसत घेरे से बड़ा है। इसका घेरा १५० क्यूबिक इञ्च है। इसी प्रकार पुरातत्त्वज्ञों और भूगर्भशास्त्रियों ने 'Healing Section' को २५,००० वर्ष पुराना बतलाया है। इसका घेरा भी १५० क्यूबिक इञ्च है।

इन प्रमाणों से सिद्ध हो रहा है कि आदिम मनुष्यों ने किसी कपितुल्य हीन मस्तिष्क प्राणी से विकसित होकर उन्नति नहीं की प्रत्युत वे परमात्मा की विशिष्ट रचना थे और आज के उत्तम-से-उत्तम मस्तिष्कों की अपेक्षा अधिक उन्नत थे। विकासवादी शंका करते हैं कि यदि क्रमोन्नति का सिद्धान्त न माना जाए तो फिर दीर्घकाय प्राणियों की उत्पत्ति कैसे सम्भव हो सकती है और इतना बड़ा मनुष्य आदि में सहसा कैसे पैदा हो गया? वे एक सैल के अमीबा की सहसा उत्पत्ति को तो मान लेते हैं, परन्तु अनेक सैल संयुक्त मनुष्यप्राणी का आपसे-आप उत्पन्न होना नहीं मानते। उनकी समझ में यह नहीं आता कि जिस अन्तर्व्याप्त शक्ति के प्रभाव से एक सेल का अमीबा उत्पन्न हो सकता है उसी शक्ति से उसी प्रकार के अनेक सैल उत्पन्न होकर और एक में जुड़कर मनुष्य-शरीर की रचना हो सकती है। जो शक्ति बड़े-बड़े सूर्य-चन्द्र बना सकती है और जो शक्ति छोटे-छोटे अमीबा बना सकती है वही शक्ति गाय, बैल, हाथी, बन्दर और मनुष्य आदि प्राणियों के मँझोले शरीर भी बना सकती है। यदि एक सेल का अमीबा आप-ही-आप उत्पन्न हो सकता है तो मनुष्य भी आप-ही-आप उत्पन्न हो सकता है।

इस तर्क से, विकास-प्रकरण की इस समस्त आलोचना से और मनुष्य-सम्बन्धी प्राप्त सामग्री से अब इस बात में विवाद नहीं रह जाता कि क्रमविकास का सिद्धान्त असत्य और विशिष्टोत्पत्ति का सिद्धान्त सत्य है। आरम्भिक सृष्टि को नये-पुराने सभी विचारवान् विद्वानों ने परमेश्वर की विशिष्ट रचना ही माना है—उसे अमैथुनी सृष्टि के ही नाम से कहा है। प्रो० मैक्समूलर कहते हैं कि 'कहा जाता है कि आदि में एक ही मनुष्य नहीं था, किन्तु हम हर प्रकार से यह अनुमान कर सकते हैं कि आदि में कुछ पुरुष और स्त्रियाँ उत्पन्न हुईं थीं'[३]। मद्रास

---

१. Meanwhile professor Wood Jones of the University of Adelaide is proclaiming about his own view that Darwin has mistaken and monkey decended from man, not man from monkey.
—*Vedic Magazine,* October 1925

२. Science is equally explicit in its testimony that instead of man having slowly improved from the lower to the higher, the tendency is exactly in the opposete direction—that man's earlist state was his best.
—*The Scripture of Truth*

३. We have been told of late that there never was a first man, but we may be allowed to suppose at all events, that there were at one time a few first men and a few first women.
—*Chips from a German Workshop,* Vol. I, p. 237

हाईकोर्ट के जज न्यायमूर्ति टी०एल० स्ट्रैंज महोदय अपनी पुस्तक 'दी डेवलपमेंट आफ़ क्रियेशन ऑन दि अर्थ' के पृष्ठ १७ पर लिखते हैं कि 'आदि सृष्टि अमैथुनी होती है और इस अमैथुनी सृष्टि में उत्तम और सुडौल शरीर बनते हैं'।

वैशेषिक दर्शन ४।२।५ में यही बात इस प्रकार कही गई है कि **'तत्र शरीरं द्विविधं योनिजमयोनिजञ्च'**, अर्थात् शरीर दो प्रकार के होते हैं—एक योनिज, दूसरे अयोनिज। इस सूत्र की व्याख्या करते हुए अयोनिज के विषय में प्रशस्तपादभाष्य में कहा गया है कि **'तत्रायोनिजमनपेक्षितं शुक्रशोणितदेवर्षीणां शरीरं धर्मविशेषसहितेभ्योऽणुभ्यो जायते'**, अर्थात् देवों और ऋषियों के शरीर शुक्र-शोणित के बिना ही, विशेष प्रयोजन के लिए, सूक्ष्म परमाणुओं के द्वारा उत्पन्न होते हैं। यजुर्वेद में लिखा है कि **'तेन देवा अयजन्त साध्या ऋषयश्च ये'**, * अर्थात् उस परमात्मा से आदिसृष्टि में देव, ऋषि और साध्य आप-ही-आप उत्पन्न हुए। इन प्रमाणों से पाया जाता है कि आदिसृष्टि में मनुष्यादि प्राणी अमैथुनी सृष्टि द्वारा ही उत्पन्न हुए, किन्तु प्रश्न होता है कि किसी विशेष प्रयोजन के लिए परमेश्वर द्वारा उत्पन्न होनेवाले ये दिव्य मनुष्य कौन थे और उनका परिचय क्या है?

मूलपुरुष कौन थे ?

यह स्पष्ट हो जाने पर कि विकासवाद निर्भ्रान्त आधरों पर स्थित नहीं है और मनुष्य प्राणिविकास का परिणाम नहीं है, यह प्रश्न आप-ही-आप उपस्थित हो जाता है कि मूलपुरुषों का रूप, रंग, आकृति, प्रकृति कैसी थी, अर्थात् वे कौन थे? पुरातत्त्व के खोज करनेवाले पाश्चात्य विद्वानों के मतानुसार, मूलपुरुषों के सम्बन्ध की समस्त विचारमाला इस प्रकार है—

'मनुष्यजाति का विकास वनमनुष्यों से हुआ है। जावाद्वीप के 'कलेंग' नामी मनुष्य अधिकतर वनमनुष्यों से मिलते हैं, अतः वही मनुष्यजाति के पूर्व पितामह हैं[१]। यह कलेंगजाति मनुष्यों के चार बड़े प्रधान विभागों में से Ethiopic (निग्रो) विभाग के अन्तर्गत है। इस निग्रो विभाग की विशेषता उसका काला रंग और मोटा चेहरा है। इसका निवास-स्थान अफ्रीका, आस्ट्रेलिया और पूर्वी समुद्र के अनेक टापू हैं[२]। पाश्चात्य विद्वानों की मान्यता है कि इसी विभाग ने मनुष्य-समुदाय की समस्त शाखाओं को जन्म दिया है, जिनमें से अनेक लुप्त हो गईं और इस समय एक सहस्र के लगभग विद्यमान हैं जो संसार के भिन्न-भिन्न प्रदेशों में फैली हैं। ये एक सहस्र शाखाएँ चार महाविभागों में विभाजित हैं। ये चारों विभाग काकेसियन, मङ्गोलियन, अमेरिकन और इथिओपिक कहलाते हैं। समस्त पृथिवी पर उक्त चार ही रूप और चार ही रंग के मनुष्य बसते हैं। इनका विवरण इस प्रकार है—

१. सफ़ेद रंग और लम्बी आकृति के मनुष्यों को काकेसस कहते हैं।

२. पीले रंग और चौड़ी आकृति के मनुष्यों को मङ्गोलिक कहते हैं।

३. काले रंग और मोटी आकृति के मनुष्यों को इथिओपिक (निग्रो) कहते हैं।

---

१. Kalangs—A recently extinct Negrito race of Java, remnants of the Aborgines of that island, small, black and woolly-haired, with very retreating forehead and projecting jaws. The most ape-like of human beings, and the nearest approach yet found to the 'missing link' between man and ape. They belonged to the oceanic Negro family. —*Harmsworth History of the World*, p. 332.

२. Ethiopic—One of the four great divisions of the human race occupying Africa, Australia, and many islands of the Eastern Ocean. Its members are typically black-skinned and woolly-haired with projecting jaws and broad skulls. —*Ibid*, p. 326.

* यजुः० ३१।९

४. लाल रंग और पतली आकृति के मनुष्यों को अमेरिकन (रेड इण्डियन) कहते हैं।

इनके अतिरिक्त एक पाँचवाँ रंग-रूप और है जो इनके सङ्कर से बनता है। इस रंगरूप को देखकर यह सहज ही अनुमान होने लगता है कि आदि में मूलपुरुषों का वही रंग-रूप था जो सबके मिलने से हो सकता है, क्योंकि मूलपुरुषों में सभी रंगों और रूपों का अन्तर्भाव होना चाहिए। यह अनुभवसिद्ध बात है कि काले रंग से किसी अन्य रंग की उत्पत्ति नहीं हो सकती। विज्ञान की यह उच्च घोषणा है कि 'कालापन' समस्त रंगों के अभाव का ही नाम है। यह बात प्रत्यक्ष अनुभव से इस प्रकार सिद्ध की जाती है कि संसार के समस्त रंग सूर्य से प्राप्त होते हैं और सब रंगों के मिश्रण से ही सफ़ेद रंग का प्रकाश होता है, परन्तु जब सूर्य अस्त हो जाता है, अर्थात् रंग का अभाव हो जाता है तब रात या अँधेरा हो जाता है, जो काले रंग का होता है। इस वैज्ञानिक अनुभव से यह बात निष्पन्न होती है कि कालापन कोई रंग नहीं है, प्रत्युत रंगों का अभाव है। अभाव से भाव नहीं होता। यदि कालापन रंगों का अभाव है तो उससे संसार के लाल, पीले और गन्दुमी (गेहूँआ) आदि रंगों की उत्पत्ति कैसे हो सकती है? निग्रोजाति के काले मनुष्यों से अमेरिका के लाल रंगवाले, चीन के पीले रंगवाले और यूरोप के श्वेत रंगवाले कैसे उत्पन्न हो सकते हैं? हमारा तो दृढ़ विश्वास है कि उक्त चारों रूपों और रंगों के मनुष्य उसी जाति से उत्पन्न हुए हैं, जिसमें चारों रंगों और रूपों का मिश्रण था।

अक्षरविज्ञान लिखते समय हमने बम्बई में वैदिक विज्ञान के प्रसिद्ध विद्वान् और चित्रकार श्रीयुत शिवकरजी बापूजी तड़पदे से एक चित्र और एक पुतला ऐसा बनवाया था जिसमें चारों रूपों और रंगों का समान सम्मिश्रण था। चित्र और पुतला दोनों ही बड़े सुन्दर थे। उनकी कोई रेखा अमर्यादित न थी। आँख, नाक, गालों की हड्डियाँ, ठोढ़ी और सिर सभी सुन्दर, पुष्ट और मर्यादित थे। चित्र और पुतला दोनों की शबाहत काश्मीर के रहनेवाले ब्राह्मणों की-सी थी। काश्मीर के ब्राह्मण आर्य हैं, इससे हमें अनुमान करने का पूरा साधन प्राप्त हो गया कि मूलपुरुष निश्चितरूप से आर्य ही थे, काले रंग के कलेंग नहीं—अफ्रीका के निग्रो नहीं। दूसरी बात यह है कि मूलपुरुष आदर्श होते हैं। उन्हीं से संसार का वंश, ज्ञान और सभ्यता की परम्परा चलती है, इसलिए उनमें हर प्रकार के उत्कृष्ट गुणों का होना आवश्यक होता है। जिस प्रकार वे रंग-रूप और आकृति-प्रकृति में सर्वश्रेष्ठ होते हैं, उसी प्रकार वे ज्ञान और धर्म में भी सर्वश्रेष्ठ होते हैं। यही बात मद्रास हाईकोर्ट के जज, न्यायमूर्ति टी०एल० स्ट्रैंज महोदय ने भी स्वीकार की है। आप लिखते हैं कि 'आदिसृष्टि अमैथुनी होती है और इस अमैथुनी सृष्टि में उत्तम और सुडौल शरीर बनते हैं'[१]। अतः हम अब इतिहास और विज्ञान के आधार पर अन्वेषण करके देखते हैं कि ये मूलपुरुष कौन थे?

यह इतिहास प्रसिद्ध है कि हज़रत नूह के बेटों का नाम हेम और शेम था। हेम से हेमिटिक जाति की और शेम से सेमिटिक जाति की उत्पत्ति हुई है। यह इतिहास-प्रसिद्ध घटना इस समय दो प्रबल वैज्ञानिक खोजों के आधार पर सिद्ध हो रही है। एक खोज संसार के समस्त रंगों से सम्बन्ध रखती है और दूसरी मानववंशशास्त्र से। यहाँ हम क्रम से दोनों खोजों का सारांश लिखते हैं। पहली खोज यह है कि 'मनुष्यजाति के चारों विभागों में 'काकेसिक' विभाग सर्वश्रेष्ठ कहलाता है। इस विभाग के लोग गौरांग हैं'[२]। हम देखते हैं कि इसी विभाग से सब रंगों

---

१. *The Development of Creation on the Earth,* p.17.

२. Caucasic—One of the four great divisions of the human race. Type, white skinned, square jawed, skull between broad and long, hair soft, straight or wavy; in intelligence, enterprise and civilisation much superior to other divisions. —*Harmsworth History of the World,* p. 324.

की उत्पत्ति हुई है। विद्वानों की खोज है कि 'हेमाइट लोग काकेसिक वंश के हैं और सफ़ेद से भूरे और काले रङ्ग के हो गये हैं। उनके बाल सीधे अथवा निग्रोजाति के-से घुँघराले होते हैं'[१]। हेमिटिक शाखा के लोग मिस्र में रहते हैं। पण्डितों ने स्वीकार कर लिया है कि 'अमेरिका के लाल रंगवाले मूलनिवासियों का मिलान मिस्रनिवासियों, अर्थात् हेमिटिकों से ही होता है'[२]। 'इन्हीं की एक 'हिमेराइट' जाति 'लाल मनुष्य' भी कहलाती है। यह जाति जिस समुद्र के किनारे रहती है उसे भी लाल सागर ही कहते हैं'[३]। श्वेत रंग के यूरोपनिवासी भी अपने को काकेसिक विभाग का ही कहते हैं। इस प्रकार लाल, पीले, काले, और सफेद रङ्ग के चारों समुदाय काकेसिक विभाग से ही उत्पन्न हुए देखे जाते हैं।

दूसरी खोज यह है कि संसार के जितने मनुष्य हैं सब हेमिटिक और सेमिटिक शाखाओं में समा जाते हैं। यह सभी जानते हैं कि मिस्रनिवासी हेमिटिक हैं[४]। इनके यहाँ मुर्दों में मसाला भरकर रखने का रिवाज था। मिस्र के पिरामिड इन्हीं मुर्दों (ममी) के रखने के लिए बनवाये जाते थे। अब पता लगा है कि ये सब बातें अमेरिका के लाल रंगवाले मूलनिवासियों में भी पाई जाती हैं। पुरातत्त्व के अनुसन्धानकर्त्ताओं को वहाँ भी 'ममी' और 'पिरामिड' मिले हैं, अतः विद्वानों ने बहुत कुछ छान-बीन के पश्चात् निश्चित किया है कि 'अमेरिकानिवासियों का सम्बन्ध मिस्रदेशीय हेमिटिकों से ही है'[५]।

'काकेसिक विभाग की दूसरी शाखा सेमिटिक है। इसमें अरब, बेबिलोन, सीरिया और जुड़िया के यहूदी आदि सम्मिलित हैं। इसी की एक शाखा हिट्टाइट (Hittite) है, जो पहले कभी मेसोपोटामिया में रहा करती थी'[६]। मेसोपोटामियों में पुरातत्त्व के विद्वानों को ३४०० वर्ष पूर्व की ईंटें मिली हैं, जिनमें इनके सन्धि-पत्र लिखे हुए हैं। इन्हीं लोगों का एक दल भारतवर्ष में रहता है, जिसे द्रविड़ कहते हैं। अक्षरविज्ञान लिखते समय हमने मद्रास के एक बहुत बड़े विद्वान् से द्रविड़जाति के विषय में कुछ प्रश्न किये थे। उत्तर में उन्होंने लिखा था कि द्रविड़ लोग हिट्टाइट जाति के ही हैं[७]।

भारत के द्रविड़ों की भाषा मंगोलिक और निग्रो-विभागों को जोड़ती है। भाषा ही नहीं प्रत्युत उनका रूप, रंग और शारीरिक गठन भी एक ही है। विद्वानों ने पता लगाया है कि भारत के द्रविड़ों की भाषा आस्ट्रेलिया की भाषा की भाँति है। इतना ही नहीं प्रत्युत वे कहते हैं कि वह

---

१. Hamites—A family of Caucasic man, belonging to the Melanochroid or dark type, ranging in colour from white to brown and even black; hair soft, straight or wavy.
—*Harmsworth History of the World*, p. 330.

२. Its people were more like North American Indian than anything else. —*Ibid*, p. 2014.

३. Himyarites—A branch of the Semitic family ('Red Men' whence the Red Sea) formerly occupying Arabia Felix and Abyssinia; they form the main stock of the Abyssinian race. —*Ibid*, p. 330.

४. Egyptians—The ancient inhabitants of Egypt..........belonging to the Hamitic family.
—*Ibid*., p. 326.

५. Its people were more like North American Indians than anything else. —*Ibid*, p. 2014.

६. Hittite.—A forgotten but once mighty people of Semitic race, who contested the entry of the Israelites into Canaan, and waged war with Egypt and Assyria for many centuries. —*Ibid*, p. 330.

७. I am satisfied from Linguistic, ethnological, religious and mythological and historical consideration that the Dravedian races of the south came over, at some period not later than 500 B.C., across the sea from Western Asia and that the more progressive among them were of Hittite origine.
—*Vedam Venkata Chaliar*, B.A.B.L., Letter dated Nellore 15.1.14.

भाषा मंगोलिक विभाग से भी मिलती है[१]। आस्ट्रेलियानिवासी शुद्ध निग्रोजाति के हैं जो द्रविड़जाति से भी सम्बन्ध रखते हैं[२]। इसी प्रकार द्रविड़ लोग मंगोलिक विभाग से भी सम्बन्ध रखते हैं[३]। कहने का तात्पर्य यह कि द्रविड़जाति निग्रो और मंगोलिक विभागों को बड़ी ख़ूबी से जोड़कर अपना मूलस्रोत सेमिटिक शाखा से स्थापित करती है। उसी प्रकार हेमिटिक शाखा अमेरिका के मूलनिवासियों को जोड़ती है। इस प्रकार से काकेसिक विभाग की हेमिटिक और सेमिटिक शाखाओं से ही मंगोलियन, अमेरिकन और निग्रो-विभागों का सम्बन्ध सूचित होता है।

उक्त दोनों खोजों से सिद्ध होता है कि समस्त संसार के काले, पीले, लाल और सफ़ेद रंगवाले चारों विभाग काकेसिक विभाग की हेमिटिक और सेमिटिक शाखाओं से ही उत्पन्न हुए हैं और नूह के पुत्र हेम और शेम की ही सन्तति हैं। यह बात सर्वमान्य है कि काकेसिक विभाग में आर्य, हेमिटिक और सेमिटिक तीन उपविभाग हैं और तीनों विभागों में से दो विभाग, नूहपुत्र हेम और शेम की सन्तति है, तब प्रश्न होता है कि स्वयं हज़रत 'नूह' कौन थे? उत्तर स्पष्ट है कि हज़रत नूह आर्य थे। हज़रत नूह का आर्य होना अनेक प्रमाणों से सिद्ध है। नूह का तूफ़ान, वैवस्वतमनु की मछलीवाली कथा का अनुवाद ही है। नूह के बड़े पुत्र हेम की सन्तति जो मिस्र में रहती है अपना सम्बन्ध राजा मनु से बतलाती है, अपने को सूर्यवंशी कहती है और मनु वैवस्वत के मूल विवस्वान् सूर्य को अपना इष्ट समझती है[४]। इन मिस्रवालों की ही सन्तति अमेरिका के मूलनिवासी बतलाये जाते हैं। वे भी सूर्यवंशी राजा रामचन्द्र का 'रामसीतव' नामक उत्सव मनाते हैं। खोजनेवालों को वहाँ भी सूर्य का मन्दिर मिला है।

मनु की मछली, अर्थात् नूह के जलप्लावन की कथा मिस्र, बेबिलोन, सीरिया, चाल्डिया, जुड़िया, फ़ारस, अरब, ग्रीस, भारत, चीन और अमेरिका आदि संसार के समस्त देशों में—समस्त जातियों में पाई जाती है। इससे यह बात और भी पुष्ट हो जाती है कि हेम और शेम से ही—नूह या मनु से ही—समस्त मनुष्यजाति की उत्पत्ति हुई है। बाइबिल में जो नूह की पीढ़ियाँ लिखी हैं, वे काल्पनिक हैं। आदम से नूह तक ११ पीढ़ी होती हैं, किन्तु इनकी वर्षसंख्या २२६२ लिखी हुई है। इसी प्रकार नूह के पुत्र शेम से इबराहिम तक, ११ पीढ़ी के १३१० वर्ष कहे गये हैं। इससे स्पष्ट हो जाता है कि यह गणना विश्वास योग्य नहीं है। हज़रत नूह को पैदा हुए लाखों

---

१. India was already peopled by dark-complexioned people more like Australian than any one else and speaking a group of languages called Dravedians. —*Mure.*
Mr. Norris fully concurs in this opinion but further observes a decided relationship between these languages and those of Australia.
Dr. Rost considers it an undeniable fact that the grammatical skeleton of Australian, Mongolian and South Indian language is essentially the same. —*Ancient and Medival India.*

२. Australians—The aborigines of Australia, a branch of the Oceanic Negro family. Their numerous tribes present a general uniformity of physical and mental development, under which two types may be recognised. The earlier of these is probably that shown by the extinct Tasmanians......The other type was perhaps akin to the Dravedians of India or to a very low Caucasic race. —*Harmsworth History of the world,* p. 321.

३. Dravedians—Indigenous non-Aryan inhabitants of South India, including the Telingas or Telegu of the Nizam's Dominions, the Tamils of Karnatic and Ceylon, the Kanarese of Mysore, the Malyalim of Malabar coast those wild hunters the Gonds of Vindhya Hills, the Sinhalese of Ceylon, and perhaps the Veddahs. A Mongolian race originally, which has been assimilated to the Caucasic type by long intermixture of blood. —*Harmsworth History of the World,* p. 326.

४. The reader will not readily forget the city of the Sun 'Helispolis' or 'Menes' the first Egyptian king of the race of the Sun, the 'Menu Voivasowat' or patriarch of the Solar race nor his status, that of the great 'menoo', whose voice was said to salute the rising sun. —*India in Greece,* p. 174.

वर्ष हो चुके हैं। जो सन् संवत् महाराज मनु का है वही हज़रत नूह का है। 'नूह' की नौका और मनु की मछली की आदिम कथा का रहस्य, उस दिन फ़िनीशिया की लिपि पर विचार करते समय इस प्रकार खुला—

अरबी लिपि में वर्णमाला को 'अबजद हौवज़' कहते हैं। यह वर्णमाला फ़िनीशिया से ली गई है। फ़िनीशिया में यह 'अबजद' से शुरू होकर 'क़ुरशत' पर ही समाप्त होतीं थी, इसीलिए हिन्दू पण्डित इसे 'क़ुरशती' न कहकर 'खरोष्ट्री' कहा करते थे। अरबी और फ़ारसीवालों ने इसमें 'सख़ज़' और 'ज़ज़ग़'—ये छह अक्षर बढ़ा लिये हैं। इसके कई एक टुकड़े रोमन में भी विद्यमान हैं और अलिफ़ बे के कारण अलफ़ेबेट कहलाते हैं। A B C D और K L M N और Q R S T अबजद, कलमन और क़ुशरत की हूबहू नक़ल हैं। उपर्युक्त अबजद में एक कलमन है। इस कलमन में ک ل م ن काफ़, लाम, मीम और नून सम्मिलित हैं। इन अक्षरों में 'नून' अक्षर बड़ा ही मनोरञ्जक और ऐतिहासिक है। मिस्र की भाषा में 'नून' शब्द का अर्थ मछली है, जो फ़िनीशिया में ईल नामक मछली की शकल का हो गया है और समस्त सेमिटिक भाषाओं में 'नून' अक्षर के लिए व्यवहृत होता है[१]। इस अक्षर की बनावट अंग्रेज़ी और अरबी में आज भी मछली के ही आकार की होती है[२]। मछली का नाव के साथ घनिष्ठ सम्बन्ध है। नाव की रचना मछली की रचना पर ही स्थिर हुई है। दोनों का रूप एक ही है। बम्बई प्रान्तवाले नाव को 'मछवा' कहते भी हैं। मछवा शब्द मछली से लिया गया है। उसी प्रकार मिस्र का नून शब्द भी संस्कृत के नव, नाव, नौ आदि से ही लिया गया है। नेवी शब्द अंग्रेज़ी में भी नाव के लिए ही व्यवहृत होता है। हज़रत नूह को भी आदि में 'नौआ' कहा करते थे। उसी 'नौआ' से ही नूह बन गया है। यह 'नूह' या 'नौआ' नौ या नाव के अतिरिक्त और कुछ नहीं है। इस नौआ का सम्बन्ध मनु के जलप्लावन से ही है, इसलिए हमको 'नाव' और नौआ तथा मछली और मनु का सम्बन्ध निकालने में सरलता हो गई है। हमारा विश्वास है कि नूह—नौआ, अर्थात् नाव मनु की मछली ही है और मनु की मछली ही नूह—नौका, अर्थात् नाव है। दोनों का तात्पर्य यही है कि आदि पुरुष मनु ने मछली को देखकर नाव बनाई और उस समय के जलप्लावन से अपनी और दूसरों की रक्षा की। यह न समझना चाहिए कि मनु ने मछली से सबको बचाया। महाभारत में स्पष्ट लिखा है कि **'हिमवतः शृंगे नावं बध्नीत'**, अर्थात् मनु ने पर्वतशृङ्ग में नाव को बाँधा। इससे स्पष्ट है कि मछली नाव ही है।

मनु का नाम था वैवस्वत मनु। विवस्वान् सूर्य को कहते हैं, इसीलिए वैवस्वत मनुवंशी इक्ष्वाकु आदि सूर्यवंशी कहलाते हैं। इला नामी लड़की सूर्यवंशियों की ही है, जिससे सोमवंश चलता है। हज़रत नूह के दोनों पुत्र हेम और शेम सूर्यवंश और चन्द्रवंश ही हैं। सूर्य को हेमगर्भ, अर्थात् हिरण्यगर्भ भी कहते हैं[३] और 'शेम' तो 'सोम' के अतिरिक्त और कुछ है ही नहीं। मनु से आर्यों की उत्पत्ति और सूर्य-चन्द्र से आर्यक्षत्रियों की उत्पत्ति जगत् प्रसिद्ध है। इसी प्रकार यह

१. Nūn is a fish in Egyptian, and reduced to one of the eel type in Phoenician. In all the Semitic Languages this is the meaning of the word by which the letter is known.
—The Origin of the Alphabet by Herbert Boynes (Theosophist August, 1914).

२. **N** =  , ن = 

३. विष्णु पुराण ४।१८।११ में लिखा है कि **'तितीक्षो रुशद्रथः पुत्रोऽभूत ॥ ११ ॥ तस्यापि हेमो हेमस्यापि सुतपाः ॥ १२ ॥'** अर्थात् ययाति के वंश में रुशद्रथ हुआ और उसके वंश में हेम हुआ। सम्भव है यह वही हेम हो, क्योंकि वाल्मीकि रामायण में ययाति सूर्यवंशी कहे गये हैं।

भी प्रसिद्ध है कि पतित क्षत्रियों से ही संसार के समस्त मनुष्यों का विस्तार हुआ है। यहाँ थोड़ा-सा आर्यशास्त्रों से भी दिखलाते हैं कि उनमें आर्यों की उत्पत्ति और उनसे समस्त संसार के मनुष्यों की उत्पत्ति का वर्णन किस प्रकार किया गया है।

आर्यशास्त्रों में वेदों का पद बहुत ऊँचा है। वेद में परमात्मा आज्ञा देते हैं कि **'अहं भूमिमददामार्याय'**,* अर्थात् मैंने आर्यों को ही भूमि दी है। दूसरे स्थान पर आदेश है कि **'कृण्वन्तो विश्वमार्यम्'**+ अर्थात् संसार को आर्य बनाओ। आर्य का निर्वचन करते हुए निरुक्त में यास्काचार्य कहते हैं कि **'आर्य ईश्वरपुत्रः'**× अर्थात् आर्य ईश्वरपुत्र हैं। इन सब उद्धरणों का तात्पर्य यही है कि परमेश्वर ने सबसे प्रथम आर्यों को उत्पन्न करके उनको ही यह भूमि दी है और आर्यसभ्यता में ही सबको रहने का आदेश दिया है। संसार के अन्य मनुष्य ईश्वरपुत्र इसलिए नहीं हैं कि वे ईश्वर की अमैथुनी सृष्टि द्वारा उत्पन्न नहीं हुए। वे आर्यों की पतित शाखाओं से ही हुए हैं। अमैथुनी सृष्टि द्वारा तो केवल आर्यों की ही उत्पत्ति हुई है, इसीलिए वे ईश्वरपुत्र कहलाते हैं। ये आर्य पहले चारों रंग-रूपों के मिश्रित रंग-रूप से ही उत्पन्न हुए थे, इसीलिए आदि में उनका एक ही वर्ण, एक ही रूप और एक ही भाषा थी[१]। वर्णविभाग होने के पूर्व ही आर्यों के सर्वश्रेष्ठ पुरुषों में से ब्रह्मा और वैवस्वत मनु, अपनी योग्यता के कारण, विद्या और शासन के लिए निर्धारित हो चुके थे, इसीलिए ये दोनों पुरुष अब तक देवतुल्य ही माने जाते हैं। **'ब्रह्मा देवानां प्रथमः संबभूव'**§ जिस प्रकार लिखा हुआ है उसी प्रकार यह भी लिखा है कि देव, असुर, मनुष्य आदि समस्त प्रजा मनु से ही उत्पन्न हुई है और मनु से उत्पन्न होने के कारण ही वह मानववंशी, अर्थात् मनुष्य कहलाती है[२]। यही बात प्रसिद्ध इतिहासकार मेनिङ्ग अपने ग्रन्थ में लिखता है कि यह बात विद्वानों ने मान ली है कि आर्यों अथवा मनुष्यजाति के पूर्व पितामह 'मनु' या 'मनस' उसी प्रकार हैं जिस प्रकार जर्मनों के 'मनस' हैं, जो ट्यूटनों के मूलपुरुष समझे जाते हैं। अंग्रेजी का मैन और जर्मन का 'मन्न' शब्द मनु शब्द के साथ उसी प्रकार मिलता है जिस प्रकार जर्मन का मेनश संस्कृत के 'मनुष्य शब्द के साथ[३]। इन्हीं मनु का यह मानवसमाज कुछ समय तो इसी प्रकार चला, परन्तु जब वर्णविभाग की आवश्यकता हुई और गुण-कर्म और स्वभावनुसार उनका वर्णविभाग हो गाय तब उन्हीं में से वर्णधर्म के प्राबल्य से, एक ही रंग के चार रंग हो गये—ब्राह्मण स्वेत, क्षत्री लाल, वैश्य पीत और शूद्र श्याम रंग के हो गये[४]। देश की परिस्थिति के कारण इन चारों की वृद्धि हुई और उन्हीं में से संसार की अनेक

---

१. **अमरेन्द्र मया बुद्ध्या प्रजाः सृष्टास्तथा प्रभो। एकवर्णाः समाभाषा एकरूपाश्च सर्वशः॥**
—वाल्मीकि रामायण, उत्तर० ३०।१९

२. **मनुना च प्रजाः सर्वाः स देवासुरमानुषाः। सृष्टव्याः सर्वलोकाश्च यच्चेङ्गं यच्च नेङ्गति॥**
—महा०वन० [१८७।५१]

धार्मात्मा स मनुर्धीमान्यत्र वंशः प्रतिष्ठितः। मनोर्वंशो मानवानां ततोऽयं प्रथितोऽभवत्॥
—महा०आदि० [७५।१३]

३. It has been remarked by various authors (as Kuhn and Zeitsaehrift IV. 94 ff) that in analogy with Manu or Manus as the father of mankind or of the Aryas, German mythology recogises Manus as the ancestor of Teutons. The English 'Man', and the German Manu apper also to be akin to the word **Manu**, as the German *Menesh* persents a close resemblance to *Manush* of Sanskrit.
—*Mannings' Ancient and Medieval India,* Vol. I, p. 118.

* ऋ० ४।२६।२ + ऋ० ९।६३।५ × निरुक्त ६।५।२६ § मुण्डक १।१।१

४. **ब्राह्मणानां सितो वर्णः क्षत्रियाणां च लोहितः। वैश्यानां पीतको वर्णः, शूद्राणामसितस्तथा।**
—महा०शान्ति०

भी प्रसिद्ध है कि पतित क्षत्रियों से ही संसार के समस्त मनुष्यों का विस्तार हुआ है। यहाँ थोड़ा-सा आर्यशास्त्रों से भी दिखलाते हैं कि उनमें आर्यों की उत्पत्ति और उनसे समस्त संसार के मनुष्यों की उत्पत्ति का वर्णन किस प्रकार किया गया है।

आर्यशास्त्रों में वेदों का पद बहुत ऊँचा है। वेद में परमात्मा आज्ञा देते हैं कि '**अहं भूमिमददामार्याय**',* अर्थात् मैंने आर्यों को ही भूमि दी है। दूसरे स्थान पर आदेश है कि '**कृण्वन्तो विश्वमार्यम्**'+ अर्थात् संसार को आर्य बनाओ। आर्य का निर्वचन करते हुए निरुक्त में यास्काचार्य कहते हैं कि '**आर्य ईश्वरपुत्रः**'× अर्थात् आर्य ईश्वरपुत्र हैं। इन सब उद्धरणों का तात्पर्य यही है कि परमेश्वर ने सबसे प्रथम आर्यों को उत्पन्न करके उनको ही यह भूमि दी है और आर्यसभ्यता में ही सबको रहने का आदेश दिया है। संसार के अन्य मनुष्य ईश्वरपुत्र इसलिए नहीं हैं कि वे ईश्वर की अमैथुनी सृष्टि द्वारा उत्पन्न नहीं हुए। वे आर्यों की पतित शाखाओं से ही हुए हैं। अमैथुनी सृष्टि द्वारा तो केवल आर्यों की ही उत्पत्ति हुई है, इसीलिए वे ईश्वरपुत्र कहलाते हैं। ये आर्य पहले चारों रंग-रूपों के मिश्रित रंग-रूप से ही उत्पन्न हुए थे, इसीलिए आदि में उनका एक ही वर्ण, एक ही रूप और एक ही भाषा थी[१]। वर्णविभाग होने के पूर्व ही आर्यों के सर्वश्रेष्ठ पुरुषों में से ब्रह्मा और वैवस्वत मनु, अपनी योग्यता के कारण, विद्या और शासन के लिए निर्धारित हो चुके थे, इसीलिए ये दोनों पुरुष अब तक देवतुल्य ही माने जाते हैं। '**ब्रह्मा देवानां प्रथमः संबभूव**'§ जिस प्रकार लिखा हुआ है उसी प्रकार यह भी लिखा है कि देव, असुर, मनुष्य आदि समस्त प्रजा मनु से ही उत्पन्न हुई है और मनु से उत्पन्न होने के कारण ही वह मानववंशी, अर्थात् मनुष्य कहलाती है[२]। यही बात प्रसिद्ध इतिहासकार मेनिङ्ग अपने ग्रन्थ में लिखता है कि यह बात विद्वानों ने मान ली है कि आर्यों अथवा मनुष्यजाति के पूर्व पितामह 'मनु' या 'मनस' उसी प्रकार हैं जिस प्रकार जर्मनों के 'मनस' हैं, जो ट्यूटनों के मूलपुरुष समझे जाते हैं। अंग्रेजी का मैन और जर्मन का 'मन्न' शब्द मनु शब्द के साथ उसी प्रकार मिलता है जिस प्रकार जर्मन का मेनश संस्कृत के 'मनुष्य शब्द के साथ[३]। इन्हीं मनु का यह मानवसमाज कुछ समय तो इसी प्रकार चला, परन्तु जब वर्णविभाग की आवश्यकता हुई और गुण-कर्म और स्वभावनुसार उनका वर्णविभाग हो गाय तब उन्हीं में से वर्णधर्म के प्राबल्य से, एक ही रंग के चार रंग हो गये—ब्राह्मण स्वेत, क्षत्री लाल, वैश्य पीत और शूद्र श्याम रंग के हो गये[४]। देश की परिस्थिति के कारण इन चारों की वृद्धि हुई और उन्हीं में से संसार की अनेक

---

१. **अमरेन्द्र मया बुद्ध्या प्रजाः सृष्टास्तथा प्रभो। एकवर्णाः समाभाषा एकरूपाश्च सर्वशः॥**
—वाल्मीकि रामायण, उत्तर० ३०।१९

२. **मनुना च प्रजाः सर्वाः स देवासुरमानुषाः। सृष्टव्याः सर्वलोकाश्च यच्चेङ्गं यच्च नेङ्गति॥**
—महा०वन० [१८७।५१]

धार्मात्मा स मनुर्धीमान्यत्र वंशः प्रतिष्ठितः। मनोर्वंशो मानवानां ततोऽयं प्रथितोऽभवत्॥
—महा०आदि० [७५।१३]

३. It has been remarked by various authors (as Kuhn and Zeitsaehrift IV. 94 ff) that in analogy with Manu or Manus as the father of mankind or of the Aryas, German mythology recogises Manus as the ancestor of Teutons. The English 'Man', and the German Manu apper also to be akin to the word **Manu**, as the German *Menesh* persents a close resemblance to *Manush* of Sanskrit.
—*Mannings' Ancient and Medieval India,* Vol. I, p. 118.

* ऋ० ४।२६।२   + ऋ० ९।६३।५   × निरुक्त ६।५।२६   § मुण्डक १।१।१

४. **ब्राह्मणानां सितो वर्णः क्षत्रियाणां च लोहितः। वैश्यानां पीतको वर्णः, शूद्राणामसितस्तथा।**
—महा०शान्ति०

जातियाँ उत्पन्न हो गईं[१]। इस प्रकार से आदिसृष्टि में आर्यों की उत्पत्ति और उन्हीं के वंशविस्तार से संसार की जातियों का वर्णन, आर्यों और आर्येतर जातियों के प्रामाणिक इतिहास में लिखा हुआ है। आधुनिक विज्ञान भी इसी की पुष्टि करता है, अतएव अब हम इस विषय को यहीं छोड़कर इस बात की जाँच करते हैं कि आदिसृष्टि कहाँ उत्पन्न हुई?

आदिसृष्टि की एक ही स्थान में उत्पत्ति

इस खण्ड के गत पृष्ठों में हम देख चुके हैं कि आदि में जो मनुष्य उत्पन्न हुए थे वे इथियोपिक विभाग के निग्रो न थे, प्रत्युत सब आर्य थे। अब हम आगे देखना चाहते हैं कि उन आदि मूलपुरुषों की जन्मभूमि कहाँ थी, अर्थात् आरम्भ में वे कहाँ उत्पन्न हुए थे।

क्या आदि में मनुष्यप्राणी एक ही स्थान में प्रादुर्भूत हुआ या पृथिवी के भिन्न-भिन्न स्थानों में अनेक स्थानों पर? इस प्रश्न का उत्तर बहुत दिन पहले विद्वानों ने दो प्रकार से दिया था। एक प्रकार यह था कि मनुष्यप्राणी बन्दरों से विकसित हुआ है, अतः जहाँ-जहाँ बन्दरों का निवास रहा हो वहाँ-वहाँ मनुष्यप्राणी के उत्पन्न होने की सम्भावना है। दूसरा प्रकार यह था कि मनुष्य बन्दरों से नहीं प्रत्युत वनमनुष्यों से विकसित हुआ है, अतः इसका जन्म वहीं हो सकता है जहाँ वनमनुष्य पाये जाते हों। वनमनुष्य अफ्रीका, आस्ट्रेलिया, मडगास्कर और जावा आदि में ही पाये जाते हैं, अर्थात् वे वहीं पाये जाते हैं जहाँ निग्रोदल की आबादी है। निग्रोदल अब तक सभ्यता में समस्त मनुष्यसमुदाय से पीछे है। उसमें अनेक जातियाँ और दल ऐसे हैं जो वनमनुष्य से थोड़े ही उन्नत हैं। इससे ज्ञात होता है कि मनुष्य उन्हीं स्थानों में से किसी एक स्थान पर पैदा हुआ जहाँ निग्रो या कपितुल्य वनमनुष्य रहते हैं, पृथिवी के प्रत्येक भाग में नहीं, परन्तु जब से भौगोलिक विभागशास्त्र का प्रादुर्भाव हुआ है और भौगोलिक प्रक्रिया के साथ-साथ यह सिद्ध हो गया है कि संसार में जितने प्राणी हैं, सबका वंशविस्तार एक ही मूल से हुआ है तब से अब यह प्रश्न उठता ही नहीं कि मनुष्य अनेक जगह अलग-अलग प्रादुर्भूत हुआ।

पिछले पृष्ठों में हम इस भौगोलिक शास्त्र पर पर्याप्त प्रकाश डाल चुके हैं, इसलिए उसे यहाँ पुनः दोहराना नहीं चाहते। यहाँ केवल इतना ही बतलाना है कि 'भौगोलिक विभागशास्त्र' के अनुसार द्वीप-द्वीपान्तर में बसे हुए प्राणी, जो परस्पर शारीरिक भेद के साथ अलग-अलग प्रतीत होते हैं, कभी भूमिभाग जुड़े रहने के कारण एक ही माता-पिता से उत्पन्न हुए थे—आस्ट्रेलिया का दीर्घकाय घोड़ा और नेपाल का छोटा टट्टू एक ही पूर्वज की सन्तान हैं। कहने का तात्पर्य यह कि रूप वैचित्र्य भले हो, परन्तु एक जाति दो विभिन्न मार्गों से विकसित होकर एक रूप में नहीं आई। यह कभी नहीं हुआ कि बंगाल के मोर, ऊँट, हाथी, चीता, कौवा और साँप होते हुए विकसित हुए हों और गुजरात के मोर चींटी, न्योला, लोमड़ी, बिल्ली से गिरगिट होते हुए मोर हुए हों और अब दोनों देशो के मोर परस्पर अण्डे-बच्चे देते हों। अथवा अमेरिका का मोर दूसरी मछलियों और मण्डूकों से विकसित हुआ हो और चीन का दूसरों से। कहने का तात्पर्य यह कि अलग-अलग कई वंशों से किसी प्राणी का विकास नहीं हुआ, प्रत्युत सब एक ही पितामह की सन्तान हैं। जो हाल अन्य प्राणियों का है, वही मनुष्यों का भी समझना चाहिए।

नदी के सूख जाने पर रेत से कोई वृक्ष आप-ही-आप नहीं उग जाता और न समुद्र में भाटा हो जाने पर बालू से वृक्ष उगता हुआ देखा गया है। हम संसार में देख रहे हैं कि जब कोई भूमि

---

१. शनकैस्तु क्रियालोपादिमा क्षत्रियजातयः। वृषलत्वं परिगता ब्राह्मणानामदर्शनात्॥
पौण्ड्रकाश्चौण्ड्रद्रविडाः कांबोजा यवनाः शकाः। पारदाः पह्लवाश्चीनाः किराता दरदः खशाः॥ —मनुस्मृति

समुद्र के पेट से बाहर निकलती है और रेत के मैदानों की भाँति स्थलरूप में परिणत होती है तब उसमें तब तक कोई वस्तु पैदा नहीं होती जब तक रेत बारीक होकर लसदार मिट्टी न हो जाए। लसदार मिट्टी हो जाने पर भी बीज आप-ही-आप उसमें से निकल नहीं आता जब तक अनेक कारणों के द्वारा प्रेरित होकर—आँधी, तूफ़ान, पशु, मक्खी और मच्छर आदि के द्वारा प्रभावित होकर—वहाँ नहीं पहुँचता। यदि लोग समझते हों कि कुछ दिन बाद उस जड़ और निर्जीव रेत से ही वृक्षों के अंकुर निकलने लगते होंगे तो यह अनुमान वैसा ही होगा जैसा किसी ने आटा गिरता हुआ देखकर चक्की के अन्दर गेहूँ के खेतों का अनुमान किया था। यह घटना बतलाती है कि बीज आप-ही-आप नहीं निकलता, किन्तु वह खोज करके लाया जाता है और बड़े यत्न से किसी अनुकूल स्थान में बोया जाता है, तब कहीं पौधे तैयार होते हैं और अन्य स्थानों में लगाये जाते हैं। बाग़ीचों में हम प्रतिदिन यही क्रम देखते हैं। माली पहले एक क्यारी में बीज तैयार करता है, फिर वहाँ से पौधे लेकर सारी फुलवारी में लगाता है और काम पड़ने पर दूर देशों को भी भेजता है। कहने का तात्पर्य यह कि बीज सर्वत्र पैदा नहीं होता। वह एक ही स्थान से सर्वत्र फैलता है, अतः इस बीज-क्षेत्र-न्याय के अनुसार मनुष्य भी पहले किसी एक ही स्थान में पैदा हुआ और फिर संसारभर में फैला।

माली को जिस प्रकार बीज बोने के लिए दो बातें ध्यान में रखनी पड़ती हैं, उसी प्रकार मनुष्य के पैदा करने में परमात्मा को भी दो बातें ध्यान में रखनी पड़ी होंगी। माली उसी स्थान में बीज बोता है जहाँ का जलवायु उस पौधे के अनुकूल होता है और उसका खाद्य बहुतायत से मिल सकता है। दूसरे जहाँ आँधी-ओले आदि बाहरी उत्पातों से रक्षा भी हो सकती है। इसी प्रकार मनुष्य भी एसे ही स्थान में पैदा किया गया होगा जहाँ का जलवायु उसके अनुकूल हो और उसका खाद्य-अन्न मिल सके तथा आँधी, तूफ़ान, जलप्लावन, अग्निप्रपात, भूकम्प और अनेक एसी ही आरम्भिक दुर्घटनाएँ न हो सकती हों। ऐसा ही स्थान मनुष्यों की आदिसृष्टि के योग्य हो सकता है। मनुष्यों के ही नहीं प्रत्युत पशु, पक्षी और वनस्पति आदि सभी प्राणियों की उत्पत्ति के योग्य समझा जा सकता है।

इस समय समस्त पृथिवी के बड़े-बड़े छह विभाग—एशिया, यूरोप, अमेरिका, अफ्रीका, आस्ट्रेलिया और द्वीपसमुदाय हैं। कहते हैं कि किसी युग में अफ्रीका, आस्ट्रेलिया, द्वीपपुञ्ज, भारत का दक्षिण प्रान्त और लंका, मडगास्कर आदि एक ही में जुड़े थे[१]। यदि यह सत्य हो तो कहना चाहिए कि पृथिवी के चार ही विभाग थे, अर्थात् एशिया, यूरोप, अमेरिका और संयुक्त द्वीपपुञ्ज। अफ्रीका, अस्ट्रेलिया, मडगास्कर, द्वीपपुञ्ज, लंका और भारत का दक्षिणी भाग उस समय एक में थे, इसलिए हमने इन सबका नाम 'संयुक्तद्वीपपुञ्ज' रक्खा है। विद्वानों का मत है कि मनुष्यजाति का आरम्भिक विकास यूरोप और अमेरिका में नहीं हुआ। जाँच करनेवाले कहते हैं कि पूर्वकाल में अमेरिका में बन्दरों के न होने से मनुष्य की उत्पत्ति वहाँ हो ही नहीं सकती[२]।

---

१. India, South Africa, and Australia were connected by an Indo Oceanic continent, in the Permian epoch, and the two former countries remained connected (with at the utmost only short interruptions) up to the end of the Mislene period. During the later part of the time this land was also connected with Malayana. —*Quarterly Journal of the Geological Society,* Vol. XXXI, p. 540

२. It is true that the cradle of the human race can hardly have been in America, to cite one objection, the Anthropoid apes which are indispensable to the theory of evolution as the connection link between the animal world and man, have at no time been native there, any more than they are now, as the fossil finds in all American excavations have proved.

—*Harmsworth History of the World,* p. 5676

आरम्भिक दशा में यूरोप की हवा भी अनुकूल न थी, इसलिए वहाँ भी बन्दर नहीं रह सकते थे। यहाँ वहाँ के पशुओं और अन्नों को देखकर भी यही कहा जाता है कि यूरोप में स्तनधारी प्राणिसमूह एशिया से ही गया है, वह वहाँ उत्पन्न नहीं हो सका[१]। इस विवरण से ज्ञात होता है कि अमेरिका और यूरोप दोनों भूभाग मनुष्यजाति के आदिजन्मस्थान की योग्यता से बहिष्कृत हो चुके हैं।

कई विद्वानों ने मनुष्यजाति का उत्पत्तिस्थान उत्तर ध्रुवप्रदेश भी माना है। बहुत दिन हुए वार्न साहब ने एक पुस्तक लिखी थी, उसका नाम है 'Paradise Found or the Cradle of the Human Race at the North Pole'। इस पुस्तक में उन्होंने सिद्ध किया है कि आदिसृष्टि उत्तरी ध्रुवप्रदेश में हुई। पुस्तक बड़ी ही रोचक है। इस पुस्तक से प्रभावित होकर ही लोकमान्य तिलक ने आर्यों का मूलनिवास उत्तरध्रुव में मानकर अपने ग्रन्थ की रचना की है, किन्तु पीछे से जब ज्योतिषसम्बन्धी विचारों में उन्नति हुई और डॉक्टर क्राल का यह सिद्धान्त स्थिर हुआ कि तीन लाख वर्षों के अन्दर पृथिवी की केन्द्रच्युति तीन बार हुई है और उक्त प्रदेश में हिमपात का तूफ़ान भी तीन बार हुआ है तब से माना जाने लगा है कि ऐसे स्थान में, जहाँ इस प्रकार की हिमप्रलय होती रहे, वहाँ मनुष्यजाति की आदिसृष्टि नहीं हो सकती और न वहाँ आबादी ही हो सकती है। हाल में तो जाना गया है कि वहाँ प्रति साढ़े दश हज़ार वर्ष में, हिमपात हुआ ही करता है, इसलिए ऐसे स्थान में आदिसृष्टि हो ही नहीं सकती।

इंग्लैंड के नामी डॉक्टर एलेन्सन का कथन है कि 'मनुष्य की खाल पर ध्रुवीय पशुओं के समान लम्बे बाल नहीं हैं, इसलिए इसे ध्रुवीय प्रदेश में रहने के लिए परमेश्वर ने नहीं बनाया। इसकी खाल पर पसीना निकालनेवाले छोटे-छोटे रोम हैं, इसलिए यह अतिशीत प्रदेश में बसनेवाला प्राणी नहीं है'। इसी प्रकार भूगोल में लिखा है कि ध्रुवप्रदेश में वनस्पति नहीं होती। *वहाँ जो मनुष्य रहते हैं, वे ठिंगने हो गये हैं। ध्रुवस्थान में तो प्राणी जी ही नहीं सकते*[२]। पूना के पावगी महोदय ने अच्छी प्रकार सिद्ध कर दिया है कि वहाँ जो मनुष्यसम्बन्धी चिह्न पाये गये हैं उनसे ज्ञात होता है कि वहाँ मनुष्य बहुत दिन बाद तब पहुँचे हैं जब भारत आदि देशों में मनुष्य बहुत उन्नति कर चुके थे। इन समस्त खोजों से अब वार्न साहब का मत अस्वीकृत हो गया है और उत्तरध्रुव में सृष्टि-उत्पत्ति की कल्पना त्याज्य समझी जाती है, अतः उत्तर ध्रुवप्रदेश भी मनुष्य के प्रादुर्भाव का आदिस्थान नहीं हो सकता।

अब एशिया और संयुक्त द्वीपपुञ्ज ही शेष रह जाते हैं। मनुष्य के प्राथमिक जन्म के लिए वर्त्तमान विज्ञानवादी संयुक्त द्वीपुञ्ज में से कोई स्थान प्रस्तावित करते हैं और अन्य विद्वान् एशिया

---

१. We need not, however, expect necessarily to find the proofs in Europe, our nearest in the animal kingdom are confined to hot—almost to tropical calamities.

—*Lord Avebury's Pre-Historic Time,* p. 403

It is, therefore, extremely probable that man first evolved out of anthropoid apes in the tropics not in the Torrid Zone.

—*Rigvedic India,* p. 114

But there is evidence that some of the creatures (e.g. the dog, swine, goat, horned sheep and other familiar animals) which be tamed to his use were not native of Europe, but had their original stock in central Asia, and that some of his grains must likewise have been introduced. Hence, we have glimpses into some of the early human migration from that Eastern Center whence so many successive waves of population have invaded Europe.

—*Encyclopedia Britanica,* 9th Edition, Vol. X, p. 369

[२] ...e Arctic regions no trees at all are found.......and even the men who live there are dwarfs. At ...les all life ceases.

—Geography

का कोई स्थान प्रस्तावित करते हैं, इसलिए हम आगे चलकर देखना चाहते हैं कि दो में से कौन-सा संस्थान ठीक है। मनुष्यजाति का सबसे पहले प्रादुर्भाव कहाँ हुआ इस विषय में अब दो ही मत हैं, अनेक मत नहीं। विकासवाद आधुनिक युग में विज्ञान पर स्थित समझा जाता है, इसलिए आधुनिक शिक्षासम्पन्न विद्वान् अधिकतर इसी पर विश्वास करते हैं। उनका विचार है कि मनुष्य क्योंकि बन्दर का विकास है, इसलिए मनुष्य तक पहुँचने में, बन्दर को जिस प्रकार वनमनुष्य और अर्धमनुष्य होते हुए जाना पड़ा है, अर्थात् पशुता समाप्त करके वनमनुष्य जब मनुष्य हुआ तब वह असभ्य, काला, कुरूप और मूर्ख था। वनमनुष्य और अर्धमनुष्य (ape-like man) जावा आदि में पाये जाते हैं तथा अफ्रीका आदि के निग्रो भी बहुत कुछ वनमनुष्यों की ही भाँति हैं, अतएव मनुष्यजाति के पूर्वपितामह वही लोग हैं और आदिसृष्टि का स्थान भी वही जावा, अफ्रीका आदि ही है। विकासवादियों के अतिरिक्त पुराने विचारों के अनुसार आदिसृष्टि मंगोलिया, मध्य एशिया, बाग़ेअदन, तिब्बत अथवा भारतवर्ष में हुई मानी जाती है। विकासवाद के कर्त्ता पृष्ठ २६० पर कहते हैं कि 'इस विषय पर भिन्न-भिन्न वैज्ञानिकों की अपनी-अपनी निराली सम्मतियाँ हैं—

१. कइयों की सम्मति है कि प्रथम मनुष्यजाति एशिया में उद्भूत हुई।

२. कई विचारक जिनमें बहुत प्रसिद्ध-प्रसिद्ध वैज्ञानिक हैं यह मानते हैं कि उसका स्थान वर्त्तमान एशिया और अफ्रीका के मध्यवर्ती पोलिनिशिया और जावा के समीप कहीं था जो आजकल जल से ढका हुआ है। डॉक्टर चर्चवर्ड आदि अन्य वैज्ञानिकों की यह सम्मति है कि अफ्रीका के विक्टोरिया निआञ्जा और टेंगेनिका सरोवर के पास मनुष्य का प्रादुर्भाव हुआ और वहाँ से फिर मनुष्य का अन्यत्र फैलाव हुआ। अफ्रीका खण्ड को ही मनुष्य की जन्मभूमि मानने की ओर वैज्ञानिकों का अधिक झुकाव हो रहा है। इसी प्रकार हैकल ने भी संयुक्त द्वीपपुञ्ज में से ही कोई स्थान नियत किया है[१], परन्तु हम विकासवाद की पूर्ण समालोचना करके देख आये हैं कि मनुष्य विकास का परिणाम नहीं है। आदिमनुष्यों की जाँच करके भी देख लिया है कि मूलपुरुष संयुक्त द्वीपपुञ्ज के-से रहनेवाले कपितुल्य नहीं थे, प्रत्युत अत्यन्त सभ्य, ज्ञानी और रूपवान् आर्य थे, इसलिए उनका आदिजन्म इन द्वीपों में नहीं हुआ। उनका जन्मस्थान एशियाद्वीप में ही कोई स्थान होना चाहिए, अतः हम एशिया अथवा अन्य स्थानों से सम्बन्ध रखनेवाले समस्त विचारों को लिखकर देखना चाहते हैं कि आर्यों का मूलस्थान कहाँ है? यहाँ हम सुविधा के लिए एशिया से सम्बन्ध रखनेवाले नये और पुराने समस्त विचारों को एक ही स्थान पर लिखते हैं।

१. मैक्समूलर ने मध्य एशिया बतलाया है।

२. बाबू उमेशचन्द्र विद्यारत्न मंगोलिया का निर्देश करते हैं।

३. स्वामी दयानन्द सरस्वती तिब्बत का संकेत करते हैं।

---

१. There are a number of circumstances which suggest that the primeval home of man was a continent now sunk, below the surface of the Indian Ocean, which extended along the south of Asia as it is at present towards the coast as far as India and Sundalands, towards west as far as Madagascar and the South eastern shores of Africa.

This large continent of former time, Sclater, an Englishman has called Lemuria, from the monkey-like-animals which inhabited it, and it is, at the same time, of great importance for being the probable cradle of the human race which in all likelihood here first developed out of anthropoid apes.

—*History of Creation*, by Professor Haeckel, p. 325

४. भारतीय सनातनधर्मी भारतदेश के 'कुरुक्षेत्र' पर ज़ोर देते हैं और

५. ईसाई तथा मुसलमान आदम और हौवा का जन्म बाग़े अदन में कहते हैं। आदिसृष्टि के मूलस्थान के विषय में, इतने ही मत प्रसिद्ध हैं, अत: आगे हम इनकी क्रम से आलोचना करते हैं।

१. मैक्समूलर आदि भाषाशास्त्रियों का विचार है कि मध्यएशिया में ही मनुष्यसृष्टि हुई, परन्तु जिन दिनों में इस प्रकार के विचार हो रहे थे उन दिनों में विज्ञान की इतनी उन्नति नहीं हुई थी। उन दिनों में जावा, अफ्रीका आदि देश निश्चित नहीं हुए थे। मध्यएशिया में आर्यों की बस्ती का अनुमान करके और यह अनुमान करके कि आर्यों से ही समस्त मनुष्यजाति पैदा हुई होगी, उन्होंने मध्यएशिया का इशारा किया था, किन्तु अब तक की खोज से यह सिद्ध नहीं हुआ कि मनुष्यजाति मध्यएशिया में उत्पन्न हुई।

२. बाबू उमेशचन्द्र विद्यारत्न बङ्गाल के प्रसिद्ध विद्वान् हैं। उन्होंने 'मानवेर आदि जन्मभूमि' नामी एक बड़ा ही उत्तम ग्रन्थ लिखा है। आपने उसमें मनुष्यों की आदि जन्मभूमि को मंगोलिया बतलाया है। हमने उक्त पुस्तक को बड़े ध्यान से पढ़ा, किन्तु उसमें हमें कोई ऐसा प्रमाण नहीं मिला, जिससे यह सिद्ध हो कि मनुष्यसृष्टि पहले मंगोलिया में ही हुई। उससे यह तो अच्छी प्रकार सिद्ध हो जाता है कि अति प्राचीनकाल में आर्यलोग वहाँ भी रहते थे और यह भी ज्ञात होता है कि आर्यों से ही समस्त मनुष्यजाति उत्पन्न हुई है, किन्तु इस बात का उसमें एक भी प्रमाण नहीं दिया गया कि मनुष्यों की सृष्टि मंगोलिया में ही हुई।

३. स्वामी दयानन्द सरस्वती ने तिब्बत में आदिसृष्टि का होना बतलाया है, परन्तु कोई प्रमाण नहीं दिया।

४. भारतीय सनातनधर्मी आर्य भारतदेश के कुरुक्षेत्र को आदिस्थान बतलाते हैं, क्योंकि शतपथ में **'तेषां कुरुक्षेत्रं देवयजनमास। तस्मादाहुः कुरुक्षेत्रं देवानां देवयजनम्'**[1] और जबालोपनिषद् में **'तदनुकुरुक्षेत्रं देवानां देवयजनं सर्वेषां भूतानां ब्रह्मसदनम्'**[2] लिखा है, परन्तु चरक के प्रमाण से सिद्ध होता है कि ऋषिलोग पहले हिमालाय में ही रहते थे। वहीं से हरद्वार के रास्ते नीचे उतरकर भारत आये और बीमार होकर फिर अपने पूर्वनिवास हिमालय को चले गये[3]। इस पूर्वनिवास पद से स्पष्ट हो जाता है कि 'कुरुक्षेत्र' आदिजन्मस्थान नहीं है, प्रत्युत वह निवासस्थान है, क्योंकि हिमालय पर जानेवाले वही ऋषि थे, जिनसे मनुष्यों का वंश चला है।

५. ईसाई और मुसलमान बाग़ अदन को मूलस्थान मानते हैं, परन्तु इससे यह ज्ञात नहीं होता कि इस स्थान से वर्त्तमान 'अदन बन्दर' का तात्पर्य है या किसी अन्य स्थान से। बाग़ कहते हैं

---

१. शतपथ० १४।१।१।२

२. जाबालो० १।१

३. ऋषयः खलु कदाचिच्छालीना यायावराश्च ग्राम्यौषध्याहाराः सन्तः साम्पत्रिका मन्दचेष्टाश्च नातिकल्याणाः प्रायेण बभूवुः। ते सर्वासामितिकर्त्तव्यतानामसमर्थाः सन्तो ग्राम्यवासकृतमात्मदोषं मत्वा पूर्वानिवासमपगत- [illegible] शिवं पुण्यमुदारं मेध्यमगम्यमसुकृतिभिर्गङ्गाप्रभवममरगन्धर्वकिन्नरानुचरितमनेकरत्ननिचयम- [illegible]भवं ब्रह्मर्षिसिद्धचरणानुचरितं दिव्यतीर्थौषधिप्रभवमति शरण्यं हिमवन्तममराधिपाभिगुप्तं [illegible] त्रिवशिष्ठकश्यपागस्त्यपुलस्त्यवामदेवासितगौतमप्रभृतयो महर्षयः।

—चरक, चिकित्सास्थान १।४।३

महल को जैसे—केसरबाग़, ऐशबाग़। अब यदि 'अदन' शब्द आदिम, अर्थात् संस्कृत के 'आदिम' शब्द का अपभ्रंश हो तो दोनों शब्दों का तात्पर्य आदिम स्थान ही होता है जो किसी दूसरे स्थान की सूचना करता है, परन्तु यदि अदन या इडिन से इसी अदन बन्दर का ही अर्थ निकलता हो तो यह बात बाइबिल के उस लेख के विरुद्ध होगी जिसमें कहा गया है कि 'सबकी भाषा एक थी और आदिपुरुष पूर्व से आये'[१]। इस प्रकार से यह सिद्धान्त भी उचित नहीं जँचता।

यहाँ तक हमने आदिम स्थान के विषय में उपलब्ध मत-मतान्तरों की आलोचना करके देखा तो एक भी ऐसा मत न निकला जो किसी अकाट्य सिद्धान्त पर स्थित हो, इसलिए हम चाहते हैं कि आदिसृष्टि का मूलस्थान निश्चित करने के लिए कुछ परीक्षाएँ नियत की जाएँ तथा ऐसी कसौटी बनाई जाए जिसके अनुसार मूलस्थान का निश्चय किया जा सके। आदिमस्थान की सात कसौटियाँ हैं—

१. **वह स्थान संसारभर में सबसे ऊँचा और पुराना हो।**
२. **उस स्थान में सरदी और गरमी जुड़ती हो।**
३. **उस स्थान में मनुष्य का प्रारम्भिक भोजन फल और अन्न मिलते हों।**
४. **उस स्थान में अब भी मूलपुरुषों के रंग-रूप के मनुष्य बसते हों।**
५. **उस स्थान के आस-पास ही सब रूप-रंगों के विकास और विस्तार की परिस्थिति हो।**
६. **उस स्थान का नाम सभी मनुष्यजातियों के स्मरण में हो। विशेषकर भारतीय आर्यों और ईरानियों के यहाँ तो स्पष्ट लिखा हो कि मनुष्य अमुक स्थान में उत्पन्न हुआ, क्योंकि आर्यों की यही दो जातियाँ शेष हैं।**
७. **वह स्थान उच्च कोटि के देशी और विदेशी विद्वानों के अनुमान के बहुत विरुद्ध न हो।**

उपर्युक्त सात परीक्षाओं में से पाँच वैज्ञानिक हैं जो उस स्थान का लक्षण करती हैं और दो ऐतिहासिक हैं जो उक्त पाँचों को पुष्ट करती हैं। वह स्थान सबसे ऊचाँ और पुराना हो, समशीतोष्ण हो, वहाँ मनुष्यों का आहार फल होते हों। अब भी वहाँ मूलपुरुषों के रंग-रूपवाले बसते हों और पास ही सब रूप-रंगों के विस्तार की परिस्थिति हो, ये सब लक्षण वैज्ञानिक हैं। आर्यों तथा समस्त मनुष्यजाति के इतिहास में उस स्थान का वर्णन हो और वह स्थान विद्वानों की सम्मति के बहुत विरुद्ध न हो, ये दोनों प्रमाण ऐतिहासिक हैं। **'लक्षणप्रमाणाभ्यां वस्तुसिद्धिः'**, अर्थात् लक्षणों और प्रमाणों से वस्तु पहचानी जाती है, अतएव उपर्युक्त लक्षण और प्रमाणों के अनुसार देखना है कि वह कौन-सा स्थान है जिसमें ये लक्षण और प्रमाण घटते हैं। थोड़ा-सा ही विचार करने पर ज्ञात होगा कि ये लक्षण और प्रमाण हिमालय पर ही घटते हैं। इसलिए यहाँ हम इस विषय से सम्बन्ध रखनेवाले कुछ प्रमाण एकत्र करते हैं।

आदिसृष्टि हिमालय पर हुई

१. हिमालय सबसे ऊँचा और पुराना है। हिमालय की सबसे ऊँची चोटी एवरेस्ट है। यह समुद्र से २९००० फ़ीट ऊँची है। पृथिवीमण्डल में इससे ऊँचा और कोई स्थान नहीं है। इसकी ऊँचाई ही इसके पुरानेपन की दलील है। कहते हैं कि आरम्भ में समस्त पृथिवी जल से भरी थी।

---

१. And the whole was of one language and of one speech, and it came to pass as they journeyed from the East. —*Genisis*, chapter VI

उस जल से, सर्वप्रथम वही भूमि निकली है, उसी में वनस्पति उत्पन्न हुई है और उसी में मनुष्य प्राणी उत्पन्न हुए हैं जो सबसे अधिक ऊँची है। भूमि के ऊँची उठने का कारण भौगर्भिक विप्लव हैं। भूमि के अन्दर जो तप्त तरल पदार्थ भरे हैं, जब वे बाहर निकलते हैं और ढेर-के-ढेर एकत्र होते हैं तभी पहाड़ों की सृष्टि होती है। जो पहाड़ जितना ही ऊँचा होता है, उसके फेंकनेवाली अग्निप्रपात की शक्ति भी उतनी ही अधिक बलवान् होती है। हिमालय सबसे विशाल और उच्च है, इसलिए उसको बनानेवाली शक्ति भी समस्त प्रपातशक्तियों से प्रबल थी। इतनी बड़ी महान् शक्ति संचितरूप से तभी मिल सकती है जब वह सर्वथा अक्षुण्य रही हो और यह तो निर्विवाद है कि ऐसी शक्ति सृष्टि के आदि में ही मिल सकती है। इससे यह अनुमान सरल हो जाता है कि पृथिवी का सर्वोच्च हिमालय पहाड़ ही सर्वप्रथम उत्पन्न हुआ। हिमालय की ऊँचाई और मनुष्यसृष्टि के सिद्धान्त पर अमेरिका का प्रसिद्ध विद्वान् 'डेविस' अपनी 'हारमोनिया' नामी पुस्तक के पाँचवें भाग, पृष्ठ ३२८ पर 'ओकन' की गवाही से लिखता है कि 'हिमालय सबसे ऊँचा स्थान है, इसलिए आदिसृष्टि हिमालय पर ही हुई'।

२. हिमालय सरदी-गरमी को मिलाता है। संसार में ऋतुएँ चाहे जितनी होती हों, परन्तु सरदी और गरमी दो ही प्रधान हैं। यही कारण है कि समस्त भूमण्डल में सर्द और गर्म दो ही प्रकार के प्रदेश पाये जाते हैं। कुछ प्रदेश दोनों के मिश्रण से भी बने हैं तो भी दो में से एक ही की प्रधानता रहती है। प्राणी भी दो ही प्रकार के पाये जाते हैं। मनुष्य को छोड़कर शेष प्राणी या तो अधिक बालवाले या कम बालवाले ही पाये जाते हैं। सर्द देशवालों के शरीर पर अधिक और गर्म देशवालों के शरीर पर कम बाल होते हैं। ग्रीनलैंड आदि महाशीतल देशों में पशु-पक्षी नहीं रहते, किन्तु मनुष्य और जलजन्तु पाये जाते हैं, परन्तु वहाँ मनुष्य के शरीर पर बाल नहीं है। इससे यह बात तो स्पष्ट हो गई कि केवल सर्द देशों में रहनेमात्र से ही शरीर पर बड़े-बड़े बाल नहीं उग जाते, किन्तु यह बात पाई जाती है कि जिन जन्तुओं को सृष्टि की ओर से बड़े बाल दिये गये हैं उन्हीं के होते हैं और जिनको नहीं दिये गये उनके नहीं होते। हाँ, इतना निर्विवाद है कि जो प्राणी बालवाले हैं वे ठण्डे देशों में रहने के लिए और जो छोटे बालवाले हैं वे गर्म देशों में रहने के लिए उत्पन्न किये गये हैं। स्मरण रहे कि ठण्डे देश से अभिप्राय ग्रीनलैंड आदि का नहीं है। जहाँ पशु-पक्षी होते ही नहीं, प्रत्युत ठण्डे देश से अभिप्राय समशीतोष्ण ठण्डे देश से है। ठण्डे देशों की भेड़ (मेष), बकरी, गाय, घोड़ा और अन्य जन्तुओं के बालों से पाया जाता है कि वे उसी देश के अनुकूल हैं जहाँ रहते हैं, परन्तु मनुष्य दीर्घकाल से ग्रीनलैण्ड आदि देशों में रहता है, जहाँ इतना शीत पड़ता है कि वनस्पति बिलकुल नहीं होती और वहाँ के मनुष्य केवल मछली खाकर और बर्फ़ की गुफाओं में रहकर निर्वाह करते हैं। इतनी अधिक सरदी के कारण उनका शरीर तो ठिंगना हो गया है, परन्तु शरीर पर बाल नहीं निकले। इससे ज्ञात होता है कि वे ऐसे ठण्डे देशों में रहने के लिए पैदा नहीं किये गये। वे किन्हीं विशेष स्थानों में ही रहने के लिए पैदा किये गये हैं। मुम्बई के प्रसिद्ध पारसी विद्वान् मि० ख़ुरशेदजी रुस्तमजी कहते हैं कि माउण्ट स्टुआर्ट, एल[illegible] और बरनस आदि प्रवासियों ने पता लगाया है कि हिन्दूकुश में दो महीने गर्मी और [illegible]दी रहती है। हिमालय पर ही कश्मीर, नेपाल, तिब्बत और भूटान आदि देश बसे [illegible]वासी कहते हैं कि वहाँ सरदी और गरमी मिलती है। इससे हिमालय ही मूल [illegible] है।

[illegible]र फल, अन्न और घास आदि खाद्य पदार्थ होते हैं। अब यह बात निर्विवाद [illegible] प्रधान खाद्य दूध और फल है। दूध पशुओं से और फल वृक्षों से पैदा होते

हैं। इससे पाया जाता है कि मनुष्य से पहले वृक्ष और पशु हो चुके थे तथा मनुष्य ऐसे समशीतोष्ण देशों में रह सकता है, जहाँ पशु रह सकते हों और वनस्पति उग सकती हो। पहाड़ों के सबसे ऊँचे बर्फ़ानी स्थानों और ग्रीनलैंड आदि देशों में वनस्पति नहीं उग सकती, इसलिए वहाँ पशु-पक्षी नहीं रह सकते। इससे ज्ञात होता है कि वनस्पति और पशु-पक्षी भी मनुष्य की भाँति किसी समशीतोष्ण देश के ही रहनेवाले हैं, अर्थात् सारी सृष्टि किसी एक ही स्थान पर पैदा हुई प्रतीत होती है, परन्तु यहाँ दो शंकाएँ उत्पन्न होती हैं—एक तो यह कि ग्रीनलैंड आदि में मनुष्य क्यों पाये जाते हैं और दूसरी यह की सर्द और गर्म प्रदेशों में रहनेवाले, बालवाले और बिना बालवाले दो प्रकार के प्राणी एक ही प्रदेश में कैसे उत्पन्न हुए?

पहले प्रश्न का उत्तर तो स्पष्ट ही है कि जब वृक्ष और पशुओं के बिना, अर्थात् दूध और फलों के बिना मनुष्य रह नहीं सकता और पशु बिना वनस्पति के नहीं रह सकते तो ऐसे देश में जहाँ ये दोनों पदार्थ न होते हों, मनुष्य पैदा ही नहीं हो सकता। विकासवाद के अनुसार ही वह वहाँ पैदा नहीं हो सकता, क्योंकि मनुष्य से पहले बन्दर होना चाहिए और बन्दर फलाहारी है, इसलिए वह ऐसे देश में मनुष्य को उत्पन्न नहीं कर सकता। ऐसी दशा में यही कहा जा सकता है कि उन देशों के निवासी जलस्थल के परिवर्तनों, युद्धों और सभ्यता के समय प्रवासों के कारण वहाँ गये होंगे, और बहुत दिन तक चालू रहनेवाले सृष्टि-परिवर्तनों के कारण वहाँ से न आ सके होंगे। अब रही दूसरी शंका, उसका उत्तर यह है कि सृष्टि में जब कभी अनुकूलता-प्रतिकूलता होती है तब पशु-पक्षियों को ज्ञात हो जाता है और वे वहाँ से चले जाते हैं। जो प्राणी जिस देश के अनुकूल बनाया गया है, वहाँ का जलवायु उसे खींच लेता है। हिमालय के पक्षी आपसे आप वहाँ चले जाते हैं, जहाँ अनुकूलता होती है और जलजन्तु आपसे आप अनुकूल पानी में चले जाते हैं चाहे जैसे प्रतिकूल पानी या स्थान में पड़ जावें[१], इसलिए सर्द और गर्म देशों में रहनेवाले बालवाले और बिना बालवाले प्राणी एक ही स्थान में (जहाँ सरदी और गरमी जुड़ती है) पैदा हुए, इसमें कुछ भी सन्देह नहीं।

हम पहले ही बतला आये हैं कि बीज किसी एक ही स्थान में बोया जाता है, अतः इस बृहत् सृष्टि का बीज भी जिससे दो प्रकार के सर्द और गर्म स्वभाव रखनेवाले वृक्ष और प्राणी उत्पन्न हुए हैं ऐसे ही देश में बोया जा सकता था, जहाँ सरदी और गरमी प्राकृतिक रूप से मिली हों, क्योंकि जहाँ सरदी और गरमी प्राकृतिक रूप से मिलती हैं, वही देश वनस्पति, पशु और मनुष्यों के स्वभाव के अनुकूल होता है और सबका खाद्य भी उत्पन्न कर सकता है तथा सर्द और गर्म देशों में जाने योग्य प्राणी भी पैदा कर सकता है। डॉक्टर ई०आर० एलन्स एल०आर०सी०पी० अपनी पुस्तक 'मेडिकल एस्सेज़' में लिखते हैं कि 'मनुष्य निस्सन्देह गर्म और समशीतोष्ण देशों का रहनेवाला है, जहाँ कि अनाज और फल उसकी ख़ुराक के लिए उग सकते हैं। मनुष्य की खाल पर जो छोटे-छोटे रोम हैं, उनसे स्पष्ट ज्ञात होता है कि मनुष्य गर्म और समशीतोष्ण देशों का रहनेवाला है। बड़े रोम सर्द प्रदेश के रहनेवाले मनुष्यों के नहीं होते, इससे स्पष्ट प्रकट होता है कि मनुष्य बर्फ़ानी प्रदेशों में रहने के लिए नहीं पैदा किया गया'। प्रसिद्ध सोशियलिस्ट कालचेंटर कहता है कि 'मनुष्य समशीतोष्ण गर्म प्रदेशों के रहनेवाले हैं और प्राकृतिक फल व अनाज की ख़ुराक खाते हैं, अतः वही प्रदेश उनका स्वाभाविक निवासस्थान है, जहाँ ऐसी

---

१. 'ईल' नामक मछली अटलांटिक समुद्र में पैदा होती है। पैदा होने पर वह मीठे पानी की ओर जाती है, परन्तु जब बच्चा देना होता है तब हज़ारों मील जाकर उसी अटलांटिक समुद्र के बीच में बच्चे देती है। इसी प्रकार हिमालय की चिड़ियाँ हिमालय में ही अण्डे देने के लिए बाहर से उड़कर वहाँ जाती हैं।

ख़ुराक पैदा होती हो'। हम देखते हैं कि हिमालयरूपी शंकर की गोद में वनस्पतिरूपी पार्वती अधिकता से विद्यमान है। वहाँ गाय, भैंस, घोड़ा, बकरी, ऊँट, हाथी और कुत्ता आदि मनुष्य के संघी प्राणी प्रभूत संख्या में रहते हैं। विद्वानों ने पता लगा लिया है कि हिमालय पर प्राणियों के शरीरांश (फोसील) पाये जाते हैं[१]। पृथिवी पर कोई ऐसा स्थान नहीं है जो हिमालय स्थित प्राणियों के शेषाङ्गों से अधिक पुराने चिह्न दे सके। ऐसी दशा में स्पष्ट प्रमाणित होता है कि हिमालय पर मनुष्य से पूर्व उत्पन्न होनेवाले और उसके जीवन आधार वृक्ष और गाय आदि पशु पूर्वातिपूर्वकाल में उत्पन्न हो गये थे, अतएव हिमालय आदिसृष्टि उत्पन्न करने की पूर्ण योग्यता रखता है।

४. उस स्थान के पास ही मूलपुरुषों के रंग-रूपवाले मनुष्य बसते हों। मूलपुरुषों की उत्पत्ति लिखते समय हमने कहा था कि मूलपुरुषों का रूप-रंग ऐसा होना चाहिए जिसमें सभी रूप-रंगों का मिश्रण हो। यह मिश्रित रंग-रूप देखने के लिए हमने एक चित्र और एक पुतला बनवाया था जो हूबहू काश्मीर के ब्राह्मणों के रंग-रूप से मिलता था। हम यहाँ देख रहे हैं कि काश्मीर हिमालय का ही एक भाग है जहाँ के निवासी मूलपुरुषों की शकल-सूरत के पाये जाते हैं, इसलिए हिमालय को अब मूलस्थान कहने में तनिक भी सन्देह प्रतीत नहीं होता। एक बहुत बड़े भाषाशास्त्री की साक्षी से टेलर महोदय कहते हैं कि 'मनुष्यजाति की जन्मभूमि, स्वर्गतुल्य काश्मीर ही है'[२]। बंगाल के प्रसिद्ध पुरातत्त्वविशारद बाबू अविनाशचन्द्र दास 'ऋग्वेदिक इण्डिया' में लिखते हैं कि 'आर्यों का आदि जन्मस्थान काश्मीर ही है'[३]। आदि मनुष्य और मूल आर्य एक ही हैं। आर्यों के विशुद्ध रूप-रंग के ब्राह्मण काश्मीर में आज भी निवास करते हैं जिससे बलपूर्वक कहा जा सकता है कि आदिसृष्टि हिमालय पर ही हुई।

५. हिमालय के आसपास समस्त रंगरूपों के विकास की परिस्थिति है। भारतदेश की बनावट ऐसी है जहाँ नित्य ही छहों ऋतुएँ वर्त्तमान रहती हैं। इसी देश में सब रंग-रूप के आदमी निवास करते हैं। यह इतना पूर्ण और सर्वगुणसम्पन्न देश है जहाँ प्रत्येक स्वभाव के मनुष्य का निर्वाह हो जाता है। मूलस्थान के पास ऐसी विस्तृत भूमि की आवश्यकता थी जहाँ आकर संसारभर में रहने की योग्यता प्राप्त करके, मनुष्य पृथिवी में सर्वत्र फैलें। भारत-जैसे देश के सामीप्य के कारण भी यही प्रतीत होता है कि हिमालय पर ही मनुष्यों की आदिसृष्टि हुई।

६. समस्त मनुष्यों को हिमालय की याद हो। संसार की समस्त जातियों को साधारणत: और ईरानी तथा भारतीय आर्यों को विशेषत: हिमालय की आदिम कथा याद है। संसार की बहुत-सी जातियों को हिमालय पर हुए जलप्लावन की कथा याद है। इसी प्रकार हिमालय के दूसरे नाम 'मेरु' का स्मरण अनेक जातियाँ भिन्न-भिन्न नामों से करती हैं—भारतीय आर्य 'मेरु',

---

१. And the most ancient form of life occurs near the eastern end of the hill.
—*Manual of the Geography of India*, p. XXIV. Palaeogoic Rocks of the Punjab Salt Ranges.
In Asia, Lower Cambrian fossils (Olenellus and Neobolus etc.) occur in the Salt Range in India.
—*An Intermediate Text Book of Geology*, p. 198
The general facies of the faun, however, leaves no room for doubt that the beds (of the Salt Range of the Punjab) are of Cambrian age, and consequently the oldest in India whose age can not be determined with any approach to certainty. —*Manual of the Geology of India*, p. 113

२. Adelung, the father of comparative philology and leader in 1806, placed the cradle of mankind in the valley of Kashmir, which he identified with paradise. —*Tailor's Origin of the Aryans*, p. 9

३. That this beautiful mountainous country (Kashmir) and the plains of Saptasindhu were the cradle of the Aryan race. —*Rigvedic India*, p. 55

ज़ेंद भाषावाले ईरानी 'मौरु', यूनानवाले 'मेरोस', दक्षिणी तुर्किस्तानवाले 'मेरुख़', मिस्रवाले 'मेरई' और असीरियावाले 'मोरुख़' कहते हैं। ईरान के पारसी आर्य और भारतीय आर्य अपना, अर्थात् आदि मूलपुरुषों का आदिस्थान हिमालय बतलाते हैं, किन्तु आर्यों के लक्षणों और उनके मूलनिवास के विषय में पाश्चात्यों ने ऐसा भ्रम और उलझन फैला दी है कि जब तक इस विषय का निर्णय न हो जाए कि आर्य कौन हैं तथा जब तक यह भी निश्चित न हो जाए कि आर्यों का मुख्य मूल-स्थान कहाँ है तब तक हिमालय के सिद्धान्त पर पर्याप्त प्रकाश नहीं पड़ सकता, अत: हम यहाँ विस्तार से दोनों बातों की आलोचना करना चाहते हैं।

आर्यों का लक्षण करते हुए पाश्चात्य कहते हैं कि जो गोरा हो, लम्बा हो, और जिसका शिर बड़ा हो और जो भारत, ईरान, यूरोप में बसते हों उसे आर्य कहते हैं[१], परन्तु भारतीय विद्वान् कहते हैं कि जो रूप-रंग, आकृति-प्रकृति, सभ्यता, शिष्टता, धर्म-कर्म, ज्ञान-विज्ञान और आचार-विचार तथा शील-स्वभाव में सर्वश्रेष्ठ हो उसे आर्य कहते हैं[२]। पाश्चात्य विद्वानों के किये हुए लक्षण में उनका निज का स्वार्थ है। वे आर्य बनना चाहते हैं, परन्तु यथार्थ में वे आर्य नहीं हैं। उनके आर्य न होने की अनेक युक्तियों में से दो युक्तियाँ ध्यान देने योग्य हैं—

१. यूरोप की किसी भी भाषा में आर्य शब्द का बिगड़ा हुआ कोई रूप देखने में नहीं आता। यदि वे आर्य होते तो उनकी भाषा में आर्य शब्द अवश्य होता।

२. भारतवर्ष का 'अनारी'=अनाड़ी शब्द बड़ा ही ऐतिहासिक है। यह शब्द, 'अनार्य' का अपभ्रंश है, किन्तु कभी भी ऐसे लोगों को लिए प्रयुक्त नहीं होता, जिनकी नाक छोटी और रंग काला हो, प्रत्युत ऐसे लोगों के लिए प्रयुक्त होता है जो असभ्य, अशिष्ट और कम समझ हों। जिस प्रकार आर्य शब्द सज्जन और साधु पुरुष का वाचक है, उसी प्रकार अनार्य से बिगड़ा हुआ अनारी शब्द भी असभ्य, अशिष्ट के लिए प्रयुक्त होता है।

इन दोनों दलीलों से यूरोप-निवासियों के निकाले हुए आर्यत्व के लक्षण कट जाते है और यही सिद्ध होता है कि आर्य शब्द से सर्वश्रेष्ठ ही का ग्रहण होता है, लम्बा सिर, कंजी आँख और सफ़ेद रंग से नहीं। आर्यों के लक्षणों में जिस प्रकार विद्वानों ने लम्बे और गोरे आदि लक्षण किये हैं, उसी प्रकार उनके मूलस्थान के विषय में भी नाना प्रकार की कल्पनाएँ की हैं। हम अभी देख चुके हैं कि यूरोपवासियों की भाषा में आर्य के लिए कोई शब्द नहीं है, न 'अनारी' शब्द का अर्थ काला, ठिंगना और छोटी नाकवाला होता है। ऐसी दशा में यूरोप-निवासियों ने 'आर्य' का लक्षण, जो अपने से मिलता हुआ किया है, वह मानने योग्य नहीं है और न उनके तथा उनके

---

१. Aryans—The Most important family of Caucasic man to which all the chief civilisations of modern times belong. A tall, fair-skinned, long-headed race, whose origin is still doubtful though it was probably in central Asia and who spread in pre-historic times over the whole of Europe and parts of Asia and Africa. Almost all modern Europeans are of Aryan descent. The family is also called indo-European or Indo-Germanic, but these names are open to objections from which the term Aryan is free. —*Harmsworth History of the World*, p. 321.

२. कर्त्तव्यमाचरन् काममकर्त्तव्यमनाचरन्। तिष्ठति प्रकृताचारे य: स आर्य इति स्मृत:। —वसिष्ठस्मृति

न वैरमुद्दीपयति प्रशान्तं न दर्पमारोहति नास्तमेति।
न दुर्गतोऽस्मीति करोत्यकार्यं तमार्यशीलं परमाहुरार्या: ॥ —महा०

न स्वसुखे वै कुरुते प्रहर्षं नान्यस्य दु:खे भवति प्रहृष्ट:।
दत्त्वा न पश्चात् कुरुतेऽनुतापं स कथ्यते सत्पुरुषार्यशील: ॥ —महा० उद्यो० [११२-११३]

माहाकुल: कुलीनार्य: सभ्यसज्जनसाधव:। —अमरकोष [२ ब्रह्मवर्ग ७।३]

ज़ेंद भाषावाले ईरानी 'मौरु', यूनानवाले 'मेरोस', दक्षिणी तुर्किस्तानवाले 'मेरुख़', मिस्रवाले 'मेरई' और असीरियावाले 'मोरुख़' कहते हैं। ईरान के पारसी आर्य और भारतीय आर्य अपना, अर्थात् आदि मूलपुरुषों का आदिस्थान हिमालय बतलाते हैं, किन्तु आर्यों के लक्षणों और उनके मूलनिवास के विषय में पाश्चात्यों ने ऐसा भ्रम और उलझन फैला दी है कि जब तक इस विषय का निर्णय न हो जाए कि आर्य कौन हैं तथा जब तक यह भी निश्चित न हो जाए कि आर्यों का मुख्य मूल-स्थान कहाँ है तब तक हिमालय के सिद्धान्त पर पर्याप्त प्रकाश नहीं पड़ सकता, अत: हम यहाँ विस्तार से दोनों बातों की आलोचना करना चाहते हैं।

आर्यों का लक्षण करते हुए पाश्चात्य कहते हैं कि जो गोरा हो, लम्बा हो, और जिसका शिर बड़ा हो और जो भारत, ईरान, यूरोप में बसते हों उसे आर्य कहते हैं[१], परन्तु भारतीय विद्वान् कहते हैं कि जो रूप-रंग, आकृति-प्रकृति, सभ्यता, शिष्टता, धर्म-कर्म, ज्ञान-विज्ञान और आचार-विचार तथा शील-स्वभाव में सर्वश्रेष्ठ हो उसे आर्य कहते हैं[२]। पाश्चात्य विद्वानों के किये हुए लक्षण में उनका निज का स्वार्थ है। वे आर्य बनना चाहते हैं, परन्तु यथार्थ में वे आर्य नहीं हैं। उनके आर्य न होने की अनेक युक्तियों में से दो युक्तियाँ ध्यान देने योग्य हैं—

१. यूरोप की किसी भी भाषा में आर्य शब्द का बिगड़ा हुआ कोई रूप देखने में नहीं आता। यदि वे आर्य होते तो उनकी भाषा में आर्य शब्द अवश्य होता।

२. भारतवर्ष का 'अनारी'=अनाड़ी शब्द बड़ा ही ऐतिहासिक है। यह शब्द, 'अनार्य' का अपभ्रंश है, किन्तु कभी भी ऐसे लोगों को लिए प्रयुक्त नहीं होता, जिनकी नाक छोटी और रंग काला हो, प्रत्युत ऐसे लोगों के लिए प्रयुक्त होता है जो असभ्य, अशिष्ट और कम समझ हों। जिस प्रकार आर्य शब्द सज्जन और साधु पुरुष का वाचक है, उसी प्रकार अनार्य से बिगड़ा हुआ अनारी शब्द भी असभ्य, अशिष्ट के लिए प्रयुक्त होता है।

इन दोनों दलीलों से यूरोप-निवासियों के निकाले हुए आर्यत्व के लक्षण कट जाते है और यही सिद्ध होता है कि आर्य शब्द से सर्वश्रेष्ठ ही का ग्रहण होता है, लम्बा सिर, कंजी आँख और सफ़ेद रंग से नहीं। आर्यों के लक्षणों में जिस प्रकार विद्वानों ने लम्बे और गोरे आदि लक्षण किये हैं, उसी प्रकार उनके मूलस्थान के विषय में भी नाना प्रकार की कल्पनाएँ की हैं। हम अभी देख चुके हैं कि यूरोपवासियों की भाषा में आर्य के लिए कोई शब्द नहीं है, न 'अनारी' शब्द का अर्थ काला, ठिंगना और छोटी नाकवाला होता है। ऐसी दशा में यूरोप-निवासियों ने 'आर्य' का लक्षण, जो अपने से मिलता हुआ किया है, वह मानने योग्य नहीं है और न उनके तथा उनके

---

१. Aryans—The Most important family of Caucasic man to which all the chief civilisations of modern times belong. A tall, fair-skinned, long-headed race, whose origin is still doubtful though it was probably in central Asia and who spread in pre-historic times over the whole of Europe and parts of Asia and Africa. Almost all modern Europeans are of Aryan descent. The family is also called indo-European or Indo-Germanic, but these names are open to objections from which the term Aryan is free. —*Harmsworth History of the World*, p. 321.

२. कर्त्तव्यमाचरन् काममकर्त्तव्यमनाचरन्। तिष्ठति प्रकृताचारे य: स आर्य इति स्मृत:। —वसिष्ठस्मृति

न वैरमुद्दीपयति प्रशान्तं न दर्पमारोहति नास्तमेति।
न दुर्गतोऽस्मीति करोत्यकार्यं तमार्यशीलं परमाहुरार्या:॥ —महा०

न स्वसुखे वै कुरुते प्रहर्षं नान्यस्य दु:खे भवति प्रहृष्ट:।
दत्त्वा न पश्चात् कुरुतेऽनुतापं स कथ्यते सत्पुरुषार्यशील:॥ —महा० उद्यो० [११२-११३]

माहाकुल: कुलीनार्य: सभ्यसज्जनसाधव:। —अमरकोष [२ ब्रह्मवर्ग ७। ३]

शिष्यों के द्वारा स्थापित किया हुआ आर्यों का मूलनिवास ही मानने योग्य है। अब तक यद्यपि आर्यों के मूलनिवास के विषय में अनेक कल्पनाएँ हुई हैं तथापि उनमें चार ही कल्पनाएँ ऐसी हैं जिनपर कुछ ध्यान दिया जा सकता है। यहाँ हम उक्त चारों कल्पनाओं को लिखकर यथाक्रम उनकी आलोचना करते हैं—

१. जर्मनी के कुछ विद्वान् आर्यों की जन्मभूमि, जर्मनी और रूस के बीच में बतलाते हैं।

२. यूरोप के सभी विद्वान् मध्य एशिया बतलाते हैं।

३. लोकमान्य तिलक महाराज उत्तरीध्रुव कहते हैं और

४. पारसी लोग 'ईरानवेज़' कहते हैं।

अब तक इतने ही ऐसे मत सुने गये हैं जिनपर कुछ विचार करने की आवश्यकता है।

(१) जर्मनी के अनेक विद्वान् मानते हैं कि जर्मनों के पूर्वज लम्बे क़द और बड़े सिरवालों की सन्तति हैं, इसलिए वे अपने देश की एक लम्बे क़द और बड़े सिरवाली जातिविशेष को आदिम आर्य मानते हैं, किन्तु इसके विरुद्ध फ्रांस के विद्वानों का कहना है कि आदिम आर्य ठिंगने और छोटे सिरवाले थे। इस विवाद पर इंग्लैंड का काननटेलर नामी ग्रन्थकार कहता है कि जब दो जातियों का सङ्घट्ट होता है तब दोनों में से जो अधिक सभ्य होती है उसी की भाषा दूसरी जाति बोलने लगती है, अत: बाल्टिक के किनारे पर बसनेवाले बड़े सिर और लम्बे जंगलियों ने, ठिंगने और छोटे सिरवाले सभ्य आर्यों से ही भाषा सीखी है। इसपर लोकमान्य तिलक कहते हैं कि 'यही मत ठीक है'[१]। यहाँ इस बात का खण्डन हो गया कि जर्मनी और रूस के बीच में आर्य रहते थे। यहाँ तो यह प्रमाणित हो रहा है कि वहाँ लम्बे, बेडौल जंगली रहते थे जिनकी सन्तति जर्मनी और यूरोप में निवास करती है। आर्य तो वह मझोले क़द की सुन्दर जाति थी जिससे वर्त्तमान यूरोप-निवासियों ने भाषा आदि सभ्यता सीखी है। वह आर्यजाति यूरोप में अब तक रहती है। वह अब तक अपना रुधिर-सम्बन्ध पृथक् किये हुए है। वह अब तक संस्कृत से बिगड़ी हुई भाषा बोलती है। इसके सम्बन्ध में नाना प्रकार की कल्पनाएँ हो चुकी हैं, परन्तु अब निश्चित हो गया कि वह 'हिंदी' से मिलती हुई भाषा बोलती है। यह जाति ज्योतिष् द्वारा अपना निर्वाह करती है। इसका नाम 'जिपसी' जाति है[२]। इस विवरण से स्पष्ट हो जाता है कि जर्मन आदि यूरोप-निवासियों का आर्यों से जाति या वंश का कोई सम्बन्ध नहीं है। हाँ, उन्होंने आर्यों से भाषा और सभ्यता अवश्य सीखी है जो अब तक स्थिर है, इसलिए आर्यों का मूलस्थान जर्मन अथवा यूरोप का कोई स्थान नहीं हो सकता।

२. यद्यपि पाश्चात्य विद्वान् आर्यों का जन्मस्थान विशेष रीति से मध्य एशिया ही निश्चित करते हैं, परन्तु जब पूछा जाता है कि जिस रूप-रंग और भाषा, सभ्यता से आप लोग अमुक मनुष्यसमुदाय को आर्य कहते हैं, उसमें आर्यत्व के वे गुण कैसे आये तो सबके सब चुप रह जाते हैं। जब से

---

१. Arctic Home in the Vedas.

२. Gipsies—A nomadic race, which was first described as appearing in Europe in the fifteenth century and is now found in nearly all civilised countries. At first they were believed to come from Egypt, and their name is a corruption of 'Egyptians'. They have a dark, tawny skin, black hair and eyes, are small-headed and often very handsome, and live by tinkering, basket-making, fortune-telling, and other arts which can be practised on the road. Their chief characteristic is idependence and love of a wandering life. Their origin is still uncertain, though their language, Romany, is known to be a corrupt dialect of Hindi, which supports the older theory that they are of Indian descent. A later and well supported theory is that they are the descendants of the pre-historic race which introduced metal-working into Euprope. —*Harmsworth History of the World*, p. 329

इस प्रकार के प्रश्न होने लगे तब से अब वे स्पष्ट रीति से एशिया का नाम नहीं लेते, प्रत्युत बड़े संकोच से कहते हैं कि आर्यों का वास्तविक मूलस्थान सन्दिग्ध है, यद्यपि बहुत करके मध्यएशिया था[१]। प्रो० मैक्समूलर ने भी बहुत दिन पूर्व तक—'साइंस आफ दि लेंग्वेज' के समय तक—'मध्यएशिया' का ही प्रयोग किया था, परन्तु अन्त में उन्होंने 'मध्य' शब्द भी निकाल डाला था। उन्होंने अपनी एक अन्तिम रचना में लिखा है कि 'जिस प्रकार ४० वर्ष पूर्व मैंने कहा था उसी प्रकार अब भी कहता हूँ कि आर्यों की जन्मभूमि कहीं एशिया में है'[२]। मध्य- एशिया पर केवल इसीलिए ज़ोर दिया जाता था कि उसके आसपास एक ही आर्यभाषा बोलनेवालों की बस्ती है, परन्तु जब से यह सिद्ध हो गया कि केवल भाषासाम्य से जातियाँ एक नहीं हो सकतीं और न यूरोप-निवासी आर्यवंश से ही सम्बन्ध रखते हैं तब से मध्य एशिया का सिद्धान्त समूल नष्ट हो गया है। अब तो कहीं एशिया में कहा जाता है। 'कहीं एशिया में' और 'मध्यएशिया में' बड़ा अन्तर है। 'कहीं एशिया में' तो हम भी कहते हैं, परन्तु मध्य एशिया का सिद्धान्त ठीक नहीं है।

३. लोकमान्य तिलक ने जर्मनी और मध्य एशिया के सिद्धान्त का खण्डन करके अपना एक नया ही मत स्थापित किया है। आप कहते हैं कि आर्यलोग ध्रुवप्रदेश के निवासी हैं। आज से कोई दश हज़ार वर्ष पूर्व ध्रुवप्रदेश में बर्फ़ का तूफ़ान आया। इसी के कारण आर्यलोग वहाँ से भागे और यूरोप, मध्यएशिया, ईरान और भारत में आकर बस गये। आप कहते हैं कि 'ध्रुवप्रदेश में प्रति साढ़े दश हज़ार वर्ष के पश्चात् बर्फ़ का तूफ़ान आया ही करता है'[३]। आप यह भी कहते हैं कि सन् १२५० में तूफ़ान आया था और अब सन् ११७५० में फिर तूफ़ान होगा। इसका कारण यह है कि क्रान्तिवृत्त का एक चक्कर पूरा होने में २१००० वर्ष लगते हैं और इस बीच में दो बार होता है। यदि यह बात सत्य हो तो कहना चाहिए कि आज से बीस हज़ार वर्ष पूर्व आर्यलोग उत्तरीध्रुव में नहीं थे। वे आज से बीस हज़ार वर्ष पूर्व हिमपात होनेवाले तूफ़ान के पश्चात् और आज से दश हज़ार वर्ष पूर्ववाले तूफ़ान के पूर्व तक ही वहाँ रहे।

अब प्रश्न यह है कि क्या मनुष्यजाति के इस विभाग को आर्यत्व प्राप्त किये हुए केवल बीस हज़ार वर्ष ही हुए? इस प्रश्न को लोकमान्य ने उठाया ही नहीं, यद्यपि प्रश्न छोड़ने योग्य न था। तिलक महाराज के समस्त कोटिक्रम को पढ़कर यह प्रश्न तुरन्त ही उठने लगता है कि जिस मनु (नूह) के सूर्य-चन्द्र (हेम-शेम) वंश से समस्त पृथिवी की एक सहस्र जातियाँ उत्पन्न हुईं, उस आर्य मनु को पैदा हुए क्या बीस ही हज़ार वर्ष हुए? इस प्रश्न को लेकर बंगाल के प्रसिद्ध विद्वान् उमेशचन्द्र विद्यारत्न, तिलक महाराज के घर पूना पहुँचे और कई दिन के घोर विवाद के पश्चात् उनसे कहला लिया कि हमने मूलवेद नहीं पढ़ा। हमने तो यूरोपीय विद्वानों का किया हुआ अनुवाद ही पढ़ा है[४]। इस बात को उन्होंने पुस्तकाकार छपाकर तिलक महाराज के

---

१. Aryans, whose origin is still doubtful though it was probably in Central Asia.
—*Harmsworth History of the World*, , p. 321.

२. I should still say, as I said forty years ago, somwhere in Asia, and no more.
—*Good Words*, Aug. 1887.

३. In short, the Glacial and Inter-Glacial periods in the hemispheres alternate with each other every 10,500 years.
—*Arctic Home in the Vedas*, p. 32.

४. आमि गतवत्सरे तिलक महोदयेर बाटीते आतिथ्य ग्रहण करिया छिलाम। ताँहार सहित ये विषये अमार क्रमागत पाँच दिन बहु संलाप हइया छिलो। तिनि आमाके ताँहार द्वितलग्रहे बसिया सरलंहृदये बलिया छेन ये 'आमि मूलवेद अध्ययन करि नाई, आमि साहिब दिगरे अनुवाद पाठ करिया छि'।
—मानवेर आदि जन्मभूमि, पृ० १२४

जीवनकाल ही में उनके पास भेज दिया था, जिसका उत्तर उन्होंने नहीं दिया। विद्यारत्न महोदय ने आर्यों के अस्तित्व के विषय में लिखा है कि 'चन्द्र से दुर्योधन या युधिष्ठिर तक सोमवंशी क्षत्रियों की पीढ़ियाँ बीस हज़ार से कम नहीं हुईं। भारत में बसे हुए हमें दो लाख वर्ष से कम नहीं हुआ'[१]। डॉक्टर एनी बेसेंट कहती हैं कि 'पृथिवी पर आर्यजाति दश लक्ष वर्ष से है'[२]। हम तो कहते हैं कि जब मूलपुरुष ही आर्य थे तब सिद्ध है कि जब से मनुष्यप्राणी इस पृथिवी पर अवतीर्ण हुआ तभी से आर्यों का अस्तित्व है। ऐसी दशा में लोकमान्य तिलक का 'उत्तरध्रुव निवास' कुछ मूल्य नहीं रखता। यहाँ तक उन विद्वानों की कल्पनाओं की आलोचना हुई जो आर्यों के मूलस्थान को हिमालय से बहुत दूर बतलाते हैं, किन्तु आर्यों की दोनों सच्ची शाखाएँ—भारती और ईरानी—आर्यों का मूलस्थान हिमालय पहाड़ पर ही बतलाती हैं, अत: यहाँ हम उनका वर्णन कर देना चाहते हैं।

४. जब से यह बात अच्छी प्रकार सिद्ध हो गई है कि भारतीय आर्यों के किसी प्राचीन ग्रन्थ से, उनकी किसी कथा-कहानी से और उनकी किसी भी बात से यह नहीं पाया जाता कि वे किसी अन्य देश से आये[३], तब से अब विद्वानों की दृष्टि इस ओर फिरी है कि आर्यजाति भारत—काश्मीर अथवा हिमालय के ही आसपास कहीं उत्पन्न हुई। आर्यों की प्रसिद्ध ईरानी शाखा के प्रसिद्ध विद्वान्, बम्बई निवासी मि० ख़ुरशेदजी रुस्तमजी ने 'ज्ञानप्रसारक मण्डली' की प्रेरणा से, फ्रामजी कावसजी इन्स्टिट्यूट हाल, बम्बई में एक व्याख्यान दिया था। व्याख्यान का विषय था 'मनुष्यों का मूलजन्मस्थान कहाँ था'। यह व्याख्यान पुस्तकाकार छप गया है। यहाँ उसका आवश्यक अङ्ग उद्धृत करते हैं। आप कहते हैं कि 'जहाँ से सारी मनुष्यजाति संसार में फैली है उस मूलस्थान का पता हिन्दुओं, पारसियों, यहूदियों और कृश्चियनों की धर्मपुस्तकों से इस प्रकार लगता है कि वह स्थान कहीं मध्यएशिया में था। यूरोप-निवासियों की दन्तकथाओं में वर्णन है कि जहाँ आदिसृष्टि हुई वहाँ १० महीने की सरदी और दो महीने गरमी रहती है। माउण्ट स्टुअर्ट, एलफ़िन्स्टन और बरनस आदि यात्रियों ने मध्यएशिया की यात्रा करके बतलाया है कि हिन्दूकुश पहाड़ों पर १० महीने की सरदी और दो महीने की गरमी होती है। इससे ज्ञात होता है कि पारसी पुस्तकों में लिखा हुआ 'ईरानवेज़' नामक मूलस्थान, जो ३७° से ४०° अक्षांस उत्तर तथा ८६° से ९०° रेखांश पूर्व में है, निस्सन्देह मूलस्थान है, क्योंकि वह स्थान बहुत ऊँचाई पर है। उसके ऊपर से चारों ओर नदियाँ बहती हैं। इस स्थान के ईशानकोण में 'बलूर्ताग' तथा 'मूसाताग' पहाड़ हैं। ये पहाड़ 'अलबुर्ज' के नाम से पारसियों की धर्मपुस्तकों और अन्य इतिहासों में लिखे हैं। बलूर्ताग से 'अमू' अथवा 'आक्सस' और 'जेकगार्टस' नाम की नदियाँ 'अरत' सरोवर में होकर बहती हैं। इसी पहाड़ में से 'इनडस' अथवा 'सिन्धु' नदी दक्षिण की ओर बहती है। इसी ओर के पहाड़ों से निकलकर बड़ी-बड़ी नदियाँ पूर्व की ओर चीन में और उत्तर की ओर साइबीरिया में भी बहती हैं। ऐसे रम्य और शान्त स्थान में पैदा हुए अपने को आर्य

---

१. चन्द्र अत्रिनन्दन, बुद्ध चन्द्रेर पुत्र, बुधेर पुत्र पुरूरवा। उक्त पुरूरवार पुत्र आयु, तत्पुत्र नहुष, पौत्र ययाति, ययातिर पुत्र पुरु। पुरुर अन्यून बीस सहस्र पुरुषेर परे युधिष्ठिर व दुर्योधनेर येई भारतेई जन्म हाय, किन्तु आमरा आदि पितृभूमि हइते ये भारते आसिया गृहप्रतिष्ठा करिया छि तहार वय:क्रम अन्यून दुइलक्ष वत्सर वा बहुसहस्र वत्सर हइबे। —मानवेर आदि जन्मभूमि।

२. The Aryan race on the earth is about a million years old. —*Theosophy and Religion.*

३. That so far as I know none of the Sanskrit books, not even the most ancient, contain any distinct reference or allusion to the foreign origin of the Indian. —*Muir's Sanskrit Text Book,* Vol. II, p. 323

कहते थे और उस स्थान को स्वर्ग कहा करते थे।'

इस व्याख्यान में समस्त मनुष्यजाति के पूर्वजों के उत्पत्तिस्थान का वर्णन करते हुए पारसियों के मूलस्थान 'ईरानवेज़' का वर्णन किया गया है और बतलाया गया है कि वह हिन्दूकुश पहाड़ ही है। हिन्दूकुश काबुल के ऊपर हिमालय रेंज में ही स्थित है। इस प्रकार सच्चे आर्यों की प्रधान ईरानी शाखा ने भी हिमालय का ही सङ्केत किया है। भारत के आधुनिक विद्वान्, पूना-निवासी नाना पावगी ने अपने प्रसिद्ध ग्रन्थ 'आर्यावर्तांतील आर्यांची जन्मभूमि' नामक ग्रन्थ में लिखा है कि 'हिमालय ही हमारे और हमारे देवताओं का आदिकालिक जन्मस्थान है'[१]। इसी प्रकार बंगाल के प्रसिद्ध विद्वान् अविनाशचन्द्र दास अपनी प्रसिद्ध पुस्तक 'ऋग्वेदिक इण्डिया' में लिखते हैं कि 'वेदों में जो उत्तर की ओर के नक्षत्रों का वर्णन है, उससे ज्ञात होता है कि वैदिक ऋषियों ने उन्हें काश्मीर और हिमालय के ऊँचे पहाड़ों पर से ही देखा था'[२]। यहाँ हमने आर्यों की दोनों शाखाओं के विद्वानों की सम्मतियों को देखा कि वे आर्यों का आदि मूलस्थान हिमालय ही बतलाते हैं, इसलिए अब आगे हम देखना चाहते हैं कि भारतीय वैदिक आर्यों के शास्त्रों में उनके मूलस्थान के विषय में क्या लिखा है—

हिमालयाभिधानोऽयं ख्यातो लोकेषु पावनः। अर्धयोजनविस्तारः पञ्चयोजनमायतः॥
परिमण्डलयोर्मध्ये मेरुरुत्तमपर्वतः। ततः सर्वाः समुत्पन्ना वृत्तयो द्विजसत्तम॥
ऐरावती वितस्ता च विशाला देविका कुहू। प्रसूतिर्यत्र विप्राणां श्रूयते भरतर्षभ॥

—महाभारत*

अर्थात् संसार में पवित्र हिमालय प्रसिद्ध है। इसमें एक योजन चौड़ा और पाँच योजन घेरेवाला 'मेरु' है, जहाँ पर मनुष्यों की उत्पत्ति हुई। यहीं से ऐरावती, वितस्ता, विशाला, देविका और कुहू आदि नदियाँ निकलती हैं। यहीं पर ब्राह्मण उत्पन्न हुए।

इन प्रमाणों में हिमालय के मेरु प्रदेश पर आदि सृष्टि होने का वर्णन है। इससे भी अधिक पुष्ट प्रमाण हमें इस विषय के मिले हैं, जिनसे हिमालय पर अमैथुनी सृष्टि के होने का निश्चय होता है। जिस मेरुस्थान का ऊपर वर्णन किया गया है उसी के पास ही **'देविका पश्चिमे पार्श्वे मानसं सिद्धसेवितम्'**, अर्थात् देविका के निकास के पश्चिमी किनारे पर 'मानस' है। यह मानस अब एक झील है। इसका 'मानस' नाम मानसी, अर्थात् अमैथुनी सृष्टि के कारण ही पड़ा है। वायुपुराण पूर्व० ५०। ८८ में लिखा है कि—

दक्षिणेन पुनर्मेरो मानसस्यैव मूर्द्धनि। वैवस्वतो निवसति यमः संयमने पुरे।

अर्थात् मेरु के दक्षिण और मानस के ऊपर यह वैवस्वत मनु अपने यमपुर में बसते हैं।

ये वही वैवस्वत मनु हैं जिनकी हमने 'नूह' बतलाया था और इन्हीं से समस्त मनुष्यजाति

---

१. या प्रमाणें, सुन्दरी नमुद केलेल्या सर्वप्रमाणावरून, हा हिमाचल आमचें केवल निवासस्थानच नहीं, तरतो अनादिकाला पासून आमच्या देवादिकांची ही जन्मभूमि होऊन राहिला आहे, असें वाचकांच्या लक्षांत सहजी येईल। —आर्यावर्तांतील आर्यांची जन्मभूमि, पृ० २७२

२. On the other hand, if it refers to the constellation of Ursa Major which is the most prominent in the northern parts of India, and particularly in the high tableland north of Kashmir and the peaks of the Himalaya from which the Vedic bard may have made his observations, it is not unnatural for him to describe it as placed high above the horizon. —*Rigvedic India*, p. 376.

* ये श्लोक इस रूप में महाभारत में नहीं हैं। कोई-कोई पाद अस्त-व्यस्त, पाठभेद के साथ भिन्न-भिन्न पर्वों में आये हैं। कुछ पाद हैं ही नहीं। —जगदीश्वरानन्द

की उत्पत्ति सिद्ध की थी। यहाँ हम देख रहे हैं कि उन्हीं वैवस्वत मनु का निवासस्थान मेरु और मानस के पास है। ऐसी दशा में अब यह विषय निर्विवाद-सा हो गया है कि आर्यों का (जिनको आदिमकालीन मनुष्यजाति के पूर्वज भी कह सकते हैं) मूलस्थान हिमालय का 'मानस' स्थान ही है। शतपथ १।८।१।६ में लिखा है कि **'तदप्येतदुत्तरस्य गिरे मनोरवसर्पणम्'**, अर्थात् हिमालय पर ही मनु का अवसर्पण, अर्थात् जलप्लावन हुआ। महाभारत वनपर्व अ० १८७। [४९] में स्पष्ट लिखा है कि **'अस्मिन् हिमवतः शृङ्गे नावं बध्नीत मा चिरम्'**, अर्थात् मनु ने इस हिमालय के शृङ्ग में शीघ्रता से जलप्लावन की नाव को बाँधा। यहाँ यह बात स्पष्ट हो गई कि आर्यों के अथच मनुष्यजाति के मूलपुरुष मनु वैवस्वत हिमालय पर ही रहते थे और वहीं पर जलप्लावन हुआ था, हिमालय के 'मेरु' का नाम समस्त मनुष्यजातियों को याद है, अतएव आर्यों का मूलस्थान हिमालय ही है।

यह स्थान अन्य विद्वानों के निश्चित किये हुए स्थानों के बहुत विरुद्ध नहीं है। आप एशिया का नक़्शा हाथ में लें और सबसे पहले पाश्चात्य विद्वानों के बताये हुए मध्य एशिया पर एक बिन्दु लगावें। इसके बाद भारतीय विद्वानों के बताये हुए भारतवर्ष के कुरुक्षेत्र पर एक बिन्दु लगावें। अब स्वामी दयानन्द सरस्वती के बताये हुए तिब्बत पर बिन्दु लगावें और अन्त में पारसी महाशय के निर्देश किये हुए हिन्दूकुश पर बिन्दु लगावें और ध्यान से देखें तो ज्ञात होगा कि आपने हमारे बताये हुए 'मानस' केन्द्र की चारों सीमाओं को निश्चित कर दिया। सब सीमाएँ मानस को केन्द्र बना रही हैं, सबका मतभेद मिटाकर 'मानस' जैसे इतिहासप्रसिद्ध स्थान की उलझन सुलझा रही हैं और सिद्ध कर रही है कि अमैथुनी आर्यसृष्टि मानसी थी, इसीलिए मानस में हुई। इस आदिसृष्टि का मूलस्थान नियत करने में हमने जिस क्रम का अनुसरण किया है, वह ऐसा नहीं है, जो हमारा कपोलकल्पित हो, प्रत्युत वह, वह क्रम है जो भारत के प्राचीन ऋषियों ने हमारे आदिम इतिहास के लिए सुरक्षित रख छोड़ा है। आपको स्मरण होगा कि हम वेदों की प्राचीनता ढूँढते-ढूँढते मनु वैवस्वत तक ही पहुँचे। अब आदिसृष्टि का मूलस्थान खोज करते हुए भी हम उन्हीं वैवस्वत मनु के घर हिमालय पर ही पहुँचे हैं, इससे विश्वासपूर्वक कह सकते हैं कि आदिसृष्टि हिमालय के 'मानस' स्थान में ही हुई, किन्तु यह प्रश्न आप-ही-आप उपस्थित होता है कि हिमालय पर उत्पन्न होनेवाले आदि आर्य भाषा और ज्ञान के सहित उत्पन्न हुए या उन्होंने भाषा और ज्ञान में आप-ही-आप उन्नति की, अतः अब आगे ज्ञान और भाषा की उत्पत्ति का पता लगाते हैं।

ज्ञान और भाषा की उत्पत्ति

मनुष्य परमेश्वर की विशिष्ट रचना है। मनुष्य ही नहीं प्रत्युत सभी योनियाँ परमेश्वर की विशिष्ट रचना हैं। यद्यपि सभी योनियाँ विशिष्ट प्रकार से उत्पन्न हुई हैं तथापि यह बात प्रत्यक्ष देखी जाती है कि मनुष्य के अतिरिक्त जितने प्राणी हैं सब बिना किसी नैमित्तिक शिक्षा के, अपने स्वाभाविक ज्ञान से ही अपनी जीवन-यात्रा के समस्त आवश्यक कार्य सम्पन्न कर लेते हैं। भोजन ढूँढने, मकान बनाने, सन्तति उत्पन्न करने और उसका पालन कर लेने का ज्ञान उन्हें बिना सिखाये आपसे-आप आ जाता है और पैदा होने से लेकर मरने तक एक समान ही बना रहता है, घटता-बढ़ता नहीं, परन्तु मनुष्य की बात सर्वथा उलटी है। वह नैमित्तिक ज्ञान के बिना न आहार पहचाने, न वस्त्र बना सके, न घर बनाना जाने, न स्त्री-पुरुष में विवेक कर सके, न सहवास जाने, न बोल सके, न खड़ा हो सके, न हाथ से पकड़ सके, न हाथ से खा-पी सके और न एक दिन भी जी सके।

भेड़ियों की माँद से मिले हुए मनुष्य के बच्चों के देखने से ज्ञात होता है कि नैमित्तिक ज्ञान के बिना वे खड़े होकर चल नहीं सकते। वे पशुओं की भाँति चार पाँव से चलते हैं। वे बोल नहीं सकते, केवल गुर्राते हैं। हाथ से पकड़कर कुछ खा-पी नहीं सकते, प्रत्युत मुँह से ही खाते और पानी पीते हैं। इन बातों से पता लगता है कि यदि मनुष्य को अपनी असली स्थिति में रक्खा जाए और उसको नैमित्तिक ज्ञान न मिले तो वह आज के पैदा हुए बच्चे की ही अवस्था में रहेगा। मनुष्य के बच्चे में पैदा होने के दिन से जो कुछ ज्ञान की शिक्षा होती है वह दूसरों से ही होती है। यदि वह पशुओं की सङ्गति में रहे, तो उसमें पशुओं का-सा ज्ञान होगा और यदि मनुष्यों की सङ्गति में रहे तो मनुष्यों का-सा ज्ञान होगा। मनुष्यों में भी यदि वह विद्वानों की सङ्गति में रहे तो अधिक ज्ञानवान् होगा और यदि जंगली लोगों के साथ रहे तो महामूर्ख होकर पशु-तुल्य हो जाएगा। कहने का तात्पर्य यह कि मनुष्य को बिना नैमित्तिक ज्ञान के स्वयं ज्ञान प्राप्त नहीं हो सकता। जो लोग कहते हैं कि मनुष्य ने क्रम-क्रम से ज्ञानोन्नति की है वे ग़लती पर हैं। यदि क्रम-क्रम से आप-ही-आप ज्ञानोन्नति होती तो अण्डमान टापू के मनुष्य भी ज्योतिष् और गणित का आविष्कार कर लेते, परन्तु आजतक बेचारे पूरी पाँच तक गिनती भी गिनाना नहीं जानते। भारत में ही आज यूरोपनिवासियों के साथ रहते हुए १५० वर्ष हो गये, परन्तु यहाँवाले यह न समझ पाये कि बिना तार के तार कैसे जाता है और फोनोग्राफ कैसे बजता है। सर जगदीशचन्द्र बोस को यदि यूरोपीय विज्ञान न पढ़ाया जाता, बीसियों बार वे यूरोप जाकर विज्ञान की उन्नति न करते तो वे भी आजकल के एम०एस०सी०-जैसे होकर रह जाते। यूरोप को भी यदि मिस्र, यूनान, अरब और रोम न सिखलाता तो उन्हें भी ज्ञान न होता। इसी प्रकार उक्त देशों को भी यदि भारतीय आर्य ज्ञानोपदेश न करते तो उनके पल्ले भी कुछ न पड़ता। कहने का तात्पर्य यह कि बिना कुछ लक्ष्य कराये—बिना कुछ सूचना दिये—मनुष्य चाहे जितना प्रतिभावान् हो वह आप-ही-आप ज्ञानोपार्जन नहीं कर सकता। जब यह अवस्था है तब कैसे मान लें कि मनुष्यों ने क्रम-क्रम से उन्नति कर ली। अब तक वैज्ञानिक जाँच ने जो कुछ सामग्री उपलब्ध की है उससे भी ज्ञात नहीं होता कि ज्ञान क्रमोन्नति का फल है।

यहाँ हम इसके तीन उदाहरण प्रस्तुत करते हैं। पहला उदाहरण यह है कि अब तक प्राचीन वस्तुओं के निकालने का जो कुछ काम हुआ है उसपर से विकासवादी अनुमान करते हैं कि प्राचीन समय में मनुष्य महाजंगली दशा में था, क्योंकि सबसे निचली तहों में मनुष्यों के बनाये हुए जो पदार्थ मिले हैं वे पाषाण और सींग आदि के ही बने हुए हैं। इससे ज्ञात होता है कि उस समय उनको धातुओं का ज्ञान नहीं था, परन्तु ऊपरी तहों में धातुनिर्मित शस्त्र मिलते हैं। इससे ज्ञात होता है कि वे पहलों से अधिक उन्नत थे।

यह वर्णनक्रम अच्छा था यदि सत्य होता, परन्तु बात सर्वथा उलटी है। अब तक जहाँ-जहाँ खुदाई हुई है वहाँ-वहाँ एक ही गहराई पर दोनों प्रकार के उन्नत और अवनत शस्त्र मिले हैं। इससे एक ही समय पर उन्नत और अवनत दशा पाई जाती है। इस विषय का वर्णन लोकमान्य तिलक ने अपनी पुस्तक 'आर्यों का उत्तरध्रुवनिवास' में बहुत ही अच्छा किया है। आप लिखते हैं कि यूरोप में अनेक जगह, प्राचीन छावनियों, किलों की दीवारों, श्मशानों, देवालयों और जलनिवासस्थानों के खोदने से पत्थर और धातु के हज़ारों हथियार मिले हैं। इनमें कितने ही स्वच्छ किये हुए और घोटे हुए तथा कितने ही अस्वच्छ और भद्दे हैं। पुराणवस्तु शास्त्रज्ञों ने इनके तीन विभाग किये हैं। पहले विभाग में पाषाणशस्त्र हैं, जिनमें सींग, काष्ठ और हड्डियों का भी समावेश है। दूसरे विभाग में कांसे के शस्त्र हैं और तीसरे विभाग में लोहे के शस्त्र माने गये हैं,

........परन्तु ऐसा न समझ लेना चाहिए कि उपर्युक्त तीनों स्थितियाँ एक-दूसरी से भिन्न हैं। यह बिल्कुल असत्य है कि पाषाणयुग की समाप्ति हो जाने पर कांस्ययुग का आरम्भ हुआ। ये तीनों विभाग तो केवल बनावटी हैं, ...तांबा और राँगा से काँसा बनता है, इसलिए एक ताम्रयुग भी मानना पड़ता है, किन्तु ऐसा प्रमाण अब तक नहीं मिला कि ताम्रयुग और बंगयुग भिन्न-भिन्न थे। इसका कारण यह है कि यूरोप में काँसा बनाने की मूलयुक्ति इतर आर्यों से गई है। इससे यह भी स्पष्ट हो जाता है कि कोई भी युग भिन्न-भिन्न देशों में भी एक ही समय विद्यमान न था। उदाहरणार्थ यूरोप के लोग जिस समय पाषाणयुग की प्राथमिक भूमिका में थे, उसी समय, अर्थात् ईस्वी सन् लगभग ६००० वर्ष पूर्व इजिप्ट देशवासी उच्चतम सभ्यता प्राप्त कर चुके थे। इसी प्रकार जिस समय ग्रीक लोग लोहयुगपर्यन्त गये थे उस समय इटालियन लोग काँस्ययुग का ही भोग कर रहे थे और यूरोप के पश्चिमी भाग के लोग तो उस समय पाषाणयुग में ही पड़े हुए थे। .....ऊपर कहे हुए पाषाणयुग, काँस्ययुग और लोहयुग जिस प्रकार एक-दूसरे से पृथक् नहीं हैं, उसी प्रकार भूस्तरयुग भी एक-दूसरे से भिन्न नहीं हैं। जिस युग को ऊपर नव पाषाणयुग के नाम से कहा गया है, उसका आरम्भ कब हुआ ? यद्यपि इस प्रश्न के उत्तर में भिन्न-भिन्न विद्वानों का मतभेद है तथापि कोई भी विद्वान् उस काल को ५,००० वर्ष से पुराना नहीं कहता, परन्तु उस समय इजिप्ट और चाल्डिया देश तो उन्नति के शिखर पर पहुँच चुके थे।

यह बात सर्वथा सत्य है। अभी भी—इस समय भी संसार के भिन्न-भिन्न देशों में भिन्न-भिन्न परिस्थिति, अर्थात् उन्नत और अवनत दशा पाई जाती है। कहाँ यूरोप का विज्ञान और कारीगरी! कहाँ अण्डमान के नग्न! जंगल में हमने एक बार किसी बाबू की घड़ी और किसी जंगली मनुष्य की चकमक पथरी एक ही जगह पड़ी पाई थी। घड़ी जंगल के किसी अफ़सर की थी और चकमक उसका सामान ढोनेवाले मजदूर की। यदि वे दोनों चीजें भूमि में दब जातीं और खोदने पर एक ही स्थान में मिलतीं, तो क्या ऐसी दशा में यही परिणाम न निकाला जाता कि सभ्यता और असभ्यता, सज्ञानता और अज्ञानता दोनों एक ही समय में थीं ? तब फिर कैसे कहा जाता है कि मनुष्य ने ज्ञान में धीरे-धीरे उन्नति की है। पत्थरों से लोहा, तांबा निकालना क्या कोई आसान बात है। यदि कहा जाए कि ये काम तो जंगली आदमी कर लेते हैं, इसमें ज्ञान की क्या आवश्यकता है तो ठीक नहीं, क्योंकि विद्वान्-से-विद्वान् और सभ्य-से-सभ्य कारीगर भी, यदि उसने कभी पत्थर से लोहा निकलता नहीं देखा तो वह आपसे-आप कदापि लोहा नहीं निकाल सकता।

एक बार हमें जंगल में चाँदी का एक पत्थर मिला। उस पत्थर का एक टुकड़ा हमने एक नियारिये को दिया और दूसरा कलकत्ते भेजा गया। नियारिये ने सब पत्थर फूँक दिया, परन्तु रत्ती-भर भी चाँदी न निकली, किन्तु कलकत्ते से विश्लेषण का हिसाब लगाकर पुर्जा आ गया कि इसमें प्रतिशतक इतनी मिट्टी, इतना सीसा और इतनी चाँदी है। कहने का तात्पर्य यह कि जिसको धातु विश्लेषण की शिक्षा मिली है वही जानता है, अन्य नहीं। इससे स्पष्ट हो गया कि जिन युगों को लोग धातुयुग कहते हैं वे जंगली युग नहीं हैं। पत्थरों से धातु निकालकर उनको तपा-तपाकर शस्त्र बनाना मूर्खता नहीं है। यह ज्ञान बहुत ऊँचे दर्जे के विज्ञानवेत्ताओं के द्वारा आविर्भूत हुआ था और साधारण लोगों को सिखाया गया था। शुद्ध धातु से मिश्रित धातु की ...ारी तो और भी अधिक ज्ञान का फल है। हज़ारों में एक जानता है कि काँसा और फूल ...किस धातु से कैसे बनते हैं। ऐसी दशा में जो बात महाज्ञान से सम्बन्ध रखती है उसको ... पशु-तुल्य जंगली मनुष्यों की रचना बतलाना बड़े ही अन्याय की बात है।

जिन स्थानों में धातुनिर्मित शस्त्र मिलते हैं, पृथिवी के उन्हीं स्थानों में पाषाणनिर्मित शस्त्र भी मिलते हैं। हड़प्पा और मोहनजोदड़ो की खुदाई में जहाँ सभ्यतासूचक पदार्थ मिले हैं, वहीं पर पत्थर के शस्त्र भी मिले हैं। सम्भव है कि वे जंगली लोगों के ही हों। अथवा उन संन्यासियों के हों जो धातु न छूते हों—धातु का उपयोग करना बुरा समझते हों। ऐसी दशा में भौगर्भिक जाँच से यह सिद्ध नहीं होता कि मनुष्य में ज्ञान की उन्नति क्रम-क्रम से हुई। इसके अतिरिक्त जिस काल में—जिस धरातल में पाषाणशस्त्र मिलते हैं उसी काल में किसी अन्य देश के अन्य धरातल में बहुत उन्नत दशा के दर्शानेवाले पदार्थ मिलते हैं। जैसे यूरोप में अवनत दशा के और मिस्र में उन्नत दशा के। ऐसी स्थिति में यह नहीं कहा जा सकता कि मनुष्य ने क्रम-क्रम से उन्नति की। इन वर्णनों से स्पष्ट मालूम होता है कि मनुष्य में हर समय उन्नत ज्ञान पाया जाता है, अतः यही सिद्ध होता है कि आदि में उसको निमित्त से ही ज्ञान मिला। जहाँ-जहाँ, जिस-जिस समाज में उस नैमित्तिक ज्ञान के सीखने की प्रथा रही, वहाँ-वहाँ वह रहा और जिस-जिसने उसे छोड़ दिया उससे वह ज्ञान चला गया। आज भी जो पढ़ता-लिखता है, वही सभ्य हो जाता है और जो नहीं पढ़ता-लिखता वह मूर्ख रह जाता है। ऐसी स्थिति में कैसे कहा जाता है कि ज्ञान का विकास क्रम-क्रम से हुआ।

जोन्स बोसन (Jones Bowson) ने नवम्बर सन् १९२२ के न्यू एज (New Age) नामक पत्र में लिखा था कि 'यदि मनुष्यजाति का इतिहास उत्तरोत्तर विकास की ओर है तो क्यों चीनी लोग ईस्वी संवत् से पूर्व बारूद (गन पाउडर) को काम में लाते थे और समुद्रीय ध्रुवदर्शक सुई (कम्पास) को काम में लाते थे, परन्तु अब भूल गये। इसी प्रकार मिस्र में जब बड़े-बड़े पिरामिड बने थे उस समय वहाँ के लोग रेखागणित की परमसीमा तक पहुँचे थे, परन्तु अब उनको वह विद्या क्यों ज्ञात नहीं है? जावाद्वीप के मन्दिरों में चढ़े हुए विशाल पत्थर पहले समय में उठाये गये थे, परन्तु आजकल वे क्यों नहीं उठाये जा सकते? दिल्ली की लोहे की लाट भारत में ही बनी, परन्तु आज भारत क्या यूरोप भी वैसी लाट क्यों नहीं बना सकता? इन बातों से ज्ञात होता है कि विकास नहीं, प्रत्युत ह्रास हो रहा है। पुराने देशों में ह्रास है, परन्तु यूरोप, अमेरिका आदि नवीन देशों में विकास भी हो रहा है, इसलिए यह नहीं कहा जा सकता कि पहले लोग असभ्य थे और अब सभ्य हो गये हैं अथवा पहले सभ्य थे और अब असभ्य हो गये हैं।

दूसरा उदाहरण इससे भी अधिक रोचक है। सबने देखा होगा कि दीपक के पास पतङ्गा आता है, आँच का अनुभव करता है और भागता है। थोड़ी देर के बाद फिर आता है और उसी दीपक में जल जाता है। यदि क्रम-क्रम से ज्ञानप्राप्ति का सिद्धान्त सत्य होता तो पतङ्गा अपना पहला अनुभव आगे के लिए संचित करता और ज्ञानविस्तार का कारण बनाता और दो-एक बार के अनुभव से वह जान जाता कि दीपक के पास जाना अच्छा नहीं है, परन्तु बात सर्वथा उलटी है। पतङ्गा जितनी बार बचकर चला जाता है उतनी ही बार फिर आता है और अनुभव होने पर भी, जब तक जलकर मर नहीं जाता, तब तक वह उसी दीपक के पास दौड़ता है। इन अनुभवों और वैज्ञानिक जाँचों से जाना गया है कि मनुष्य के ज्ञानार्जन का कारण क्रमविकास नहीं है। मनुष्य का ज्ञान, निमित्त परम्परा से चला आ रहा है और जहाँ जो लोग उस परम्परा को स्थिर रक्खे हुए हैं, वहीं रहता है, अन्यथा नष्ट हो जाता है।

तीसरा उदाहरण यह है कि यदि विकास के द्वारा ज्ञानोन्नति हुई होती तो ज्ञान की परम्परा भी पैतृक रीति से बिना सीखे ही सन्तति को मिलती, किन्तु हम देखते हैं कि बिना पढ़े कुछ भी नहीं आता। इससे ज्ञात होता है ज्ञान क्रमविकास का फल नहीं है। वह नैमित्तिक गुण है, इसलिए

आदि में वह परमात्मा के निमित्त से ही प्राप्त हुआ है और अब भी दूसरों के ही निमित्त से प्राप्त होता है। इस मूलज्ञान के सम्बन्ध में डिस्कारटीज कहता है कि 'जब मैं बहुत दूर और गहराई तक सोचता हूँ तब ज्ञात होता है कि ईश्वर-सम्बन्धी ज्ञान मनुष्य आप-ही-आप अपने हृदय में पैदा नहीं कर सकता, क्योंकि वह अनन्त है और हमारा मन सान्त है। वह व्यापक और हम एकदेशी हैं। इससे यह स्पष्ट है कि मूलविचारों को हमने स्वयं नहीं बनाया, किन्तु परमात्मा ने आदिपुरुषों के हृदयों में अपने हाथ से छाप दिया है'। मेडम ब्लेवेट्स्की 'सिक्रेट डाक्ट्राइन्' में कहती हैं कि 'अनेक बड़े-बड़े विद्वानों ने कहा है कि उस समय भी कोई नवीन धर्मप्रवर्तक नहीं हुआ, जब आर्यों, सेमेटिकों और तूरानियों ने नया धर्म—नवीन सचाई का आविष्कार किया था, ये धर्मप्रवर्तक भी केवल धर्म के पुनरुद्धारक थे, मूलशिक्षक नहीं।' 'चिप्स फ्रॉम ए जर्मन वर्कशॉप' नामक पुस्तक में प्रो० मैक्समूलर कहते हैं कि 'आदिसृष्टि से लेकर आज तक कोई भी बिलकुल नया धर्म नहीं हुआ'। इन प्रमाणों से स्पष्ट है कि ज्ञान न तो मनुष्यकृत है और न क्रमविकास से उसकी उत्पत्ति हुई है। वह निस्सन्देह ईश्वरप्रदत्त है और अपौरुषेय है।

जिस मनुष्यजाति को ईश्वरप्रदत्त ज्ञान प्राप्त हुआ है उसको भाषा भी ईश्वरीय प्रेरणा से ही प्राप्त हुई है, क्योंकि ज्ञान बिना भाषा के ठहर ही नहीं सकता, अर्थात् वह वंश-परम्परा से चल ही नहीं सकता। ज्ञान और भाषा का सम्बन्ध जोड़िया भाई-बहिन की भाँति है। एक बिना दूसरे के रह ही नहीं सकता। जिस प्रकार ज्ञान बिना सिखाये नहीं आता उसी प्रकार भाषा भी बिना सिखाये नहीं आती। मनुष्य वही भाषा बोलता है जो सुनता है। माता की गोद में या कुटुम्ब में जो भाषा सुनता है वही बोलता है। यही कारण है कि देश-देश, प्रान्त-प्रान्त और ग्राम-ग्राम की भाषा में भेद है, अर्थात् मनुष्य बिना सिखाये हुए कोई भाषा नहीं बोल सकता। बिना सीखे यदि दूसरों की भाषा नहीं बोल सकता तो उसे आप-ही-आप कोई नई भाषा बना लेनी चाहिए, परन्तु मनुष्य कोई नवीन भाषा बना भी नहीं सकता। जितने गूँगे हैं, सब बहरे हैं। बहरे होने से ही वे गूँगे हैं, क्योंकि वे न कोई भाषा सुनते हैं, न बोलते हैं। यद्यपि उनके मुख में बोलने के सब साधन हैं और गूँगे स्कूलों में यन्त्रों के सहारे उनसे बुलवा भी दिया जाता है, परन्तु यह सब निमित्त से ही होता है। वे स्वयं बिना सिखाये कोई भाषा नहीं बना सकते। गूँगा मनुष्य लोगों को जब मुँह फाड़-फाड़कर कुछ कहते देखता है तब वही नकल वह भी करता है।

यही नहीं किन्तु देखा गया है कि भेड़िया की माँद से निकाले हुए मनुष्य के बच्चे भी भेड़ियों की ही आवाज़ बोलते हैं। इन गूँगों और माँदवालों के मुँह से वर्णमाला का कोई अक्षर नहीं निकलता। अ, इ, ऊ, ऐ, ओ, अं के सिवा अर्थात् अकार के विकारों के सिवा वे कोई दूसरा वर्ण मुँह से नहीं निकाल सकते। यह भी वे दूसरों को देखकर ही निकालते हैं। गूँगा बच्चा यदि अन्धा हो तो वह यह भी नहीं निकाल सकता।

प्रो० मैक्समूलर ने 'साइन्स ऑफ दी लेंग्वेज' पृष्ठ ४८१ पर लिखा है कि 'मिस्र के बादशाह 'सामीचिक्स' ने दो सद्यःप्रसूत बालकों को गड़रिये को सौंपा और ऐसा प्रबन्ध किया कि उनको पशुओं के अतिरिक्त मनुष्यों की भाषा सुनने को न मिले। जब लड़के बड़े हुए तो देखा गया कि उनको इ, ऊ, अं आदि स्वरों के सिवा और कुछ भी बोलना नहीं आया। इसी प्रकार सवावीन, द्वितीय फ्रेडरिक, चतुर्थ जेम्स और अकबर आदि ने भी परीक्षार्थ बच्चों को मनुष्य की भाषा से पृथक् रक्खा, परन्तु अन्त में यह पाया गया कि मनुष्य बिना सिखाये कोई भाषा नहीं बोल सकता'। पाश्चात्य विज्ञानवेत्ता कहते है कि भाषा भी उसी प्रकार विकास का फल है जिस प्रकार मनुष्य और उसका ज्ञान। इस प्रकार के भाषाविज्ञान से सम्बन्ध रखनेवाली दो पुस्तकें, हिन्दी

भाषा में, दो ही वर्ष के अन्दर निकली हैं। एक का नाम है 'भाषाविज्ञान' जिसे नलिनीमोहन सान्याल एम०ए० ने लिखा है और दूसरी का नाम है 'तुलनात्मक भाषाशास्त्र अर्थात् भाषाविज्ञान' जिसे डॉक्टर मङ्गलदेव शास्त्री एम०ए०, एम०ओ०एल० ने लिखा है। पुस्तकें क्या हैं पश्चिमी विचारों का फोटो हैं। दोनों विद्वान् आधुनिक भाषाविज्ञान के अच्छे पण्डित हैं। इन महानुभावों ने अपनी-अपनी पुस्तकों को अच्छे ढंग से लिखा है। इनमें भाषा की उत्पत्ति कैसे हुई, उसका आदिरूप कैसा था, उसका विस्तार और परिवर्तन किस प्रकार हुआ तथा वर्त्तमान भाषा-परिवारों का वर्गीकरण किस प्रकार करना चाहिए आदि आवश्यक बातों को विस्तारपूर्वक लिखा गया है। हमारा प्रयोजन भी इन्हीं सब बातों की जाँच से निकल सकता है, इसलिए हम डॉक्टर मङ्गलदेव शास्त्री की पुस्तक से ही देखना चाहते हैं कि भाषाविज्ञान का क्या सिद्धान्त है। भाषा की उत्पत्ति के विषय में पृष्ठ १७३ पर आप कहते है कि 'भाषा की उत्पत्ति के विषय में चार मत हैं—१. मनुष्य की सृष्टि के साथ-ही-साथ एक दैवीशक्ति के द्वारा, एक अनोखे प्रकार से पूर्णरूप से निष्पन्न भाषा की सृष्टि संसार में हुई। २. मनुष्यों ने जब यह देखा कि हस्तादि के संकेत आदि के द्वारा वे अपने विचारों को एक-दूसरे पर अच्छी प्रकार प्रकट नहीं कर सकते तब उन्होंने विचारपूर्वक स्वयं भाषा का निर्माण किया। ३. मनुष्य के विचारों और भाषा का नित्य तथा अटूट सम्बन्ध होने से मनुष्य सृष्टि के आरम्भ में ही मनुष्यों के विचार, स्वभाव से ही भाषा के मूलतत्त्वस्वरूप कुछ धातुओं द्वारा प्रकट हो गये। फिर धीरे-धीरे उन धातुओं के आधार पर भाषा का विकास हुआ। ४. अनुकरणात्मक तथा हर्ष-क्रोधादि मनोराग-व्यञ्जक शब्दों के द्वारा तथा उनके आधार पर, परस्पर विचार-परिवर्तन में सरलता को उद्देश्य रखकर, स्वभावतया धीरे-धीरे भाषा का विकास हुआ'।

उपर्युक्त प्रथम, द्वितीय और तृतीय मत का खण्डन करके, चतुर्थ मत के लिए आप पृष्ठ १९८ पर कहते हैं कि 'भाषा की उत्पत्ति एकाएक न तो मनुष्य की स्वेच्छा से, न स्वभाव से और न दैवीशक्ति की प्रेरणा से ही हो सकती है। उसकी उत्पत्ति का प्रकार यही हो सकता है कि सभ्यता के दूसरे अङ्गों की भाँति भाषा भी धीरे-धीरे विकास का फल हो। निस्सन्देह आदि मनुष्यों का परस्पर व्यवहार बहुत कुछ शारीरिक चेष्टाओं द्वारा ही होता रहा होगा'। इसके पश्चात् पृ० १९९-२०० पर आप लिखते हैं कि पहला सिद्धान्त यह है कि पदार्थों और क्रियाओं के पहले-पहले नाम जड़-चेतनात्मक बाह्यजगत् की ध्वनियों के अनुकरण के आधार पर रक्खे गये, जैसे कोकिल 'कुक्कू' (Cuckoo) या 'काक' (**काक इति शब्दानुकृतिः। —निरुक्त**)...... दूसरा सिद्धान्त इस प्रकार है कि हर्ष, शोक, आश्चर्य आदि के आवेश में कुछ स्वाभाविक ध्वनियाँ हमारे मुख से निकल पड़ती हैं जैसे 'हाहा', 'हाय-हाय', 'अहह', 'वाहवाह' इत्यादि'।

यहाँ आपने भाषा-उत्पत्ति का यह क्रम बतलाया कि पहले सङ्केतों से काम चला, फिर बाहर की ध्वनियों को सुनकर और उद्गारात्मक शब्दों की योग्यता से धीरे-धीरे भाषा बन गई। जैसे कूकू करने से कोयल का नाम अंग्रेज़ी में 'कुक्कू' पड़ गया और काँव-काँव करने से कौवा को संस्कृतवाले 'काक' कहने लगे, इसी प्रकार शब्दानुकृति से शब्द बने, परन्तु प्रश्न यह है क्या संसार में कोई ऐसा और भी प्राणी है जो इशारे से बातें करता हो? जहाजों में झण्डियों से, युद्ध के समय चिनगारियों से और तार में ट्रा-टक्कू की ध्वनियों से जो सङ्केत होते हैं क्या ये सब जंगली दशा में होने के कारण होते हैं? क्या नृत्य करते समय नर्तक अपने गीत का जो अर्थभाव इशारों से करता है वह जंगली है? हम और आप कभी काम पड़ने पर 'अंगुली, अक्षर, चुटकी मात्रा' के सिद्धान्त से जो इशारे करते हैं तो क्या हम आपको बोलना नहीं आता? जब हर प्रकार

से यह सिद्ध हो रहा है कि बोलने की शक्ति रखते हुए भी इशारा करना बहुत ऊँचे ज्ञान का फल है तब कैसे कहा जाता है कि आदिम मनुष्य ज्ञान में पशु-तुल्य थे और इशारों से ही मनोभाव व्यक्त करने की योग्यता रखते थे? हम तो देख रहे हैं कि इशारे से बातचीत करना भाषाज्ञान से भी अधिक सूक्ष्म और उच्च है।

गूँगे मनुष्य जो इशारे से बातचीत करके अपना तात्पर्य समझा देते हैं वह इसलिए कि उनको अन्य ज्ञानवालों से उस प्रकार के सङ्केतों से बातचीत करने की शिक्षा मिलती है। इशारे से समझना और समझाना सहज नहीं है। यह काम अधिक चतुर पुरुषों का है। गानेवाले जो अर्थभाव बताने की भी विद्या जानते हैं कितने परिश्रम के बाद बताना सीख पाते हैं और उनका भाव समझनेवाले भी चतुर ही होते हैं। यह सबपर विदित है कि इशारे से समझना और समझाना बहुत बड़ी बुद्धिमानी का काम है। प्रायः लोग कहा करते हैं कि तुम्हारी यह इशारेबाजी हम समझते हैं। इशारे के पहले बुद्धि का पूर्ण विकास होने पर ही इशारे के अर्थ नियत हो सकते हैं, परन्तु कठिनाई तो यह है कि बिना भाषा के बुद्धि का पूर्ण विकास हो ही नहीं सकता। हम देखते हैं कि जितनी जल्दी, जितनी सरलता से और जितनी गूढ़ शिक्षा सर्वसाधारण लड़कों को दी जाती है उतनी जल्दी, उतनी सरलता से और उतनी गूढ़ शिक्षा गूँगों के स्कूलों में गूँगे बच्चों को नहीं दी जा सकती। सूक्ष्म, वैज्ञानिक और दार्शनिक ज्ञान तो उनको कराया ही नहीं जा सकता और न वे गूँगे किसी अन्य को उच्च शिक्षा दे सकते हैं? जब तक भाषा उत्पन्न न हो जाए और उस भाषा के द्वारा बुद्धि का पूर्ण विकास न हो जाए तब तक इशारे हो ही नहीं सकते।

रही यह बात कि 'कूकू' शब्द से 'कुक्कू' और 'काँव-काँव' से 'काक' शब्द बना लिये गये, यह बिलकुल ग़लत है। कुक्कू और 'काक' शब्द तो तब बन सकेंगे जब पहिले 'क' का उच्चारण बन चुका हो। जब तक मनुष्य के मुख से वर्ण न निकल चुके हों तब तक वह 'शब्दानुकृति' कर ही नहीं सकता। अंग्रेजी का कुक्कू शब्द तब बन पाया है जब 'क' का उच्चारण करना आ चुका था। निरुक्तकार का यह कहना नहीं है कि आदिसृष्टि में मनुष्यों ने शब्दानुकृति से उच्चारण सीखा। उनका कहना यही है कि जब वर्णोच्चारण हो जाता है तब शब्दानुकृति से नाम रक्खे जा सकते हैं। 'कट्ट, सर्र, गद्द, में, में, में' की कथा बच्चे रोज कहा करते हैं। चूहे ने कट्ट से तूँबे को काटा, वह सर्र से चला, गद्द से पीठ पर गिरा और बकरी में, में, में करने लगी। यह सारी कथा शब्दानुकृति के ही आधार पर बनी है, परन्तु क्या इसका यह अर्थ है कि क[illegible] र हमारे मुँह से 'क' और 'ट' निकले? कभी नहीं, निरुक्त में दोनों प्रकार के मत [illegible] रखे हुए हैं—

[illegible] नुकृतिस्तदिदं शकुनिषु बहुलम्।
[illegible] ने इत्यौपमन्यवः, काको अपकालयितव्यो भवति। —निरुक्त ३।१८

[illegible] कि 'काक' नाम शब्दानुकृति से रक्खा गया, परन्तु दूसरा औपमन्यु [illegible] ालयितव्यता—अस्पृश्यता के कारण रक्खा गया है। यहाँ औपमन्यु [illegible] किन्तु पहला कहता है कि शब्दानुकृति से भी ऐसा नाम रक्खा [illegible]

[illegible] ा कि आदि में शब्दानुकृति से ही नाम रक्खे गये हैं, जैसे [illegible]। ये नाम हम प्रतिदिन मनमानी रीति से शब्दानुकृति को [illegible] है कि आदि में मनुष्य ने इन वर्णों का उच्चारण कैसे [illegible] अनुकरण से किया तो प्रश्न यह है कि क्या बाहर

की ध्वनियाँ साफ़-साफ़ वर्णात्मक हैं ? बाहर की ध्वनियाँ जिनको हम टनटन, धमधम, खटखट, पूँ-पूँ, म्यूँ और झनझन आदि कहते हैं, क्या वास्तव में वे उन वर्णों से बनी हुई होती हैं ? क्या तोते के मुख से निकलनेवाले 'सत्त गुरुदत्त' या 'नबीजी भेजो' आदि वर्ण ठीक-ठीक स, त, ग, द, और न, ब, ज ही हैं ? क्या सारंगी से निकला हुआ गीत वास्तव में उन्हीं वर्णों को कह रहा है जिन वर्णों से वह गीत बना है ? कभी नहीं, कदापि नहीं। मनुष्य के मुख से निकलनेवाले वर्ण, सिवा मनुष्य के मुख के, दूसरे स्थान से निकल ही नहीं सकते। जब तक मनुष्य के-से कण्ठ, तालु, मूर्धा, ओष्ठ तथा जिह्वा का प्रयत्न दूसरी जगह न हो तब तक वहाँ से वे वर्ण स्पष्टतया निकल ही नहीं सकते। हमारे पास 'ट' और 'न' हैं, इसलिए हम बाहरी टनटन की आवाज को टनटन कहते हैं, परन्तु जिन जातियों में टवर्ग नहीं है, वे 'टनटन' न कहकर 'तनतन' कहेंगे। यदि उनमें 'न' की आवाज भी न हो तो न जाने वे 'टनटन' को क्या कहें ? हम मुर्गे की आवाज़ को कुक्डूँकूँ कहते हैं, परन्तु अंग्रेज उसे 'काक ए डूडिल डू' कहते हैं। ज्ञात हुआ कि मुर्गे के मुँह से स्पष्ट वर्ण नहीं निकलते, अतएव हम जो बाह्य ध्वनियों की नकल करते हैं उसका कारण बाहर की ध्वनियाँ नहीं, प्रत्युत हमारे पास वर्णों का होना है।

इस बात को और भी अधिक स्पष्ट रीति से समझिए। अंग्रेजों से भ,ख,ध,ढ,त आदि अक्षर नहीं बोले जाते। अरबी पढ़नेवालों की भाँति दूसरों से 'ऐन' ع और ح 'हे' के उच्चारण नहीं होते। महाराष्ट्रों का-सा 'च' भला कोई बोल तो दे? 'अग्निमीळे पुरोहितम्' में जो 'ळ' अक्षर है इसको युक्तप्रान्त और बंगाल का रहनेवाला बोल तो दे? नहीं बोल सकता, क्योंकि उसने बाल्यावस्था से वे उच्चारण नहीं सुने। जब हम बोलने की शक्ति रखते हुए भी, भिन्न-भिन्न वर्णों के उच्चारण नहीं कर सकते, जो बिलकुल स्पष्ट और मनुष्य के मुखोच्चारण हैं, तब आदि में मनुष्य ने जंगल, पहाड़, पशु और पक्षी आदि की आवाज़ों से जो बिलकुल ही अस्पष्ट हैं, वर्णोच्चारण सीख लिया, यह कितने बड़े आश्चर्य की बात है! ग्रन्थकार के सामने यह प्रश्न प्रबल रूप से खड़ा हुआ था। इस विषय में कुछ कहे बिना उनके लिए आगे बढ़ना कठिन था, इसीलिए दबी जबान में आप पृष्ठ २०४ पर कहते हैं कि 'अनुकरण कहने से हमारा तात्पर्य किसी प्रकार की ध्वनियों की हूबहू ठीक-ठीक नकल से नहीं है। न तो ऐसा हो ही सकता है और न इसकी आवश्यकता ही है। अवर्णात्मक या अव्यक्त ध्वनि का थोड़ा-सा दृश्य ही उसके स्मरण कराने के लिए पर्याप्त होता है। किस ध्वनि के लिए किस प्रकार के वर्णात्मक शब्द को नियत किया जाएगा, यह बहुत कुछ भिन्न-भिन्न व्यक्तियों पर और भिन्न-भिन्न दशाओं पर निर्भर होता है। एक ही ध्वनि भिन्न-भिन्न व्यक्तियों को भिन्न-भिन्न प्रकार की प्रतीत होती है। इसी कारण एक-सी ही ध्वनि के लिए भिन्न-भिन्न भाषाओं में भिन्न-भिन्न प्रकार के अनुकरणात्मक शब्द पाये जाते हैं'।

यहाँ आप 'हूबहू नकल' नहीं बतलाते। आप यह भी स्वीकार करते हैं कि 'एक ही ध्वनि भिन्न-भिन्न व्यक्तियों को भिन्न-भिन्न प्रकार की प्रतीत होती है'। आप कहते हैं कि 'अव्यक्त ध्वनि का थोड़ा-सा सादृश्य ही स्मरण कराने के लिए पर्याप्त है'। न हूबहू ध्वनि होती है और न वह सबको एकसमान सुनाई ही पड़ती है, तब स्मरण किस बात का कराती है ? स्मरण तो भूली हुई बात का कराया जाता है। क्या आदिपुरुष कोई भाषा भूल गये थे ? भूलेंगे क्या ? उन्हें तो अभी नये सिरे से वर्णोच्चारण करना सीखना है, इसलिए यह प्रश्न ज्यों-का-त्यों उपस्थित है कि आदि में वर्णोच्चारण की शिक्षा कैसे मिली ? बाह्य ध्वनियों के द्वारा वर्णोच्चारण की शिक्षा नहीं मिल सकती। हाँ, अभी एक उत्तर शेष है। आप मानते हैं कि मनुष्य बिना सुने हुए भी वर्णोच्चारण कर

सकता है। पृष्ठ २०० पर आप लिखते हैं कि 'हर्ष, शोक, आश्चर्य आदि के भावों के आवेश में कुछ स्वाभाविक ध्वनियाँ हमारे मुख से निकल जाती हैं, जैसे—हा-हा, हाय-हाय, अहह, वाह-वाह इत्यादि', परन्तु यह सिद्धान्त भी अशुद्ध है। गूँगे मनुष्य को कभी किसी ने हाय-हाय, अहह, हा-हा, वाह-वाह इत्यादि करते नहीं सुना। गूँगे अप्राप्त नहीं हैं। आप उनसे 'ह' और 'व' के उच्चारण कराकर सुन सकते हैं। जब आप-ही-आप उद्गारात्मक 'ह', 'व' आदि वर्ण नहीं निकल सकते तब फिर प्रश्न होता है कि ये उद्गार मनुष्य के मुख से कैसे निकले। आप पृष्ठ १९४ पर कहते हैं कि 'दो दुधमुँहे बच्चे यदि एकान्त में रक्खे जाएँ तो वे कोई-न-कोई टूटी-फूटी भाषा बना लेंगे'। हम कहते हैं कि इस बात में छल भरा हुआ हैं। दो दुधमुँहे बच्चे यदि अकेले छोड़ दिये जाएँ तो वे दो दिन भी जी नहीं सकते। यदि किसी की संरक्षता में छोड़े जाएँ तो वे अपने संरक्षक की भाषा बोलने लगेंगे। यदि ऐसा प्रबन्ध करें कि न तो संरक्षक बोले और न किसी की आवाज़ वहाँ पहुँचे तो निश्चय है कि वे बच्चे कुछ भी न बोल सकेंगे। ऐसा परीक्षण अकबर आदि अनेक राजाओं ने कर लिया है, जिसका फल कुछ भी नहीं हुआ।

प्रो० मैक्समूलर ने इन घटनाओं को 'साइंस ऑफ दि लेंग्वेज' नामक पुस्तक में लिख दिया है, अतएव ऊपर कहे हुए दोनों सिद्धान्तों से भाषा की उत्पत्ति सिद्ध नहीं होती। न तो बाह्य ध्वनियों से वर्ण नक़ल किये जा सकते हैं और न अपने उद्गारों से ही वर्णों की उत्पत्ति हो सकती है, तब ज्ञात नहीं होता कि डॉक्टर साहब विकासक्रम से भाषा की उत्पत्ति कैसे सिद्ध करते हैं। आप इस लचर सिद्धान्त पर कैसे भरोसा करते हैं कि मनुष्य बाहर की ध्वनि की हूबहू नकल तो नहीं कर सकता, परन्तु सुनकर और स्वभाव से वर्णोच्चारण कर सकता है। क्या बोलने के पूर्व उसमें बोलने की शक्ति थी ? यदि कहो हाँ, तो कहना चाहिए कि आप यह कहना चाहते हैं कि मनुष्य के आँख तो थी मगर देखता नहीं था। देखता नहीं था तो आँख के होने का विश्वास आपको कैसे हुआ ? जिस प्रकार यह असम्भव है, उसी प्रकार यह भी असम्भव है कि बोलता नहीं था, परन्तु बोलने की शक्ति थी। इस उलझन को न तो डॉक्टर साहब सुलझा सकते हैं न उनकी यूरोपीय गुरुमण्डली। डॉक्टर साहब ने विकासक्रम से भाषोत्पत्ति की सिद्धि न होते देख, हार मानकर उसमें परमेश्वर को ला जोड़ा है। आप पृष्ठ १८३ पर लिखते हैं कि 'इन युक्तियों के आधार पर भाषा का ईश्वरप्रदत्त होना ऊपर के अर्थ में ठीक नहीं हो सकता। हाँ, एक आशय से भाषा को हम ईश्वरप्रदत्त कह सकते हैं। भाषा केवल मनुष्यों में ही पाई जाती है। ऐसी कोई मनुष्यजाति नहीं है जो कोई-न-कोई भाषा न बोलती हो। साथ ही मनुष्य को छोड़ ऐसा कोई और प्राणी नहीं जिसमें भाषा पाई जाती हो, इसीलिए भाषा को हम मनुष्यजाति का एक सार्वभौम और विशेष लक्षण कह सकते हैं। जिस प्रकार मानवसमाज की सारी-की-सारी सभ्यता की सामग्री, सृष्टि के आदि से ही न होने पर भी, इस आशय से ईश्वरप्रदत्त कही जा सकती है कि उसका सम्पादन मनुष्य ने सृष्टि के आरम्भ से ही बीजरूप से ईश्वरप्रदत्त शक्तियों और योग्यताओं के आधार पर किया है। उदाहरणार्थ लेखनकला या गृहवस्त्रादि निर्माण करने की कलाओं के विषय में यह कोई नहीं कह सकता कि इनको सृष्टि के आरम्भ में ईश्वर ने मनुष्यों को सिख[illegible]ा तो भी इनके विकास का सम्भव ईश्वरप्रदत्त शक्तियों के आधार पर ही हो सका। इसी [illegible] भाषा को भी हम ईश्वरप्रदत्त कह सकते हैं। यह स्पष्ट है कि ऐसा मानने से ईश्वर के [illegible]ई अन्तर न आकर वह ज्यों-का-त्यों बना रहता है।

[illegible]हब! आप भाषा को ईश्वर के साथ न जोड़िए—ईश्वर की छीछालेदर न कीजिए। [illegible]र पहले आप ईश्वर के विषय में पृष्ठ १८५ पर कह आये हैं कि 'इसका उत्तर

यही है कि ईश्वर के सामर्थ्य के नाम पर ही यदि इस बात को सिद्ध किया जाएगा तब तो संसार में कोई भी बात सिद्ध की जा सकती है'। सत्य है! आप तो बिना ईश्वर की सहायता के ही भाषा की उत्पत्ति सिद्ध करें तभी आपकी विशेषता है। जब विकासक्रम में ईश्वर की मान्यता ही नहीं है तब आप इतना कष्ट क्यों करते हैं? आप लोग तो गाड़ी रुकने पर ही ईश्वर की मदद लेते हैं। अभी हाल ही में महाशय गोविन्दप्रसाद द्विवेदी ने 'माधुरी' में भाषा-उत्पत्ति विषय का एक लेख लिखा है। उसमें उन्होंने भी इसी प्रकार ईश्वर को ला घसीटा है। वे 'माधुरी' आषाढ़ शु० सं० ३०४[१] पृष्ठ ७३८ पर लिखते हैं कि 'भाषा की उत्पत्ति के विषय में यह सोचना स्वाभाविक है कि परमात्मा ने ही रचकर हमें भाषा उसी भाँति दी है जैसे जल-वायु आदि, परन्तु वस्तुतः ऐसा नहीं है। पशु-पक्षी शब्दों द्वारा अपने उद्‌गार प्रकट करते होंगे, परन्तु परमात्मा ने मनुष्य को उन्नति करने की बुद्धि प्रदान की है और विभिन्न उच्चारण करने की शक्ति दी है। ये दोनों पशु-पक्षियों में नहीं हैं। इन्हीं दोनों के कारण मनुष्य भाषा-निर्माण में सफल हुआ है। मनुष्यों ने कण्ठ से ओष्ठपर्यन्त अवयवों का उपयोग कर 'अ' से 'म' पर्यन्त शब्दों का उच्चारण किया और इस प्रकार स्वर-व्यंजनों की रचना हुई। साथ ही भाषा का उद्देश्य सुधारने के लिए विवक्षित अर्थों के संकेतस्वरूप कुछ और भी सरल उच्चारण निकाले। ये संकेत आरम्भिक अवस्था में बहुत थोड़े थे, अतः उनका उच्चारण बार-बार होता रहा। भाषाशास्त्र के मत में ये संकेत अस, दा, भू, स्था आदि क्रियाएँ थीं।

इसी प्रकार डॉक्टर मङ्गलदेवीजी पृष्ठ २ पर कहते हैं कि 'भाषा ही मनुष्यजाति के दूसरे प्राणियों से ऊँचे स्थान का चिह्न है। यही उसकी सारी उन्नति का मुख्य साधन है। ठीक अर्थों में समाज का संगठन भाषा के बिना असम्भव है और सामाजिक संगठन पर ही मनुष्यजाति की सारी उन्नति निर्भर है'। आगे पृष्ठ १७३ पर आप ही कहते हैं कि 'सभ्यता की सामग्री का सम्पादन मनुष्य ने आदिसृष्टि से ही बीजरूप से ईश्वरप्रदत्त शक्तियों और योग्यताओं के आधार पर किया है, इसी आशय से हम भाषा को ईश्वरप्रदत्त कह सकते हैं'।

हम पूछते हैं कि परमेश्वर इस झमेले में क्यों पड़ गया? समस्त जीव-जन्तुओं के विकास के समय तो चुपचाप बैठा रहा, परन्तु मनुष्यजाति ज्योंही वानर का रूप बदलकर इस रूप में आई त्योंही वह उन्नति का पहाड़ लेकर क्यों चढ़ बैठा? आप लोग कहते हैं कि ईश्वर को मनुष्य की उन्नति स्वीकार है। उन्नति बिना भाषा के हो नहीं सकती, इसीलिए उसने मनुष्य के मुँह में वर्णोच्चारण की शक्ति दी है। जब ये सब बातें ठीक हैं तब साफ़-साफ़ यह कहने में आप लोगों का कौन-सा सम्मान घटा जाता है कि परमेश्वर ने मनुष्य को उसकी उन्नति के लिए भाषा दी। संसार का कोई पशु-पक्षी अपनी बोली छोड़कर दूसरे की बोली नहीं बोलता तब मनुष्य ही क्यों प्राकृतिक ध्वनियों अथवा पशुओं की बोली बोलने लगा होगा। मैक्समूलर ने ठीक ही कहा है कि मनुष्य की भाषा ध्वनि अथवा पशुओं की बोली से नहीं बनी'। लाक एडम् स्मिथ और ड्यूगल्डस्टुअर्ट आदि कहते हैं कि 'मनुष्य बहुत काल तक गूँगा रहा, वह संकेत और भ्रू-प्रक्षेप से काम चलाता रहा। जब काम न चला तो भाषा बना ली और परस्पर संवाद करके शब्दों के अर्थ नियत कर लिये'। इसका उत्तर देते हुए प्रो० मैक्समूलर ने लिखा है कि 'मैं नहीं समझता कि बिना भाषा के उनमें कैसे संवाद जारी रह सका। क्या अर्थ नियत करने से पूर्व संवाद निरर्थक ही चला आता था। अमुक ध्वनि का अमुक अर्थ नियत करना उस समय कैसे सुलभ हो सकता है

१. मूल पुस्तक में यही पाठ है, परन्तु तब तो यह पत्रिका निकलनी भी आरम्भ नहीं हुई थी। इस पाठ को शुद्ध करने के लिए हमारे पास कोई साधन नहीं है। —जगदीश्वरानन्द

जिस समय उनके पास कोई भी सार्थक ध्वनि उपस्थित नहीं थी ? कैसे एक ने दूसरे से कहा कि रोटी को 'चूँ-चूँ' कहना और समझना चाहिए और कैसे दूसरों ने यह सारा अभिप्राय समझ लिया ? बात तो असल यह है कि न बिना ज्ञान के भाषा बन सके और न बिना भाषा के ज्ञान हो सके। नाम और नामी या रूप और शब्द का घनिष्ठ सम्बन्ध है। इनमें से एक दूसरे को छोड़कर अकेला रह ही नहीं सकता। ऐसी दशा में यही तथ्य उपलब्ध होता है कि आदिम मनुष्य ज्ञान और भाषा के सहित ही पैदा हुए, परन्तु वही प्रश्न यहाँ भी आता है कि जब बिना निमित्त के ज्ञान और भाषा का बोध नहीं होता तब आदि में, जिसके पूर्व कोई ज्ञान और भाषा थी ही नहीं, उस समय मनुष्यों में किस निमित्त से ज्ञान और भाषा का आविर्भाव हुआ ? इसका उत्तर यही है कि आदिज्ञान और आदिभाषा का आविर्भाव परमात्मा की ओर से हुआ। जिस प्रकार हिप्नोटिज्म करनेवाला अपने माध्यम के मुँह से केवल मानसिक प्रेरणा से ऐसी-ऐसी भाषाओं के शब्द बुलवा सकता है, जिनको माध्यम ने पहले कभी नहीं सुना, उसी प्रकार सर्वव्यापक और सर्वशक्तिमान् परमात्मा ने आदि में मूलपुरुषों के हृदयों में ज्ञान और भाषा का प्रकाश किया। आदिसृष्टि में पैदा होनेवाले ईश्वरपुत्र आर्य पूर्ण ज्ञानी आत्मा होते हैं। उनको अपने व्यापकत्व से परमात्मा पूर्व प्राप्तज्ञान और भाषा की याद दिला देता है। इसलिए उनमें ज्ञान और भाषा का प्रकाश हो जाता है। महात्मा सुकरात कहा करते थे कि 'कोई किसी को नया ज्ञान नहीं सिखलाता, प्रत्युत भूले हुए ज्ञान की याद दिलाता है'। सच है जिसमें कभी कोई ज्ञान था ही नहीं उसमें ज्ञान का आविर्भाव किया ही नहीं जा सकता। दीवारों और पत्थर की चट्टानों को किसी ने क्यों ज्ञानी नहीं बना दिया ? जो प्राणी पहले कभी ज्ञानी रह चुके हैं उनको ही ज्ञान दिया जा सकता है, अन्यों को नहीं। इसी सिद्धान्तानुसार परमात्मा ने भी आदिपुरुषों को अपनी व्यापकता और शक्तिमत्ता से ज्ञान और भाषा प्रदत्त की। कोलरिक कहता है कि 'भाषा मनुष्य का एक आत्मिक साधन है'। इस सूत्र की पुष्टि आर०सी० ट्रीनिच डी०डी० ने अपनी पुस्तक 'स्टडी आफ् वर्डस्' में की है कि 'ईश्वर ने मनुष्य को वाणी उसी प्रकार दी है जिस प्रकार बुद्धि दी है, क्योंकि मनुष्य का विचार ही शब्द है जो बाहर प्रकाशित होता है'। इन सबसे आगे बढ़कर प्रो० मैक्समूलर कहते हैं कि 'भिन्न-भिन्न भाषापरिवारों में जो चार-पाँच सौ धातु मूलतत्त्वरूप से शेष रह जाते हैं वे न तो मनोरागव्यञ्जक ध्वनियाँ ही हैं और न केवल अनुकरणात्मक शब्द ही। हम उनको वर्णात्मक शब्दों का साँचा कह सकते हैं। एक मानस विज्ञानी या तत्त्वज्ञानी उनका कैसा ही व्याख्यान करे, परन्तु भाषा के विद्यार्थी के लिए तो ये धातु अन्तिम तत्त्व ही हैं। प्लेटो के साथ हम यह कह सकते हैं कि वे स्वभाव से ही विद्यमान हैं, प्रत्युत इतना हम और जोड़े देते हैं कि स्वभाव से कहने का हमारा आशय ईश्वर की शक्ति से है'। इन सब कोटिक्रमों से स्पष्ट होता है कि भाषा ईश्वरप्रदत्त है, क्रम-क्रम से विकास का फल नहीं।

आदिभाषा का स्वरूप

यह जान लेने पर मनुष्यजाति को आदिमकाल में भाषा आपसे-आप प्राप्त नहीं हुई, प्रत्युत परमात्मा की ओर से उसके हृदय में उसी प्रकार प्रकाशित हुई जिस प्रकार ज्ञान प्रकाशित हुआ, अब आवश्यक प्रतीत होता है कि उस आदिमभाषा का स्वरूप समझ लें। आदिमभाषा के सम्बन्ध में पाश्चात्य सिद्धान्तों का मथितार्थ लेते हुए डॉक्टर मङ्गलदेवजी पृष्ठ ९५ पर लिखते हैं कि 'वस्तुतः नितरां आदिकालीन भाषा के विषय में जो अनेक कल्पनाएँ की गई हैं उनका आधार ठीक-ठीक साक्षी पर नहीं है। यह भी आवश्यक नहीं कि आदिकाल में मुख से निकलनेवाली स्पष्ट तथा अविभक्त शब्दधारा में से जो स्थिर और स्वतन्त्र शब्द कल्पित किये गये वे एकाक्षरात्मक

तथा अयोगात्मक ही थे', अर्थात् आदिमकालीन भाषा का अब पता नहीं लग सकता, किन्तु आदिमकालीन भाषा के प्रकार का पता आप बतलाते हैं कि वह वाक्यमय थी और एकाक्षरात्मक नहीं, प्रत्युत विभक्तियुक्त थी। आप पृष्ठ ५५, ५६ और ५७ पर कहते हैं कि 'भाषा द्वारा प्रकट किये गये इस 'विचार' को ही वाक्य कहा जाता है, इसलिए हमारे चिन्तन का वाक्य से ही आरम्भ होना चाहिए। दूसरे शब्दों में, हमारे चिन्तन की चरमव्यक्ति (या स्वतन्त्र चरमावयव) वाक्य ही हो सकता है। हम वाक्यों में ही सोचते हैं। इसलिए कहा जा सकता है कि भाषा का प्रारम्भ पृथक्-पृथक् रहनेवाले अकेले शब्दों से न होकर वाक्य से ही होता है। वाक्य कितना ही बड़ा हो सकता है। वह एक अक्षर का भी हो सकता है, जैसे 'चल', 'हाँ' और अनेक शब्दों से भी बन सकता है। आवश्यक बात यह है कि उसके द्वारा वक्ता का पूरा अभिप्राय प्रकट होना चाहिए'।

आपके कहने का तात्पर्य यह है कि मनुष्य किसी अभिप्राय से ही बोलता है, इसलिए वह बिना पूरे वाक्य के अपना अभिप्राय प्रकट नहीं कर सकता। वाक्य छोटा हो या बड़ा, परन्तु हो पूरा, जिससे कहनेवाले का तात्पर्य प्रकट हो जाए। बड़े सन्तोष की बात है कि विकासवाद भी भाषा के आदिमरूप को इस प्रकार का मानता है। हम भी तो यही कहते हैं कि मनुष्य ने सर्वप्रथम जिस भाषा का प्रयोग किया वह पूर्णार्थ द्योतक थी। इसके आगे डॉक्टर साहब ने बतलाया है कि आदिमभाषा वाक्यमय थी और आर्यभाषाओं की भाँति विभक्तियुक्त थी। आपकी विचारमाला इस प्रकार है—

'जैसा ऊपर कहा है, चीनीभाषा में प्रकृति-प्रत्यय के भेद का पता ही नहीं। चीनीभाषा का प्रत्येक शब्द एकाक्षर होता है, जिसमें गिने-चुने वर्ण (स्वर और व्यंजन) होते हैं। उन एकाक्षर शब्दों में यह प्रकृति है और यह प्रत्यय, इसका भेद करना असम्भव है[1] (पृष्ठ ७९)। तुर्कीभाषा में जैसा ऊपर कहा है, प्रकृति-प्रत्यय की कल्पना तो अवश्य होती है, परन्तु इनका भेद शब्दों की रचना में बहुत ही स्पष्ट होता है। यही नहीं कि शब्दों में उनकी धातु या प्रकृति भी आपस में एक-दूसरे से और प्रकृति से मिले हुए भी अपने-अपने रूप को स्पष्ट रखते हैं[2] (पृष्ठ ८२), जैसाकि ऊपर कहा है, संस्कृतभाषा में अनेकानेक शब्दसमूह ऐसे मिलते हैं जिनमें एक ही प्रकृति या मौलिक अंश पाया जाता है। अनेक उपसर्गों और प्रत्ययों के कारण ही उन समान प्रकृतिवाले शब्दों के अर्थों में परिवर्तन हो जाता है। ऐसा होते हुए भी प्रकृति और प्रत्यय का भेद प्राय: अस्पष्ट होता है। प्रकृति और प्रत्यय के आपस में अधिक सट जाने से प्राय: करके प्रकृत्यंश भी परिवर्तित हो जाता है[3] (पृष्ठ ८३)। चीनी, तुर्की और संस्कृतभाषाओं की शब्दरचना के उदाहरणों से यह स्पष्ट हो गया होगा कि शब्दरचना (या शब्दाकृति) की दृष्टि से मनुष्य-जाति की भाषाओं को तीन वर्गों में बाँटा जा सकता है। अयोगात्मक, योगात्मक और विभक्तियुक्त—इन नामों से हम उनका निर्देश कर सकते हैं। इन तीनों प्रकार की भाषाओं के आदर्श उदाहरण क्रमश: चीनी, तुर्की और संस्कृतभाषाएँ ही हैं (पृष्ठ ८४)।

कई एक भाषाविज्ञानियों का कहना है कि भाषाओं के उपर्युक्त तीन वर्ग प्रत्येक भाषा के

---

१. 'मु' का अर्थ आँख, ख्याल करना, मुख्य, आवश्यक होता है। परन्तु इस 'मु' में कोई ऐसा परिवर्तन नहीं होता जैसा 'ख्याल करना' से 'ख्याल किया' या 'आवश्यक' से 'आवश्यकता' आदि होते हैं।

२. ev घर evim मेरा घर। ev घर evler अनेक घर।

३. 'वच' धातु से ही 'उवाच', 'ऊचुः' आदि और 'कृ' से 'करोति', 'चकार', 'चक्रुः', 'अकार्षीत्' आदि होते हैं।

क्रमविकास की तीन अवस्थाओं को द्योतित करते हैं। उनका विचार है कि भाषा के विकास में क्रमशः उपर्युक्त तीनों अवस्थाओं का आना आवश्यक है। कम-से-कम प्रत्येक विभक्तियुक्त या सम्मिश्रणात्मक भाषा तीनों अवस्थाओं में गुज़र चुकी है तो भी अभी कुछ ऐसी भाषाएँ हैं जो अभी तक द्वितीय, अर्थात् योगात्मक अवस्था में ही हैं और आगे नहीं बढ़ी हैं। इस सिद्धान्त के अनुसार भाषा की उन्नति का पथ अयोगात्मक—>योगात्मक—>विभक्तियुक्त—इस प्रकार रहा है' (पृष्ठ ९२)। इस मत के विरुद्ध आप पृष्ठ ९४ पर कहते हैं कि 'आधुनिक नये अनुसन्धान से पता लगा है कि आजकल की अयोगात्मक तथा एकाक्षरात्मक चीनीभाषा सदा से इस वर्त्तमान स्वरूप में नहीं रही है। आदिकालीन चीनीभाषा अवश्य ही इससे भिन्न रूप में रही होगी। चीनीभाषा के सैकड़ों शब्द जो अब केवल एक अक्षर के बने हैं, प्रारम्भ में दो या तीन अक्षरों के होते थे। उच्चारणसम्बन्धी परिवर्तन और ह्रास के कारण ही वे अब एक अक्षर के रह गये हैं। इस ह्रास के कारण ही अनेकानेक आधुनिक चीनी शब्दों में परस्पर वर्णकृत भेद न रहने से जो अत्यन्त गड़बड़ होने की सम्भावना थी उसी को दूर करने के लिए शब्दों के उच्चारण में भिन्न-भिन्न स्वर या लहजे के प्रयोग करने का आरम्भ हुआ होगा। चीनीभाषा का सम्बन्ध ऐसे भाषा-परिवार से है जिसमें स्वर या लहजे के प्रयोग की मात्रा शब्दों की एकाक्षरता के परिमाण पर निर्भर होती है'। इस प्रकार से उपर्युक्त तीन वर्गों का खण्डन करके आप दो ही वर्ग मानते हैं और पृष्ठ ९१ पर कहते हैं कि 'ऐसा होने पर भी यह स्मरण रखना चाहिए कि विभक्तियुक्त और योगात्मक भाषाओं में परस्पर इतना भेद नहीं है जितना इन दोनों का अयोगात्मक भाषाओं से। वस्तुतः देखा जाए तो इन दोनों में इतना प्रकार का भेद नहीं है जितना मात्रा का। दोनों की शब्दरचना का मूलसिद्धान्त एक ही है केवल भेद इतना है कि विभक्तियुक्त भाषाओं में प्रकृति-प्रत्यय का परस्पर मेल योगात्मक भाषाओं की अपेक्षा कहीं अधिक गहरा होता है, तो भी, विभक्तियुक्त भाषाओं में यह घनिष्ठ सम्बन्ध सदा नहीं पाया जाता। अनेक शब्दों की रचना इन भाषाओं में भी ऐसी ही विशद होती है जैसी योगात्मक भाषाओं में। इसी कारण से कोई-कोई लोग पिछले वर्गों को एक में मिलाकर सारी भाषाओं को केवल दो ही वर्गों में बाँटते हैं'।

यदि कोई समझता हो कि इथिओपिक विभाग के लोग सर्वप्रथम बन्दर से विकसित हुए हैं, इसलिए उनकी भाषा एकाक्षरात्मक होगी, तो बात सर्वथा उल्टी है। डॉक्टर मंगलदेव लिखते हैं कि 'दक्षिण अफ्रीका की बन्तूभाषा में तो धातुएँ सामान्यतया अनेकाक्षरात्मक ही पाई जाती हैं' (पृष्ठ १५४)। इसी प्रकार आप अमेरिका की भाषा के विषय में लिखते हैं कि 'भाषा की रचना का एक विशेष प्रकार पाया जाता है, जिसको बहुसंश्लेषणात्मक या बहुसम्मिश्रणात्मक कह सकते हैं, इस प्रकार की रचना का विशेष उदाहरण अमेरिका के आदिनिवासी रेड-इण्डियन की भाषाएँ हैं (पृ० ९६), परन्तु भाषाविज्ञानियों की प्रायः यही सम्मति है कि इन भाषाओं में अनेक शब्दों के योग से मिलकर शब्दों के बनाने की मात्रा और भाषाओं से बहुत अधिक होने पर भी इनमें शब्द-रचना का प्रकार बिलकुल नया और अनोखा नहीं है, इसलिए इनका समावेश भिन्न-भिन्न शब्दों को देखकर योगात्मक या विभक्तियुक्त रचना में ही हो सकता है' (पृ० ९७)।

यहाँ तक चीनी, तुर्की, आर्य, इथिओपिक और अमेरिकन भाषाओं को देखा तो पता लगा कि भाषाओं के दो ही भेद हैं, एक विभक्तियुक्त और दूसरी योगात्मक या एकाक्षरात्मक। ऊपर चीनीभाषा का उदाहरण देकर बतला दिया गया है कि वह योगात्मक या विभक्तियुक्त से ही एकाक्षरात्मक हुई है। इस बात का एक प्रत्यक्ष नमूना अंग्रेजी का है। यह आर्य, अर्थात् विभक्तियुक्त भाषा से ही निकली है। इसके विषय में डॉक्टर साहब पृष्ठ ९९ पर कहते हैं कि 'अंग्रेजी का हम

ऊपर उल्लेख कर चुके हैं। इस भाषा में बहुत ही थोड़ी विभक्तियाँ रह गई हैं। यहाँ तक कि नामों या संज्ञावाचक शब्दों के बहुवचन, क्रिया के प्रथमपुरुष एकवचन और भूतकाल को छोड़कर चीनीभाषा की भाँति एकाक्षरात्मक अंग्रेजी लिखी जा सकती है'। इस प्रकार ज्ञात हुआ है कि संसार की समस्त भाषाएँ आदि में वाक्यमय और विभक्तियुक्त थीं। उन्हीं से धीरे-धीरे सब योगात्मक और एकाक्षरात्मक हो गई हैं और हो रही हैं। विभक्तियुक्त भाषा के दो भेद हैं। डॉक्टर साहब पृष्ठ ९८ पर कहते हैं कि 'विभक्तियुक्त भाषाएँ थोड़ी या बहुत संश्लेषणात्मक या विश्लेषणात्मक होती हैं। संश्लेषणात्मक से आशय उन भाषाओं से है जिनमें एक शब्द के द्वारा एक पेचीदा या जटिल या संकीर्ण अर्थ को प्रकट किया जाता है। उनको अभेदात्मक भी कहा जा सकता है। इसके विपरीत विश्लेषणात्मक भाषा वह कहलाती है, जिसमें उसी अर्थ के लिए अनेक शब्द प्रयोग किये जाते हैं। ऐसी भाषा को भेदात्मक भी कहते हैं। उदाहरणार्थ संस्कृत 'भविष्यत्' के स्थान में हिन्दी में 'वह होता' और अंग्रेजी में 'He would have been' कहा जाएगा। इसी प्रकार नीचे के शब्दों में भी विश्लेषणात्मकता पाई जाती है—

संस्कृत	**हिंदी**	**अंग्रेजी**
करोति	वह कर रहा है।	He is doing.
गृहाणाम्	घरों का	Of (the) houses.
जिगमिष्यति	वह जाना चाहता है।	He desires to go.

ग्रीक और लैटिन भाषाओं की रचना में संस्कृत की भाँति संश्लेषणात्मकता अत्यधिक पाई जाती है। अंग्रेजीभाषा विश्लेषणात्मक रचना का अच्छा उदाहरण है। सामान्यतया यह कहा जा सकता है कि भारत—यूरोपीयभाषा परिवार की भाषाएँ धीरे-धीरे संश्लेषाणात्मक से विश्लेषणात्मक होती जाती हैं। इस प्रवृत्ति का उदाहरण भारतवर्ष की आधुनिक भाषाओं में अच्छी प्रकार पाया जाता है। संस्कृत की रचना स्पष्टतया संश्लेषणात्मक है। ....इनमें हिन्दी की रचना सबसे अधिक विश्लेषणात्मक है'[१]।

इसके आगे पृष्ठ ११२-११३ पर आप लिखते हैं कि 'मध्यकालीन भाषा का भी स्वरूप संश्लेषणात्मक ही था तो भी व्याकरण में बहुत कुछ सरलता आ गई थी। प्रातिपदिक और धातुओं के रूपों में बहुत कुछ कमी आ गई थी। बड़ा भारी भेद उच्चारण में आ गया था। व्यञ्जनों के क्लिष्ट संयोगों को या तो सरल संयोगों से बदल दिया गया था, या उनके स्थान में एक व्यञ्जन उच्चारण किया जाने लगा था। उदाहरणार्थ, पाली में 'धर्म' के स्थान में 'धम्म', 'मृत्यु' के स्थान में 'मच्चु', 'भैषज्य' के स्थान में 'भेसज्ज' बोला जाता था। इसी प्रकार 'स्थगयति' के स्थान में 'थकेति', 'कलक्ष्ण' के स्थान में 'सण्ह' और 'पार्ष्णि' के लिए 'पण्हि' बोला जाता था। संयोगों के विरुद्ध प्रवृत्ति, प्राकृतभाषा में तो यहाँ तक बढ़ती गई कि आदि में अनेक व्यञ्जनोंवाले शब्दों में एक-दो व्यंजन भी मुश्किल से ही शेष रहे और प्राय: शब्दों का स्वरूप केवल स्वरमय हो गया। उदाहरणार्थ, यदि=जई (या यदि)। आर्यपुत्र=अज्जपुत्त। सकल=सअल। प्रकाशयति=पआसेइ। आगतम्=आअदं (या आगदं)। आधुनिक भाषाओं में पुरानी संश्लेषणात्मक के स्थान में विश्लेषणात्मकता बहुत कुछ देखी जाती है। व्याकरण, वाक्यविन्यास आदि सब-कुछ सर्वथा बदल गया है'। यहाँ यह बात अच्छी प्रकार स्पष्ट हो गई कि संसार की समस्त

१. मैक्सिकन भाषा में बकरे के लिए kwa-kwauh-tenstsone शब्द है। जिसका अर्थ है सिर-वृक्ष (=सींग) ओष्ठ-बाल (=दाढ़ी), अर्थात् सींगवाला और दाढ़ीवाला। यह संश्लेषाणत्मक भाषा है। 'मैं रोटी अपने पुत्र को देता हूँ' इसके स्थान में वे कहेंगे 'मैं—उसे—उसको देता हूँ, रोटी अपने पुत्र को'।

षा के विकास में
क विभक्तियुक्त या
सी भाषाएँ हैं जो
। इस सिद्धान्त के
इस प्रकार रहा है'
ये अनुसन्धान से
ा से इस वर्त्तमान
त्र में रही होगी।
या तीन अक्षरों के
क रह गये हैं। इस
द न रहने से जो
च्चारण में भिन्न-
बन्ध ऐसे भाषा-
के परिमाण पर
र्ग मानते हैं और
वभक्तियुक्त और
त्मक भाषाओं से।
। का। दोनों की
ाओं में प्रकृति-
ोता है, तो भी,
दों की रचना इन
ण से कोई-कोई
ं बाँटते हैं'।
विकसित हुए हैं,
लदेव लिखते हैं
ी पाई जाती हैं'
भाषा की रचना
मश्रणात्मक कह
ड-इण्डियन की
षाओं में अनेक
त्मक होने पर भी
समावेश भिन्न-
पृ० ९७)।
ा तो पता लगा
क्षरात्मक। ऊपर
क्तियुक्त से ही
र्थात् विभक्तियुक्त
अंग्रेजी का हम

ऊपर उल्लेख कर चुके हैं। इस भाषा में बहुत ही थोड़ी विभक्तियाँ रह गई हैं। यहाँ तक कि
या संज्ञावाचक शब्दों के बहुवचन, क्रिया के प्रथमपुरुष एकवचन और भूतकाल को छोड़
चीनीभाषा की भाँति एकाक्षरात्मक अंग्रेजी लिखी जा सकती है'। इस प्रकार ज्ञात हुआ है
संसार की समस्त भाषाएँ आदि में वाक्यमय और विभक्तियुक्त थीं। उन्हीं से धीरे-धीरे
योगात्मक और एकाक्षरात्मक हो गई हैं और हो रही हैं। विभक्तियुक्त भाषा के दो भेद हैं। डॉ
साहब पृष्ठ ९८ पर कहते हैं कि 'विभक्तियुक्त भाषाएँ थोड़ी या बहुत संश्लेषणात्मक
विश्लेषणात्मक होती हैं। संश्लेषणात्मक से आशय उन भाषाओं से है जिनमें एक शब्द के
एक पेचीदा या जटिल या संकीर्ण अर्थ को प्रकट किया जाता है। उनको अभेदात्मक भी कहा
सकता है। इसके विपरीत विश्लेषणात्मक भाषा वह कहलाती है, जिसमें उसी अर्थ के
अनेक शब्द प्रयोग किये जाते हैं। ऐसी भाषा को भेदात्मक भी कहते हैं। उदाहरणार्थ संस
'भविष्यत्' के स्थान में हिन्दी में 'वह होता' और अंग्रेजी में 'He would have been' व
जाएगा। इसी प्रकार नीचे के शब्दों में भी विश्लेषणात्मकता पाई जाती है—

संस्कृत	**हिंदी**	**अंग्रेजी**
करोति	वह कर रहा है।	He is doing.
गृहाणाम्	घरों का	Of (the) houses.
जिगमिष्यति	वह जाना चाहता है।	He desires to go.

ग्रीक और लैटिन भाषाओं की रचना में संस्कृत की भाँति संश्लेषणात्मकता अत्यधिक
जाती है। अंग्रेजीभाषा विश्लेषणात्मक रचना का अच्छा उदाहरण है। सामान्यतया यह कहा
सकता है कि भारत—यूरोपीयभाषा परिवार की भाषाएँ धीरे-धीरे संश्लेषाणात्मक से विश्लेषणात्म
होती जाती हैं। इस प्रवृत्ति का उदाहरण भारतवर्ष की आधुनिक भाषाओं में अच्छी प्रकार प
जाता है। संस्कृत की रचना स्पष्टतया संश्लेषणात्मक है। ....इनमें हिन्दी की रचना सब
अधिक विश्लेषणात्मक है'[१]।

इसके आगे पृष्ठ ११२-११३ पर आप लिखते हैं कि 'मध्यकालीन भाषा का भी स्वर
संश्लेषणात्मक ही था तो भी व्याकरण में बहुत कुछ सरलता आ गई थी। प्रातिपदिक अ
धातुओं के रूपों में बहुत कुछ कमी आ गई थी। बड़ा भारी भेद उच्चारण में आ गया थ
व्यञ्जनों के क्लिष्ट संयोगों को या तो सरल संयोगों से बदल दिया गया था, या उनके स्थान
एक व्यञ्जन उच्चारण किया जाने लगा था। उदाहरणार्थ, पाली में 'धर्म' के स्थान में 'धम्म
'मृत्यु' के स्थान में 'मच्चु', 'भैषज्य' के स्थान में 'भेसज्ज' बोला जाता था। इसी प्रकार 'स्थगयति
के स्थान में 'थकेति', 'कलक्ष्ण' के स्थान में 'सण्ह' और 'पार्ष्णि' के लिए 'पण्हि' बोला जा
था। संयोगों के विरुद्ध प्रवृत्ति, प्राकृतभाषा में तो यहाँ तक बढ़ती गई कि आदि में अने
व्यञ्जनोंवाले शब्दों में एक-दो व्यंजन भी मुश्किल से ही शेष रहे और प्राय: शब्दों का स्वरू
केवल स्वरमय हो गया। उदाहरणार्थ, यदि=जई (या यदि)। आर्यपुत्र=अज्जपुत्त। सकल=सअल
प्रकाशयति=पआसेइ। आगतम्=आअदं (या आगदं)। आधुनिक भाषाओं में पुरानी संश्लेषणात्म
के स्थान में विश्लेषणात्मकता बहुत कुछ देखी जाती है। व्याकरण, वाक्यविन्यास आदि सब
कुछ सर्वथा बदल गया है'। यहाँ यह बात अच्छी प्रकार स्पष्ट हो गई कि संसार की समस

१. मैक्सिकन भाषा में बकरे के लिए kwa-kwauh-tenstsone शब्द है। जिसका अर्थ है सिर-वृक्ष (=सींग
ओष्ठ-बाल (=दाढ़ी), अर्थात् सींगवाला और दाढ़ीवाला। यह संश्लेषणात्मक भाषा है। 'मैं रोटी अपने पु
को देता हूँ' इसके स्थान में वे कहेंगे 'मैं—उसे—उसको देता हूँ, रोटी अपने पुत्र को'।

संश्लेषणात्मक, अर्थात् विभक्तियुक्त भाषाएँ विश्लेषणात्मक, अर्थात् एकाक्षरात्मक होती जाती हैं। इसका तात्पर्य यह है कि संश्लेषणात्मक या विभक्तियुक्त भाषाएँ आदिकालीन हैं और विश्लेषणात्मक या एकाक्षरात्मक भाषाएँ उन्हीं आदिमकालीन भाषाओं का विकास हैं—परिवर्तन हैं—अपभ्रंश हैं।

यहाँ तक के वर्णन का निष्कर्ष यह है कि आरम्भ में भाषा वाक्यरूप, विभक्तियुक्त और संश्लेषणात्मक थी। उसी से समस्त विश्लेषणात्मक और एकाक्षरात्मक भाषाओं की उत्पत्ति हुई है और होती जाती है, जैसे—चीनी, अंग्रेजी और हिन्दी आदि। सभी भाषाशास्त्री जानते हैं कि भारत—यूरोपीय और सेमिटिक परिवार की ही भाषाएँ विभक्तियुक्त और संश्लेषणात्मक हैं। विभक्तियुक्त भाषाओं के विषय में पृष्ठ १०० पर डॉक्टर साहब कहते हैं कि 'विभक्तियुक्त भाषावर्ग का सम्बन्ध केवल भारत—यूरोपीय और सेमिटिक इन दो भाषापरिवारों से है'। संसार में शेष जितनी अन्य भाषाएँ हैं सब विश्लेषणात्मक और एकाक्षरात्मक हैं। यह प्रत्यक्ष देखा जाता है कि संश्लेषणात्मक और विभक्तियुक्त भाषाओं से ही विश्लेषणात्मक और एकाक्षरात्मक भाषाओं की उत्पत्ति हुई है। इससे स्पष्ट है कि आदिमकालीन मूलभाषा वही है जो विभक्तियुक्त हो, संश्लेषणात्मक हो और आर्य—यूरोपीय तथा सेमिटिक भाषाओं से सम्बन्ध रखती हो।

आगे हम मूलभाषा की खोज करके स्पष्ट करना चाहते हैं कि आर्य, सेमिटिक और तुरानी भाषाएँ एक ही भाषा की शाखाएँ हैं, किन्तु पहले यह देखना चाहते हैं कि आर्य और सेमिटिक भाषाएँ एक ही हैं या अलग-अलग। डॉक्टर मंगलदेवजी यह मानते हुए भी कि आर्य और सेमिटिक भाषाएँ विभक्तियुक्त संश्लेषणात्मक हैं, सेमिटिक भाषाओं को आर्यभाषाओं से पृथक् मानते हैं, परन्तु हम देखते हैं कि जब आर्य और सेमिटिक भाषाओं का एक ही ढंग है—दोनों की रचना एक ही सिद्धान्त पर है, तब वे एक-दूसरी से पृथक् नहीं हो सकतीं। सभी जानते हैं कि आर्य और सेमिटिक लोग काकेसिक विभाग के हैं, दोनों का रङ्ग-रूप एक है और दोनों एक ही मनु अथवा नूह की सन्तति हैं, इसलिए दोनों की भाषा भी एक ही होनी चाहिए। डॉक्टर साहब पृष्ठ २५३ पर कहते हैं कि 'यह विश्वास से कहा जा सकता है कि उक्त दोनों भाषापरिवार पिछले सहस्रों वर्षों से एक-दूसरे से अत्यन्त भिन्न और पृथक् रहे हैं'। हम कहते हैं कि हज़ारों नहीं बल्कि लाखों वर्षों से दोनों पृथक् हैं, परन्तु इसका तात्पर्य यह तो नहीं है कि दोनों कभी एक थे ही नहीं। हमारा विश्वास है कि अतिप्राचीन काल में दोनों परिवार एक थे। हम आगे दिखलाएँगे कि दोनों का व्याकरण एक ही नियम पर चलता है, दोनों के व्यावहारिक शब्द एक ही समान मिलते हैं और दोनों की प्रकृति एक ही सामान विभक्तियुक्त संश्लेषणात्मक है। ऐसी दशा में दोनों परिवार पृथक् नहीं हो सकते। यही दोनों नहीं प्रत्युत संसार की कोई भी प्राचीन भाषा एक-दूसरी से पृथक् नहीं हो सकती। आदि में जिस प्रकार ज्ञान एक था उसी प्रकार भाषा भी एक थी।

आदिज्ञान और आदिभाषा का एकत्व

एक ही स्थान में पैदा होनेवाले मूलपुरुषों का ज्ञान और भाषा एक ही होनी चाहिए। दल बाँधकर रहनेवाले इस सामाजिक प्राणी—मनुष्य की भाषा यदि एक न होती तो उसका सार्वजनिक प्रयोजन ही सिद्ध न होता। प्रो० मैक्समूलर संसार की समस्त भाषाओं को आर्य, सेमिटिक और तुरानी भाषाओं में विभक्त करते हुए कहते हैं कि 'निस्सन्देह मनुष्य की भाषा एक ही थी। भाषाओं के बिगड़ने का कारण मनुष्य की असावधानी ही है'। इसी प्रकार 'हारमोनिया' भाग ५ पृष्ठ ७३ पर एण्ड्रोजैक्सन डेविस कहता है कि 'भाषा भी, जो एक आन्तरिक और सार्वजनिक साधन है, स्वाभाविक और आदि है। भाषा के मुख्य उद्देश्य में कभी विकास का होना सम्भव

नहीं है, क्योंकि उद्देश्य सर्वदेशी और पूर्ण होते हैं। उनमें किसी प्रकार का भी परिवर्तन नहीं हो सकता। वे सदैव अखण्ड और एकरस रहते हैं'। प्रोफ़ेसर 'पाट' भी कहते हैं कि 'भाषा के वास्तविक स्वरूप में कभी किसी ने परिवर्तन नहीं किया। केवल बाह्यस्वरूप में कुछ परिवर्तन होते रहे हैं, परन्तु किसी भी पिछली जाति ने एक धातु भी नया नहीं बनाया। इस प्रकार से वही शब्द बोले जा रहे हैं जो सर्गारम्भ में मनुष्य के मुँह से निकले थे'।

ज्ञान-अज्ञान का ज्वारभाटा मनुष्यसमाज में सदैव आया ही करता है। जो जातियाँ कभी विद्वान् थीं, आज जंगली दशा में हैं और जो जंगली थीं, वे आज विद्वान् और सभ्य हैं। इस उतार-चढ़ाव और अदला-बदली में एक बात यह बड़ी भयंकर होती है कि पुरानी भाषा, पुराने धर्म और पुराने ज्ञान का रूप बिगड़ जाता है। नमूने के लिए आप 'भूगोल' शब्द को लीजिए। इसके अर्थ और रूप दोनों में विकार हुआ है। भू=पृथिवी और गोल=गोलाई है, अर्थात् पृथिवी की गोलाई का वर्णन इस शब्द का अर्थ है, परन्तु यह शब्द यूरोप में 'ग्लोब' हो गया है। वहाँ इसमें दो बार उलट-पुलट हुई है। यह पहले भूगोल का गोलभू हुआ और फिर गोलबू तथा ग्लोबू होता हुआ ग्लोब हो गया। साथ ही अर्थ भी पलट गया। ग्लोबशब्द गोल भूमि का वाचक होते हुए भी यूरोपवाले हज़ारों वर्ष तक पृथिवी को गोल न समझकर जाने क्या-क्या समझते रहे। यहाँ तक कि गेलेलियो, जिसने पहले-पहल पृथिवी को गोल और घूमनेवाली कहा, मारा गया, किन्तु भारत के विद्वानों के द्वारा अरब होते हुए जब वहाँ यह ज्ञान फिर पहुँचा कि पृथिवी गोल है और घूमती है तब वहाँ भी लोग जानने लगे कि पृथिवी गोल है। यहाँ भी भूगोल शब्द तो विद्यमान है, परन्तु बड़े-बड़े पण्डित भी कहते हैं कि अमुक राक्षस इसको लपेटकर तकिया की जगह रख लेता था, अर्थात् यह चौरस थी। इसी प्रकार वेद में लिखा है कि 'एक वृक्ष पर दो पक्षी बैठे हैं। एक फलों को खाता और सुख-दुःख भोगता है और दूसरा साक्षी होकर देखता है', परन्तु वेदों का यह रूपक बाइबिल में उस कथा की सामग्री बन गया है जिसमें लिखा है कि 'आदम ने जब तक वृक्ष के फल नहीं खाये तब तक होश ठिकाने रहा, किन्तु फलों के खाते ही वह घामड़ बन गया'। ये नमूने बतालाते हैं कि वैदिक ज्ञान, वैदिक धर्म और वैदिक भाषा के असली रूप में अपभ्रष्टता हो गई है। हो जाए पर अवशिष्टाङ्गों से देखना चाहिए कि आदिधर्म, आदिज्ञान और आदिभाषा कौन-सी है?

पुरानी बातें और पुराना ज्ञान या तो कारीगरी के रूप में या भाषाओं के रूप में ही मिलते हैं। उन्हीं से जाना जाता है कि ये अमुक जाति के हैं। कारीगरी के साथ भी यदि कोई लिपि न मिले और वह लिपि पढ़कर समझ न ली जाए तो वह अपना वृत्तान्त नहीं कह सकती। प्राचीन हड्डियाँ और शास्त्रास्त्र भी नहीं कहते कि हम किस जाति के हैं। खोपड़ियों से केवल अनुमान ही लगाये जाते हैं, वे भी अधूरे। यदि प्राचीन खोपड़ियों के अनुसार जीवित मनुष्यों की खोपड़ियाँ मिलान करने को न मिलें तो अनुमान भी न हो सके। कहने का तात्पर्य यह कि प्राचीन बातों का जितना स्पष्ट और सत्य पता भाषा देती है उतना और कोई दूसरा साधन नहीं दे सकता। भाषा में ही धर्म, ज्ञान और अन्य चिह्न नूतनरूप में उपस्थित रहते हैं। मेसोपोटामिया में मिली हुई ईंटों पर यदि मित्र-वरुण आदि नाम न होते तो कैसे कहा जाता कि ये आर्यों की हैं और उस समय भी वैदिक धर्म वहाँ तक फैला हुआ था, इसलिए यहाँ हम आदिभाषा का ही पता लगाते हैं। उसके साथ ही उसमें वर्णित धर्म, ज्ञान और अन्य चिह्नों से पता लग जाएगा कि आदिज्ञान और आदिधर्म भी क्या था।

आदिभाषा का पता लगाने के पूर्व हम देखना चाहते हैं कि संसार में फैली हुई भाषाओं में

एकता है या नहीं और सब भाषाएँ एक ही मूलभाषा से निकली हैं या नहीं ? 'भाषा-विज्ञान' के पृष्ठ १०० पर डॉक्टर मंगलदेव कहते हैं कि 'एक ही भाषा में देखा जाता है कि अयोगात्मक, योगात्मक और विभक्तियुक्त होने के लक्षण पाये जाते हैं'। पृष्ठ १०१ पर फिर कहते हैं कि 'यद्यपि इन भाषाओं का झुकाव विश्लेषणात्मकता की ओर है तो भी कोई ऐसी आधुनिक भाषा नहीं पाई जाती जो संसार में एक ही भाषा ह्रास और विकास के साथ ओत-प्रोत [भरी] है और संश्लेषणात्मकता की ओर से विश्लेषणात्मकता की ओर जा रही है। भाषा की ऐक्यता पर प्रो० मैक्समूलर 'साइन्स ऑफ दि लेंग्वेज' भाग १ पृष्ठ ६६६ पर लिखते हैं कि 'यदि तुम यह कहना चाहते हो कि भाषा के प्रारम्भ अनेक हुए तो तुम्हें यह बात असम्भव सिद्ध करनी चाहिए कि सब शाखाओं का एक ही आदिमूल था। ऐसी असम्भावना कभी सिद्ध नहीं की गई'। दूसरे स्थान में आप फिर कहते हैं कि 'समस्त भाषापरिवार एक ही प्राचीन भाषा की शाखाएँ हैं, अर्थात् आदिमनुष्यों की एक ही भाषा थी'[१]। इस एक ही भाषा की इस समय संसार में तीन शाखाएँ पाई जाती हैं। इन तीनों को आर्य, सेमिटिक और तुरानी विभागों में विभक्त किया गया है, परन्तु प्रो० मैक्समूलर कहते हैं कि 'आर्य और सेमिटिक दोनों एक ही मूलभाषा की दो धाराएँ हैं'[२]। टेलर महोदय कहते हैं कि 'अब तक दोनों शाखाओं के अनेक शब्द एक ही रूप के मिलते हैं'[३]। इसी प्रकार तुरानी शाखा के विषय में भी विद्वानों का यही मत है। तुरानी शाखा समस्त मंगोलियन और इथिओपिक (निग्रो) जातियों में बोली जाती है। इसका फैलाव मद्रास की द्रविड़भाषाओं से लेकर आस्ट्रेलिया की भाषाओं तक है। 'इनसाईक्लोपीडिया ब्रिटानिका' में लिखा है कि 'अनेक शब्द मद्रास और आस्ट्रेलिया में एक ही रूप के बोले जाते हैं'[४]। मद्रासप्रान्त की तेलगू आदि भाषाओं के लिए केम्बेल ने और रायल एशियाटिक सोसाइटी से प्रकाशित होनेवाले जरनल के सम्पादकों ने लिखा है कि 'ये भाषाएँ भी वेदभाषा से ही निकली हैं। इनके सैकड़ों शब्द अब तक एक ही समान पाये जाते हैं'[५]। इस प्रकार समस्त आर्य, सेमिटिक और तुरानी भाषाएँ एक ही भाषा से निकली हुई सिद्ध होती हैं। नीचे हम कुछ ऐसे शब्दों का नमूना दिखलाना चाहते हैं जिनसे ज्ञात हो जाएगा कि संसार की समस्त भाषाओं में एक ही भाषा ओत-प्रोत है और एक ही शब्द आर्य, सेमिटिक और तुरानी भाषाओं में एक ही रूप और अर्थ के साथ

---

१. What are called families of languages are only dialects of an earlier speech.
—*China's Place in Philosophy*

२. This does not, however, exclude the possibility that both (Sanskrit and Semitic) are diverging streams of the same source, and the comparisons that have been instituted between the Semitic roots reduced to their simplest forms and the roots of the Aryan languages have made it more than probable that the material elements with which they both started were originally the same.
—*Lectures on the Science of Language,* Vol. 1, p. 316.

३. Delitzsch goes deeper. He claims to have identified one hundred Semitic roots with Aryan roots.
—*Tailor's Origin of the Aryan*

४. The aboriginal tribes in Southern and Western Australia use almost the same words for I, thou, he, we, you, etc., as the fishermen on the Madras coast and resemble in many ways the Madras hill-tribes, as in the use of their national weapon, the boomerang.
—*Encyclopaedia Britanica,* Vol. III, p. 778, Ninth Edition

५. It has been generally asserted and indeed believed that the Telegu has its origin in the language of the Vedas. —*Cambell's Telegu Grammer,* Introduction, p. XV
But this is admitted on all hands that a very large portion of their (non-Aryan languages) consituent ...ts is of Aryan origin. —*Journal Royal Asiatic Society,* 1870, Vol. I, p.150

प्रस्तुत है—

आर्य	सेमिटिक	तुरानी	अर्थ
संस्कृत—अम्ब	सिरियन—आमो सामोपेडिक—अम्म अरबी—उम्म	द्राविड़ी—अम्मा सिथियन—अम्माल, अम्मेद, मलयाली—अम तूलू—अप्पा चीना—मा	माता
संस्कृत—मेरु जन्द—मौरु ग्रीक—मेरोस	मिश्री—मेरई	तुर्की—मेरुख	हिमालय का मेरु प्रदेश
संस्कृत—द्यौ: अँग्रेज़ी—डे	अरबी—यो:	चीना—तौ: जापानी—दे तिलगू—दिवमु	सूर्य और सूर्यलोक
संस्कृत—ईरा ग्रीक—(Era) एरा लेटिन—(Tera) तेरा जरमन—(Erda) एर्दे प्रा० इंगलिश—(Earthe) इयर्थि न० इंगलिश—(Earth) अर्थ	हिब्रू—एरेछ् अर्बी—अर्ज, जेरत		पृथिवी

इन तीनों शाखाओं का व्याकरण भी एक ही है। आर्य और सेमिटिक भाषाओं में लिङ्ग और वचन तीन-तीन हैं। जिस प्रकार संस्कृत, जेंद और लैटिन आदि प्राचीन भाषाओं में लिङ्ग और वचन तीन-तीन हैं, उसी प्रकार सेमिटिक भाषा अरबी और हिब्रू में भी लिङ्ग और वचन तीन-तीन हैं। अरबी में जब पुल्लिङ्ग का स्त्रीलिङ्ग बनाते हैं तब भी वही संस्कृत का नियम काम में लाया जाता है। जिस प्रकार संस्कृत में राम की रमा और कृष्ण की कृष्णा होती है वैसे ही अरबी में भी साहब की साहिबा, मलक की मलिका और मुकर्रम की मुकर्रिमा होती है। सेमिटिक और आर्यभाषाओं की ही भाँति आर्य और तुरानी व्याकरण में भी समानता मिलती है। तुरानी भेद के अन्तर्गत यूरल, अलताइक, तुंगलिक, मंगोलिक, तुर्की तथा तिलगू आदि हैं। इनमें से एक शाखा 'सामोपेडिक' है जो चीन देशान्तर्गत पैतिसी तथा ओब नदी के किनारे विस्तृत रूप से बोली जाती है। इस भाषा में संस्कृत की भाँति तीन वचन और आठ विभक्तियाँ हैं। इस प्रकार से व्याकरण के ये स्थूल नियम अब तक तीनों विभागों में एकसमान ही पाये जाते हैं जो तीनों की ऐक्यता का सबल प्रमाण हैं, किन्तु प्रश्न यह है कि एक भाषा के भिन्न-भिन्न अनेक रूप होने के कारण क्या हैं?

भाषाओं की भिन्नता के कारण

यह मानी हुई बात है कि एक ही मूलभाषा अनेक कारणों से अनेक शाखाओं में फैलकर अनेक विभागों में बट जाती है। यहाँ हम कुछ उन कारणों का वर्णन करते हैं जिनसे भाषाओं में विभिन्नता उत्पन्न होती है। प्राय: देखा जाता है कि मूर्खों और विद्वानों के उच्चारणों का अन्तर

नवीन भाषा बनाने का कारण होता है। तीर्थयात्री प्रायः एक देश से दूसरे देशों में जाया करते हैं। उनमें विद्वान् और मूर्ख दोनों होते हैं। इसी प्रकार जिन तीर्थों में वे जाते हैं वहाँ भी विद्वान् और मूर्ख दोनों होते हैं। ऐसे स्थानों में इस बात का अच्छा पता मिलता है। यू०पी० के एक मूर्ख साधू ने नासिक के एक महाराष्ट्र पण्डित से कहा कि बच्चा 'दोगधाहार' कराओ। पण्डित घबराया कि यह दो गधों का खानेवाला कहाँ से आ गया। 'दोगधाहार' और 'दुग्धाहार' में अन्तर है, 'सूक्ष्म' और 'छुच्छिम' में जो अन्तर है, 'साङ्गोपाङ्ग' और 'सेंगापोंगा' में जो अन्तर है तथा 'टिकिट' और 'टिकिस' में जो अन्तर है, वही अन्तर मूर्ख और विद्वानों की भाषा में समझना चाहिए। इसी अन्तर से दो भाषाओं का बनना आरम्भ होता है। हमारे एक मित्र अपने लड़के का नाम 'विक्रम' रखना चाहते थे, परन्तु उनके यहाँ मूर्खों में 'विकरमी' शब्द कुकर्मी या अकर्मी अर्थ में प्रचलित है, इसलिए उन्हें वह नाम रखने में संकोच होता था। हमारे यहाँ भी मूर्ख समुदाय में फिजूल को बेफजूल, वाहियात को बेवाहियात और खालिस को निखालिस कहने की चाल है। देहातियों और शहरातियों में, स्त्रियों और पुरुषों में मूर्खता के ही कारण भाषा में अन्तर रहता है। देहात की स्त्रियों की बातचीत शहर में रहनेवाले पुरुष अच्छी प्रकार नहीं समझते। जहाज़ के खलासी और अंग्रेजी फ़ौज के गोरों की अंग्रेजी समझने में महान् कठिनाई होती है, इसका कारण स्पष्ट है कि उनके उच्चारण शुद्ध—स्पष्ट नहीं होते। पुराने जमाने में अपभ्रष्ट उच्चारण को 'म्लेच्छ' उच्चारण कहते थे। अत्यन्त पुराकाल के कई प्रमाण मिलते हैं जिनसे ज्ञात होता है कि मूर्ख असुर आर्यों की भाषा का अशुद्ध उच्चारण करते थे। शतपथब्राह्मण में लिखा है कि '**ते असुरा आत्त वचसो हेऽलवो हेऽलव इति**', अर्थात् असुर लोग हे आर्य! हे आर्य!! के स्थान में हे अलव! हे अलव!! कहते थे। महाभाष्य में भी लिखा है कि 'ते असुरा हेलयो हेलय इति कुर्वन्तः', अर्थात् असुर लोग हेलय! हेलय! कहते हैं। इन अशुद्ध उच्चारण करनेवालों को ही म्लेच्छ कहा जाता था, क्योंकि 'म्लेच्छ अव्यक्ते शब्दे' का यही तात्पर्य है कि जिससे शब्द उच्चारण शुद्ध न हो, वह म्लेच्छ है।

लिपि में अक्षरों की न्यूनता और अधिकता के कारण भी शब्दों का रूप बिगड़ता है। यूनानियों के पास चकार न होने से ही 'चन्द्रगुप्त' का नाम 'सेण्ड्राकोटस' लिखा गया और अरबी में 'चरक' का सरक बनाया गया। 'कोटपाल' का 'कोतवाल' और 'गोप' का 'गोबा' भी अरबी में 'प' अक्षर की कमी से ही हुआ है। इसी प्रकार 'कौपीन' का 'कफ़न' भी पकार के अभाव से ही हुआ है। 'चक्र' का 'चर्ख', 'यक्ष्म' का 'ज़ख्म' आदि भी अशुद्ध उच्चारणों के ही कारण हुए हैं। अमर्यादित उच्चारण भी ध्वनियों में न्यूनता और अधिकता उत्पन्न कर देते हैं। 'श्वशुर' का 'कुसर' और 'खुसर' अमर्यादित बढ़ी हुई ध्वनियों का ही फल है। 'क' के साथ एक अन्य 'क़' की, 'ख' के साथ एक 'ख़' की और ज के साथ 'ज' और ज़ की सृष्टि ने ही ध्वनियों को बढ़ाया है। बढ़ा हुआ हम इसलिए कहते हैं कि जब एक वर्ण के लिए एक ध्वनि विद्यमान थी, तब दूसरी ध्वनि व्यर्थ ही बनाई गई, परन्तु वास्तविक बात तो यह है कि ये बढ़ी हुई ध्वनियाँ भी किन्हीं दूसरे ही अक्षरों के लिए बनाई गई हैं। हम जब 'धनी' को 'ग़नी' होता ह[illegible]ते हैं तब हमें अनुमान करने का सहज रास्ता मिल जाता है कि 'ग' दूसरा 'ग़' नहीं है [illegible] और 'घ' के स्थान में ही प्रयुक्त हुआ है। इसी प्रकार 'ख' 'ख़' का द्वितीय नहीं, [illegible]न' में 'ज़ख्म' की भाँति) 'क्ष' के स्थान में प्रयुक्त हुआ है। हमारा यह अनुमान [illegible]से अच्छी प्रकार पुष्ट हो जाता है। गुजराती और महाराष्ट्र अज़ीजखाँ को हमेशा [illegible]ते हैं। इससे स्पष्ट हो जाता है कि आदि में ज और ज़ के उच्चारण 'झ' के [illegible] विषय का एक बड़ा ही मनोरञ्जक उदाहरण उपस्थित है।

बंगाल के प्रसिद्ध विज्ञानाचार्य सर जगदीशचन्द्र बोस के नाम में जो बोस शब्द है वह संस्कृत के 'वसु' शब्द का अपभ्रंश है। बंगाली लोग 'व' का 'ब' और 'अ' का 'ओ' उच्चारण करते हैं, इसलिए 'वसु' शब्द 'बोस' हुआ। 'बोस' शब्द जब अंग्रेजी में लिखा गया तो गुजरात और महाराष्ट्र में रोज (Rose) की भाँति 'बोज' (Bose) पढ़ा गया। हम लिख चुके हैं कि गुजराती और महाराष्ट्र 'ज़' के उच्चारण को गुजराती और मरहटी में 'झ' लिखते हैं। इसलिए जब उन्होंने 'बोज़' को गुजराती या मरहटी में लिखा तो 'बोझ' बन गया। हम युक्तप्रान्तवालों के लिए यह बोझ ही है, परन्तु वे लोग वसु महाशय को जगदीशचन्द्र बोझ ही लिखते हैं। इस प्रकार देखते-देखते 'वसु' का 'बोझ' बन गया। इस उदाहरण से यह बात स्पष्ट प्रतीत होती है कि 'ज़' का उच्चारण 'झ' के स्थान ही में किया गया है। चीन का 'घोम' शब्द देखकर यह बात और भी स्पष्ट हो जाती है। चीनवालों ने 'होम' शब्द को 'घोम' किया है। इन उदाहरणों से स्पष्ट पाया जाता है कि ये बढ़े हुए उच्चारण भी दूसरे वर्णों के अपभ्रंश ही हैं, स्वतन्त्र वर्ण नहीं। यही अमर्यादित वृद्धि है। इससे भी नवीन शब्दों और नवीन भाषाओं की सृष्टि होती है।

उत्तम व्याकरण के न होने से भी भाषा अस्थिर रहती है और कुछ दिन के बाद उसका और का और रूप हो जाता है। सभी जानते हैं कि भारत की आधुनिक प्रान्तीय भाषाएँ संस्कृत से बिगड़कर बनी हैं, परन्तु संस्कृत का द्विवचन इन भाषाओं में नहीं है। तीन वचनवाली जेंदभाषा से ही फ़ारसी, पश्तो और उर्दू का जन्म हुआ है, परन्तु उनमें भी दो ही वचन हैं। इसी प्रकार लेटिन आदि में भी तीन वचन थे, परन्तु उनसे निकली हुई भाषाओं में तीन वचन नहीं है। हिन्दी से देखते-देखते नपुंसकलिंग उठ गया, यद्यपि संस्कृत में है। इसी प्रकार सैकड़ों बातें हैं जो पहली भाषा की भाँति दूसरी में नहीं हैं। मूर्ख लोगों की भाषा में व्याकरण के उतने नियम नहीं होते जितने पढ़े-लिखे लोगों की भाषा में होते हैं। यही कारण है कि भाषा का रूप और-का-और हो जाता है। यद्यपि और-का-और हो जाता है, परन्तु परिश्रम से पता लगाने पर ज्ञात हो जाता है कि अमुक भाषा अमुक भाषा से निकली है, अथवा अमुक भाषा अमुक शाखा की है, परन्तु कुछ कारण ऐसे भी हैं जिनसे पता ही नहीं लगता कि इस शब्द से अथवा इस भाषा से अमुक शब्द या अमुक भाषा का कोई सम्बन्ध था।

नवीन शब्दों की रचना और कभी-कभी पूरी भाषा की ही रचना कर ली जाती है, जिससे एक भाषा से दूसरी का कुछ वास्ता ही नहीं रहता। आजकल जैसे व्यापारी लोग 'कोड वर्डस्' काम में लाते हैं और जिस प्रकार स्पेरेंटों भाषा नई उत्पन्न की गई है तथा जिस प्रकार सोनारी, सराफी और दलाली भाषाएँ बना ली गई हैं उसी प्रकार प्राचीन समय में भी राजनैतिक गुप्त कामों के लिए नवीन भाषाएँ उत्पन्न कर ली गई थीं। वाल्मीकि रामायण के हनुमान् ने और महाभारत के 'खनक' ने ऐसी ही भाषाओं से काम लिया था। ऐसे शब्द और भाषाएँ जब प्रचलित हो जाती हैं तब उनके शब्द और वाक्य दूसरी भाषाओं में भी घुस जाते हैं, जिनका तुलनात्मक दृष्टि से अनुसन्धान करने में कठिनाई होती है। 'लेडी फिंगर' (भिंडी) और 'सोपनट' (रीठे) को कैसे दूसरी भाषाओं से मिलाया जाए? कैसे चन्द्रकान्ता उपन्यास के 'चोटी-टोटी' वाक्य का क्या अर्थ किया जाए? कुछ भी उपाय नहीं है। मूत्र के लिए 'पेशाब', अर्थात् सामने का पानी जिसने नियत किया है वह बहुत ही जंगली दशा में होगा। उसके पास मूत्र के लिए शब्द नहीं था। अब यदि कोई इस शब्द की तुलना करने के लिए किसी भाषा में कोई शब्द ढूँढे तो नहीं पा सकता। ऐसी दशा में प्रायः लोग कहने लगते हैं कि यह भाषा स्वतन्त्र भाषा है अथवा अमुक शब्द किसी अन्य भाषा का है। सच है, इस प्रकार की भाषाएँ स्वतन्त्र ही हैं और ऐसे शब्द

स्वतन्त्र भाषा के ही हैं। स्वतन्त्र भाषा, भाषा नहीं है वह मनुष्य की कारीगरी है। भाषा तो सदैव परतन्त्र होती है। वह माँ-बाप या बाल-स्नेहियों के अधीन होती है और उन्हीं से मिलती है। वही परतन्त्र भाषा जो वंशपरम्परा से मनुष्यजाति को मिल रही है तुलना में ठीक उतरती है, परन्तु जहाँ राजनैतिक और अन्य काल्पनिक स्वतन्त्र भाषाएँ आ जाती हैं, वहाँ तुलना-शास्त्र की कुछ नहीं चलती।

भाषापार्थक्य का एक साधारण कारण और है। वह है अन्य भाव से अन्य भाव के शब्दों का आयोजन। जैसे संस्कृत में पीले को पीत या पिंगल कहते हैं। अंग्रेजी का पेल (Pale) शब्द इसके साथ तुलना में उतर जाता है। पीला और पेल की तुलना हो जाती है और प्रतीत होता है कि दोनों का परस्पर कुछ सम्बन्ध है, परन्तु फ़ारसी के 'जर्द' शब्द की तुलना 'पीत', 'पीला' या 'पेल' से नहीं की जा सकती। फ़ारसीवालों ने रंग से इस शब्द का अनुवाद नहीं किया है। पीत रंग हरिद्रा (हल्दी) से मिलता है। हरिद्रा का ही जरिद्र=जर्द बनाकर पीत के स्थान में लगा दिया गया है। ऐसे टेढ़े ढंग से जो शब्द बने हैं उनका भी पता नहीं लगता और तुलना नहीं हो सकती।

कभी-कभी कोई प्रचलित शब्द एक शाखा से लुप्त हो जाता है, परन्तु दूसरी शाखा में बना रहता है। भाषाविज्ञानी शब्दों के मिलान के समय जब उसका पता नहीं पाता तब समझता है कि शब्द नवीन है। हम देख रहे हैं कि दो-चार शब्द हमारी ग्रामीण भाषा से जा रहे हैं, जैसे—पहित, पिसान आदि। पिसान के स्थान पर आटा और पहित के स्थान पर दाल का प्राधान्य हो रहा है। कुछ दिन में ये दोनों शब्द हिन्दी से चले जाएँगे। तुलना की दृष्टि से ये उदाहरण बड़े काम के हैं। हमारे कहने का तात्पर्य यह है कि भाषापार्थक्य के यही अथवा इसी प्रकार के अन्य अनेक कारण हैं, परन्तु इन सब कारणों में मुख्य बात उच्चारण वैचित्र्य और नवीन शब्दों का आविष्कार है। मूर्ख मनुष्य उच्चारणों को बिगाड़ते हैं और विद्वान् मनुष्य नवीन शब्दों की सृष्टि करते हैं। इन्हीं दो कारणों से मूलभाषाओं के अनेक भेद होते-होते इतनी दूर निकल जाते हैं कि जिससे ज्ञात ही नहीं होता कि कभी ये विभाग एक थे, किन्तु भाषाशास्त्र के तुलनात्मक सिद्धान्त से पृथक्-पृथक् विभागों के मूल का पता लगा लिया जाता है, जिससे स्पष्ट हो जाता है कि मूलभाषा कौन थी।

मूलभाषा

यह देखा जाता है कि जिस भाषा में अधिक और क्लिष्ट उच्चारण होते हैं उससे जब कोई दूसरी भाषा पृथक् होकर नवीन रूप धारण करती है तब उसके दो रूप होते हैं, एक मूर्खों का दूसरा पढ़े-लिखों का। पढ़े-लिखे उसके समस्त उच्चारणों को स्वीकार करते हैं, परन्तु मूर्ख और असभ्य उसके क्लिष्ट उच्चारणों को छोड़ देते हैं। उनसे क्लिष्ट उच्चारण करते बनता ही नहीं। इससे उनकी भाषा में ध्वनियाँ संकुचित हो जाती हैं और थोड़ी रह जाती हैं, अर्थात् मूर्खों की भाषा में ध्वनियाँ कम और विद्वानों की भाषा में पूरी होती हैं। इन असभ्यों, अर्थात् कम उच्चारणवालों में जब विद्या—सभ्यता—उत्पन्न होती है और विद्वानों की सृष्टि होती है तब इनमें समस्त बातों की वृद्धि होती है—धन-दौलत, बल-बुद्धि, ज्ञान-विज्ञान और राजपाट बढ़ता है, परन्तु उनकी भाषा में उच्चारणों की वृद्धि नहीं होती। शब्दों की तो वृद्धि होती है, कोश बढ़ जाता है, परन्तु ध्वनियों की—उच्चारणों की वृद्धि नहीं होती। यूरोप में ये दोनों नमूने विद्यमान हैं। सभी जानते हैं कि यूरोप की भाषाएँ आर्यभाषाओं से ली गई हैं। जिस समय ये भाषाएँ ली गई थीं उस समय भी आर्यभाषाओं में विस्तृत वर्णमाला थी—विस्तृत उच्चारण थे, परन्तु यूरोपवालों के पूर्वज असभ्य थे और क्लिष्ट उच्चारण नहीं कर सकते थे, इसलिए उनकी भाषा संकुचित हो गई और

ध्वनियाँ कम हो गईं। ४७ ध्वनियों के स्थान में २६ ही ध्वनियाँ रह गईं। आजकल यूरोपवालों ने हर विषय में उन्नति की है, परन्तु उच्चारणों में उन्नति नहीं हुई। वे 'तुम' के स्थान में अब भी 'टुम' ही कहते हैं।

यही हाल यहाँ के मूर्खों में भी देखा जाता है। मूर्ख 'सूक्ष्म' को सदैव 'छुच्छिम' कहते हैं। उनसे 'क्ष' का उच्चारण चला गया है। जो लोग 'वर्षा' को 'बरखा' कहते हैं उनसे भी 'ष' का उच्चारण लुप्त हो गया है। इसी प्रकार 'ज्ञान' को 'ग्यान' कहनेवालों से भी 'ज्ञ' का उच्चारण जाता रहा है। कहने का तात्पर्य यह कि मूर्खता—असभ्यता ध्वनियों को कम तो कर देती है, परन्तु सभ्यता और विद्वत्ता ध्वनियों को बढ़ा नहीं सकती। इससे यह सिद्ध हुआ कि विस्तृत और क्लिष्ट उच्चारण मौलिक हैं और संकुचित तथा सरल उच्चारण अपभ्रंश हैं—परिवर्तन हैं, अर्थात् जिन भाषाओं में अधिक और क्लिष्ट ध्वनियाँ हैं, वे सभ्यों की हैं, प्राचीन हैं और मौलिक (असल) हैं, परन्तु जिन भाषाओं में कम और सरल ध्वनियाँ हैं वे मूर्खों की हैं, नवीन हैं और अपभ्रंश हैं। इस कसौटी से हम देखते हैं कि वैदिक भाषा की वर्णमाला संसार की समस्त भाषाओं से विस्तृत, विज्ञानपूर्ण और क्लिष्ट है, अतः सिद्ध है कि वही प्राचीन है, मौलिक है, ज्ञानियों की है और असल है, शेष समस्त भाषाएँ उसी की बिगड़ी हुई शाखा और प्रशाखा हैं।

वैदिक भाषा ही मूलभाषा है

संसार में जितनी भाषाएँ हैं उन सबसे अधिक विस्तृत, पूर्ण और क्लिष्ट उच्चारण वेदभाषा में ही हैं। यहाँ हम संसार की सभी प्रसिद्ध-प्रसिद्ध भाषाओं की ध्वनियों की संख्या लिखकर दिखलाते हैं, जिससे स्पष्ट हो जाएगा कि सबसे अधिक उच्चारण वेदभाषा में ही हैं। चीनीभाषा में २०४, संस्कृत में ४७, रूसीभाषा में ३५, फारसी में ३१, तुर्की और अरबी में २८, स्पेनिश में २७, अंग्रेज़ी में २६, फ्रेंच में २५, लेटिन और हिब्रू में २० और बाल्टिक में १७ ध्वनियाँ हैं। इन संख्याओं से प्रकट हो रहा है कि वैदिकभाषा की ही वर्णमाला विस्तृत है। यद्यपि देखने में चीनी भाषा की उच्चारण संख्या बड़ी है, परन्तु वह यथार्थ में बड़ी नहीं है। चीनीभाषा में जो २०४ ध्वनियाँ हैं वे थोड़ी-सी ही ध्वनियों का विस्तार हैं। जिस प्रकार हमारा एक 'क' क्, क, का और का३ रूप से चार प्रकार का है इसी प्रकार उनकी भी कुछ ध्वनियाँ अपने अनेक रूपों के कारण २०४ तक पहुँचती हैं। हम यदि इस प्रकार का विस्तार करें तो एक ही वर्ण हल्, ह्रस्व, दीर्घ, प्लुत भेद से चार प्रकार का, उदात्त, अनुदात्त और स्वरित भेद से १२ प्रकार का और अनुनासिक और सानुनासिक भेद से २४ प्रकार का होता है। हमारी वर्णमाला में ४७ ध्वनियाँ हैं। इनको यदि २४ से गुणा करें तो समस्त ध्वनियाँ एक हज़ार से भी अधिक हो जाती हैं। दूसरी भाषाओं की जो ध्वनियाँ लिखी हैं, वे भी एक ही उच्चारण के कई भेदों के साथ लिखी हैं। अँग्रेजी की २६ ध्वनियाँ प्रसिद्ध हैं, परन्तु 'के', 'क्यू' और 'सी' के उच्चारण एक ही हैं। 'जे' और 'जेड' का उच्चारण भी एक ही है। यदि ये अक्षर भी निकाल डाले जाएँ तो वर्ण बहुत ही थोड़े रह जाएँगे। इसी प्रकार फ़ारसी में अलिफ और ऐन; जीम, जाल, जे, जे, ज्वाद, और ज़ोए; सीन, शीन, स्वाद और से आदि उच्चारण एक ही ध्वनि के बोधक हैं। यदि ये सब निकाल डाले जाएँ तो इसमें भी बहुत ही थोड़ी ध्वनियाँ रह जाएँगी। कहने का तात्पर्य यह कि वैदिक वर्णमाला की भाँति संसार की किसी भाषा में विस्तृत वर्णमाला नहीं है। जिस प्रकार संस्कृत की वर्णमाला विस्तृत है, वैसी ही संसार की समस्त ध्वनियों से वह क्लिष्ट भी है। ऋ, ऌ, ष, क्ष, ज्ञ, घ, छ, ढ, ध, भ, ङ, ञ, ण, ळ और ळ्ह आदि ऐसे उच्चारण हैं जो दूसरे देशवालों से कहते ही नहीं बनते। दूसरों को जाने दीजिए, हमारे देश में ही करोड़ों मनुष्य ऐसे हैं जिनसे ङ, त्र, ऋ, ऌ, ज्ञ

के शब्दों को दिखलाते हैं।

संस्कृत	अरबी	अर्थ
हर्म्य	हरम	महल
सुर	हूर	देवता
नरक	नार	नरक
अन्तकाल	इन्तकाल	मरना
कर्त	क़ात	कटना
कीर्तन	किरतैअन	पढ़ना, पाठ करना
गल्भ	बल़ा	प्रगल्भता, बलाग़त
अजहार	इज़हार	कहना, ज़ाहिर [प्रकट] करना
लोहित	लहू	खून
मा	मा	नहीं
ये	य	और, जो
वा	व	और, अथवा
षष्ट्	सित्ता	छह
सप्त	सब्बा	सात
सिंह	हैसिम	शेर
मन्यु	मन्वुअ	गुस्सा करनेवाला
दोहन	दुहन	घी, मक्खन, दुहान
दैत्य	दियत	खून बहानेवाला
सरकत (सृ)	हरकत	सरकना
नः	ना	हम लोग
ख	खला	आकाश
औरस	वारिस	पुत्र
शरद	शिरत	सर्दी
भ्रम	वहम	भ्रम
द्यौः	योः	सूर्य
दिवम्	योम	रोज़, दिन
याम	योम	दिनांश
अम्बा	उम्भ	माता
अप्पा(पा=पिता)	अब्बा	पिता
रीति	तरीक	ढंग
धनी	ग़नी	धनवान्
अर्व	अरबन	घोड़ा

अफ्रीका की स्वाहिलीभाषा

संस्कृत	स्वाहिली	अर्थ
ध्यान	धानी	विचार करना
कर्त	काटा	काटना
मृत्यु	माती	मरना
द्यौ, ज्योति	जुआ	सूर्य
जम्बु	ज़म्बरऊ	जामुन
सिंह	सिम्बा	शेर
गौ	गोम्बे	गाय
गोधूम	गानो	गेहूँ
षष्ट	सीता	छह
सप्त	सबा	सात

सेमिटिक में हिब्रू भाषा भी है। संस्कृत के यहव: शब्द का हिब्रू में 'जिहोबा', अर्ह: का 'यलिह' और आदिम का 'आदम' हो गया है। इसी प्रकार 'इलीविश'[१] का 'इब्लीस' और 'स्तेन' (चोर) का सेतन Satan या शयतान हो गया है। कहने का तात्पर्य यह कि सेमिटिक विभाग भी संस्कृत का अपभ्रंश ही है। इस विभाग में क्लिष्ट उच्चारण सरल और विस्तृत उच्चारण संकुचित हुए हैं, इससे यह बात निर्विवाद हो जाती है कि वह विभाग भी संस्कृत से ही निकला है।

अमेरिकन भाषा

अमेरिका के रेड-इण्डियनों की भाषा का शब्दकोष हमें नहीं मिल सका तथापि कुछ ऐसे शब्द हमें मिले हैं जिनसे आर्यभाषा के शब्दों के साथ पूरी समता होती है। उनकी भाषा में एक 'उनकुलंकुलु' (Unkulunkulu) शब्द है, जिसका अर्थ वंश होता है। प्रो० मैक्समूलर ने इस शब्द की तुलना संस्कृत के 'कुल' के साथ की है, क्योंकि संस्कृत में वंश को कुल भी कहते हैं। इसी प्रकार संस्कृत के कपि और मत्स्यासन शब्दों की तुलना करते हुए 'लीडर' पत्र में एक लेखक ने लिखा है कि अमेरिका का 'कपीरा' प्रदेश बन्दरों के कारण और मत्स्यासन टापू मछलियों के व्यापार के कारण कहलाता है[२]। उनका विचार है कि 'कपीरा' कपि शब्द से और मत्स्यासन मत्स्य और आसन शब्दों से लिया गया है। इस प्रकार हम सुदूर पाताल देश अमेरिका के प्राचीन निवासियों की भाषा में भी वैदिक आर्यों की ही भाषा के बीज देखते हैं।

चीनीभाषा

आर्य, हेमिटिक और सेमिटिक भाषाओं के पश्चात् अब तुरानी भाषाओं का दिग्दर्शन कराना है। चीनी, जापानी, तुर्की, द्रविड़ और आस्ट्रेलिया की भाषाएँ इसी शाखा से सम्बन्ध रखती हैं। ये भाषाएँ आर्यों की भाषा से बहुत पूर्वकाल में ही पृथक् हो गई थीं। इनको मंगोल

---

१. ऋ० १।३३।१२ मे इलीविश वृत्र=मेघ अर्थ में आया है। यह वैदिक अलंकार है जो इंजील और कुरान में गया है। मेघ को भी असुर=राक्षस कहा गया है, वैसे ही इब्लीस भी है।

२. KAPIRA, in America is the name of a region which abounds in monkeys, Matsyasan, similarly, is the name of the port which supplies fish for Maxico. —*'Leader'* 6 April, 1928.

और निग्रोजातियाँ, जो पीले और काले रंग तथा मोटी और चपटी आकृति की हैं, बोलती हैं। इन सबका तुरानी विभाग में समावेश होता है। इनमें से चीनीभाषा के शब्द बहुत ही छोटे आकार के होते हैं। वे संस्कृत की धातुओं की ही भाँति एकाक्षरी या डेढ़ाक्षरी होते हैं, परन्तु स्वरभेद से वही छोटे-छोटे शब्द अपने अनेक रूप बना लेते हैं। चीनीभाषा में कुल २५० ही धातुएँ हैं, परन्तु इतनी ही धातुओं को उदात्त, अनुदात्त, स्वरित, ह्रस्व, दीर्घ, प्लुत और सानुनासिक तथा बंगालियों की भाँति गोल उच्चारणों के द्वारा वे हज़ारों रूपों का बना लेते हैं। चीनीभाषा का एक विद्वान् कहता है कि 'चीनीभाषा के एक मामूली शब्द के बोलने का यत्न कीजिए। जैसे मेज़ के लिए 'टौह' शब्द है। इसको बोलिए। प्रतीत होता है कि इसका उच्चारण बिलकुल सहज है, परन्तु आपने इसके उच्चारण में यदि जरा-सी भी ग़लती की—जरा-सा भी उच्चारण में भेद हुआ कि इस एक ही शब्द के चाकू, गिरना, माँगना, मछली और ढक्कन आदि अनेक अर्थ हो जाएँगे और आपका जो असली अभीष्ट मेज़ से था, वह सिद्ध न होगा'[१]। यहाँ हम नमूने के रूप में चीनीभाषा के कुछ शब्द लिखते हैं।

संस्कृत	चीनी	अर्थ
स्थान	तान	स्थान
श्री	शिर्र	गुरु, आचार्य
ज्योतिस्थान	जितान	सूर्यमन्दिर
जन	जिन	मनुष्य
लिङ्ग	लङ्ग	चिह्न, मनुष्य
अम्बा	मा	माता
डु (कृञ्, लभस्)	डो	कर्तव्य
जनस्थान	जिनतान	पृथिवी
द्युस्थान	टियनतान	स्वर्ग
होम	घोम	होम, हवन, यज्ञ
द्यौ	तौ	प्रकाशवान्, सूर्य

चीनी लोग शब्दों के बिगाड़ने में बड़े ताक हैं। इसका कारण उनका लिपिदोष है। उनके पास ध्वन्यात्मक लिपि नहीं है, प्रत्युत चित्रलिपि है। यही कारण है कि वे शब्द को याथातथ्य नहीं रख सकते। अभी हाल के गये हुए शब्द भी और-के-और हो गये हैं। वक्ष[२] नदी को पोचू या फोचू, मालवा को मोलोपो, नवदेव कुल को 'नेफोटिपो कुलो' और तक्षशिला को 'तक्षशिथिलो' कर डाला गया है। इससे भी प्रकट होता है कि क्लिष्ट उच्चारण सरल किये गये हैं और विस्तृत वर्णमाला संकुचित हो गई है।

जापानीभाषा

कहते हैं कि जापानीभाषा में चीनीभाषा के बहुत-से शब्द हैं। सम्भव है हों, परन्तु हमारे मत से तो चीनीभाषा भी संस्कृत से ही निकली है। जिस प्रकार चीन की भाषा संस्कृत का अपभ्रंश

१. Try to say these simple Chinese words. There is a table '*toh*'. That seems easy. No, you are saying '*to*' a knife. Wrong again. That is '*to*' to fall, oh! when on you say your '*t*' aspirated, to demand. You try again and again and say 'cover', 'peck', 'fish', 'peach' anything but 'table'.
—*Peeps at Many Lands*, China, by Lena E. Johnston

२. रघुवंश में लिखा है कि राजा रघु ने इसी नदी के किनारे पर हूणों को पराजित किया था।

है उसी प्रकार जापानी भाषा भी है। नीचे के शब्दसाम्य से यह बात स्पष्ट हो जाती है।

संस्कृत	**जापानी**	**अर्थ**
का, कः (किं)	का	क्या
द्यौ	दे	सूर्योदय
उक्ष	ओडशी	बैल
बहुत्व	भोत्तो	बहुत
नित्यनित्य	नीची नीची	नित्यनित्य
शिष्य	शोसेइ	शिष्य
कनक	किनका	सोना
केश	के	बाल
अहिफेन	आहेन	अफ़ीम
सो	सोरे	वह
मार्ग	माच	राह
ध्यान	गेन	ध्यान
यम	इम्मा	यम

उपर्युक्त शब्दसाम्य से दिखलाई पड़ रहा है कि जापानीभाषा भी क्लिष्ट उच्चारणों से हटकर सरल उच्चारणों की ओर दौड़ रही है और विस्तृत वर्णमाला से संकुचित वर्णमाला की ओर जा रही है। चीनियों की भाँति जापानियों ने भी नवीन गये हुए शब्दों को बुरी तरह बिगाड़ा है। उन्होंने 'लेमोनेड' को 'रामुने', 'ह्विस्की' को 'बुसुकी', 'ब्राण्डी' को 'बूरान्दी' और लैम्प को 'रामपु' कर डाला है। इनमें भी वही नियम देखा जाता है—क्लिष्ट उच्चारण सरल और विस्तृत वर्णमाला संकुचित हो रही है।

द्रविड़भाषा

विद्वानों का मत है कि द्रविड़भाषाओं का सम्बन्ध कोल, भील, संथालों से लेकर लंका, मडगास्कर, द्वीपसमुदाय, अफ्रीका और आस्ट्रेलिया तक है। यह तुरानी भाषा की सबसे बड़ी शाखा है। नीचे हम उसके भी कुछ शब्दों का नमूना दिखलाते हैं, परन्तु पाश्चात्य विद्वानों के एक आक्षेप का उत्तर भी देना चाहते हैं। वे कहते हैं कि द्रविड़ लोग ही इस देश के मूलनिवासी हैं, आर्यलोग पीछे से आये, परन्तु हम देखते हैं कि 'चन्दन' और 'कपूर' दोनों पदार्थ मद्रास इलाके में ही पैदा होते हुए भी इन दोनों पदार्थों का नाम द्रविड़ों की भाषा में नहीं है। वे चन्दन को 'मञ्छीगन्धम्' कहते हैं। मञ्छी, मंजु शब्द का और गन्धम् सुगन्ध का अनुवाद है, अर्थात् चन्दन का नाम अच्छी सुगन्ध रक्खा गया है, इसी प्रकार कर्पूर को 'करप्पू' कहते हैं, जो कर्पूर का अपभ्रंश है। हम देखते हैं कि चन्दन और कर्पूर दोनों शब्द आर्यों की तीनों शाखाओं में विद्यमान हैं। चन्दन को संस्कृत में चन्दन, फ़ारसी में सन्दल और अंग्रेजी में सेंडल कहते हैं। इससे ज्ञात होता है कि द्रविड़ों से पहले आर्यों को ये पदार्थ ज्ञात थे, उनके नाम ज्ञात थे और उन्हीं नामों की ही द्रविड़ों ने नक़ल की है, अतः सिद्ध है कि आर्य द्रविड़ों से पूर्व मद्रास में भी निवास करते थे। तृतीय खण्ड में द्रविड़ों की उत्पत्ति विस्तृतरूप से बतलाई जाएगी कि वे भी आर्यों की ही सन्तति हैं। उनकी भाषा में अब तक संस्कृत के अपभ्रष्ट रूपों का बाहुल्य पाया जाता है, जिनके कुछ नमूने नीचे दिये जाते हैं।

संस्कृत	द्राविड़ी (तिलगू)	अर्थ
अन्य	अन्नि	दूसरे, और, सब
मनुष्य	मनजुड्डु	आदमी
तालु	तला	शिर, मस्तिष्क
इह	ई	यहाँ
रे!	ओरि!	हे (सम्बोधन)
मंजु	मंछि	अच्छा, उत्तम
अम्बुद	मब्बु	मेघ
नीर	नीलु	पानी
पत्नी	पेंडली	स्त्री
गौ	औ	गाय
मेष	मेक	बकरा, भेड़
उष्ट्र(ऊँट)	वंटे	ऊँट
दैवम्	दय्यमु	भूत-प्रेत
राजा	राजु	राजा
अटवि	अडवि	जंगल
उडुप	ओड	जहाज़
चंडाल	चड्डा	बदमाश
उत्तर	उत्तरउ	हुक्म, जवाब
शर्दी	छल्लि	सरदी
मूक	मूगा	गूँगा
काक	काकि	कौवा
समुद्र	सन्दरमु	समुद्र
चन्द्र, इन्दु	त्सन्दुरुन्दु	चन्द्रमा
वन	वनमु	जंगल
द्यौ	दिवमु	सूर्य

यहाँ तक हमने तुरानी भाषा के शब्दसाम्य और सरल तथा संकुचित उच्चारणों को देखा तो ज्ञात हुआ कि इसमें भी ध्वनियों की कमी हुई है और क्लिष्टता सरलता में बदल गई है। इससे यह शाखा भी संस्कृत का अपभ्रंश ही प्रतीत होती है। इस प्रकार से हमने आर्य, हेमिटिक, सेमिटिक, तुरानी और अमेरिका की अलग-अलग बारह भाषाओं के शब्दसाम्य से देखा तो सबमें उच्चारणों की सरलता और ध्वनियों का संकोच ही पाया। इसके विरुद्ध संस्कृत में ध्वनियों की बहुलता और क्लिष्टता मिली, जिससे सहज ही यह बात प्रमाणित हो गई कि संस्कृतभाषा मूलभाषा है—असल है और अन्य भाषाएँ उसी का अपभ्रष्ट रूप हैं—परिवर्तन हैं। संस्कृतभाषा का सीधा निकास वैदिक भाषा से है ही, इसलिए वेदभाषा ही समस्त भाषाओं की जननी प्रमाणित हुई, परन्तु प्रश्न उपस्थित होता है कि क्यों संसार की समस्त भाषाएँ परिवर्तित हो गई और क्यों वेदभाषा ज्यों-की-त्यों बनी हुई है। आगे हम भाषाओं की परिवर्तनशीलता के कुछ कारणों का दिग्दर्शन कराकर दिखलाएँगे कि वेदभाषा क्यों अब तक ज्यों-की-त्यों बनी हुई है।

वैदिक भाषा की अपरिवर्तनशीलता

पिछले बृहत् शब्दसाम्यकोष से यह बात अच्छी प्रकार स्पष्ट हो गई है कि संसार की समस्त भाषाओं का परस्पर उसी प्रकार का सम्बन्ध है जिस प्रकार माता, पुत्री और बहिनों का होता है। समस्त भाषाओं के शब्दों के अनुशीलन और सूक्ष्म अवलोकन से ज्ञात होता है कि नवीन भाषाएँ विस्तृत वर्णमाला से संकुचित वर्णमाला की ओर और क्लिष्ट उच्चारणों से सरल उच्चारणों की ओर दौड़ रही हैं। संसार की भाषाएँ जिस प्रकार विभक्तियुक्त भाषाओं से एकाक्षरी भाषाओं की ओर और संश्लेषणात्मकता से विश्लेषणात्मकता की ओर जा रही हैं उसी प्रकार क्लिष्ट और विस्तृत उच्चारणों से सरल और संकुचित उच्चारणों की ओर भी जा रही हैं और बदल रही हैं। यह सारा परिवर्तन वैदिक भाषा से—संस्कृतभाषा से ही हुआ है, अतः प्रश्न होता है कि संसार की समस्त भाषाएँ बदल गईं, अपभ्रष्ट हो गईं और अनेक भागों में विभक्त हो गईं, किन्तु वैदिक भाषा अब तक ज्यों-की-त्यों क्यों बनी हुई है ? अन्य भाषाओं के बनने, बिगड़ने और एक शाखा से दूसरी में परिणत होने के अनेक कारण दिखलाये जा चुके हैं, यहाँ केवल इसी बात का स्पष्टीकरण करना है कि वैदिक भाषा आदि से लेकर इस समय तक ज्यों-की-त्यों क्यों बनी हुई है।

वैदिक भाषा के ज्यों-की-त्यों बनी रहने का कारण वैदिक आर्यों की सावधानी है। वैदिक ब्राह्मणों ने बड़े कठिन श्रम से इस भाषा को शुद्धरूप में बनाये रक्खा है। आदिकाल से आजपर्यन्त उन्हीं की कृपा से यह भाषा ज्यों-की-त्यों बनी हुई है। वेद की जितनी संहिताएँ इस समय तक छपी हुई मिलती हैं उनमें एक भी ऐसी नहीं है जिसमें कुछ-न-कुछ अशुद्धि न हो, परन्तु वेदपाठी ब्राह्मणों के स्मरण में छपी हुई संहिताएँ बिलकुल शुद्ध और दोषरहित पाई जाती हैं। इस बात को वैदिक भाषा के प्रकाण्ड विद्यार्थी औंधनिवासी सातवलेकरजी ने पूरा अनुभव प्राप्त करके स्पष्ट शब्दों में लिख दिया है। ब्राह्मणों ने किसी पर दया करने के लिए यह तप नहीं किया, प्रत्युत अपना धर्म समझकर ही ऐसा श्रम किया है, क्योंकि शिक्षाकार कहते हैं कि—

मन्त्रो हीनः स्वरतो वर्णतो वा मिथ्याप्रयुक्तो न तमर्थमाह।
स वाग्वज्रो यजमानं हिनस्ति यथेन्द्रशत्रुः स्वरतोऽपराधात्॥

अर्थात् जो मन्त्रों के स्वरों और वर्णों के उच्चारणों को बिगाड़कर वेदपाठ करता है वह यजमान का नाश करता है।

वेदों के अशुद्ध उच्चारण से यजमान के वध का पाप लगना क्या थोड़े भय की बात है? वैदिकों ने इसी परम्पराप्राप्त पापभय के कारण ही वेदों को सावधानी से याद रक्खा है, अतः जिन वेदों के शुद्ध पाठ करने पर इतना ज़ोर दिया गया है वे न तो कभी अशुद्ध ही हो सकत हैं और न अपभ्रष्ट ही, परन्तु यह बात तभी हो सकती है जब १. वेदों की वर्णमाला पूर्ण हो। २. लिपि वैज्ञानिक हो। ३. उनका व्याकरण ऐसा बना हो कि वह न तो शब्दों को अपभ्रष्ट होने दे, न कभी अर्थ का अनर्थ होने पावे और ४. उनके पाठ करने का ढंग ऐसा हो कि वह शब्दों को कभी अपभ्रष्ट होने ही न दे, अतः हम यहाँ क्रम से विवेचन करके देखना चाहते हैं कि वास्तव में ये बातें वेदों का साथ कहाँ तक देती हैं।

१. वेदों की वर्णमाला पूर्ण है। वह न तो कम है न अधिक, परन्तु संसार की अन्य भाषाओं की वर्णमालाएँ अस्तव्यस्त और अपूर्ण हैं। उनमें आवश्यक वर्णों का अभाव है और अनावश्यक वर्णों का बाहुल्य है। अरबी, फारसी और अंग्रेज़ी आदि की वर्णमालाओं को देखें तो ज्ञात होगा कि उनमें कुछ उच्चारण कम हैं और कुछ उच्चारण अधिक हैं। जो उच्चारण नहीं हैं उनके कारण भाषा और इतिहास में जो हानियाँ हुई हैं वे अकथनीय हैं। यूनान के लेखकों ने 'चन्द्रगुप्त' को

'सैण्ड्राकोटस' और अरबी भाषावालों ने 'चरक' को 'सरक' लिखा है। अंग्रेज़ों के मुँह से तो 'तुम' का 'टुम' प्रतिदिन ही सुनने को मिलता है। ऐसी दशा में ऐतिहासिक हानि के अतिरिक्त भाषासम्बन्धी कितनी हानि हुई है, यह सहज की अनुमान किया जा सकता है। हमने पुराने काग़ज़ों में अहीरों को 'गोबा' लिखा हुआ देखा है और शहर की कोतवाली के अफ़सर को तो कोतवाल कहते ही हैं। दोनों शब्दों को अरबी वर्णमाला की कमी के कारण संस्कृत के रूप को छोड़कर यह रूप धारण करना पड़ा है। अहीरों को संस्कृत के बहुवचन में 'गोपाः' कहा जाता है, परन्तु अरबी के अबजद [वर्णमाला] में 'प' वर्ण नहीं है। 'प' के स्थान में 'ब' का प्रयोग किया गया है, इसी से गोपाः का गोबा हो गया है। इसी प्रकार 'प' और 'ट' न होने से 'कोटपाल' का 'कोतवाल' हो गया है। ऐसे सैकड़ों उदाहरण हैं, जिनसे भाषाओं में गड़बड़ पैदा हो गई है। जिस प्रकार वर्णों की कमी से उपर्युक्त प्रकार की गड़बड़ हुई है उसी प्रकार अपभ्रष्ट भाषाओं के बढ़े हुए उच्चारणों के कारण भी भाषाओं के रूप बिगड़े हैं। इन बढ़े हुए उच्चारणों को देखकर कभी-कभी लोग कहने लगते हैं कि अ, क़, ख़, ग़, ज़, फ़, ब्र, और ह् आदि वर्ण दूसरी भाषाओं में उच्चरित होते हैं, ये संस्कृत की वर्णमाला के द्वारा बोले और लिखे नहीं जा सकते, परन्तु हम कहते हैं कि इतने ही उच्चारण क्यों, मनुष्य के मुँह से निकलनेवाली सीटी, खाँसी और छींक आदि अनेक ध्वनियाँ हैं, जो कहते और लिखते नहीं बन सकतीं। इनके अतिरिक्त कोई-कोई 'स' के स्थान में 'फ़' की भाँति का एक विलक्षण उच्चारण करते हैं, परन्तु वह भी सब लोग बोल नहीं सकते और न लिख ही सकते हैं। इतना ही नहीं किन्तु जितनी पशु पक्षियों और अन्य धातु, काष्ठ आदि की ध्वनियाँ हैं उन सबको न तो मनुष्य बोल ही सकता है और न लिख ही सकता है। हमारा तो विश्वास है कि यदि मनुष्य की भाषा पर कोई वैज्ञानिक नियन्त्रण न किया जाए तो वह इतनी अस्तव्यस्त हो जाए कि एक व्यक्ति दूसरे की ध्वनि ही न समझ सके।

आज यूरोपनिवासियों के मुख से फ़ोनेटिक्स, अर्थात् शास्त्रीय उच्चारण कराने के लिए कितना प्रबन्ध किया जाता है, तब कहीं वर्षों में वैसा उच्चारण हो पाता है, वह भी शुद्ध नहीं। क्या इसका यही कारण नहीं है कि उन्होंने जिन ध्वनियों को बचपन से नहीं सुना, वे ध्वनियाँ वे अपने मुँह से शुद्ध और स्पष्ट निकाल ही नहीं सकते? क्या इस अड़चन के लिए आवश्यक नहीं है कि मनुष्यभाषा की कोई मर्यादा हो? मर्यादा स्थिर करने के लिए वेदों ने मनुष्य के मुख के समस्त स्थानों और प्रयत्नों का वर्गीकरण करके ही वैदिक वर्णमाला की सृष्टि की थी। उनकी इस वर्णमाला में स्वरों के अतिरिक्त पाँच वर्ग हैं। कवर्ग, चवर्ग, टवर्ग, तवर्ग और पवर्ग। इन पाँचों में पाँच-पाँच वर्ण हैं, परन्तु वैदिक आर्यों ने एक-एक वर्ग के पाँच-पाँच वर्णों के अतिरिक्त और भी वर्ण निकालने शुरू किये। उन्होंने क़, ख़, ज़, ड़, ढ़ और फ़ आदि भी निकाले,[1] परन्तु तवर्ग से वे कोई अन्य छठी ध्वनि न निकाल सके, क्योंकि संसार में कोई ऐसी ध्वनि सुनाई न पड़ी जो तवर्ग के अन्दर विकार उत्पन्न करने में समर्थ हो। 'क़' और 'क' के उच्चारण में लोग अन्तर दिखला सकते हैं और 'ज़' और 'ज' में भी अन्तर है, परन्तु 'तो' (ط) और 'ते' (ت) की ध्वनि में क्या कोई अरबी जाननेवाला अन्तर दिखला सकता है? कोई नहीं। इस त्रुटि के मिलते ही वैदिक आर्यों ने विकृत उच्चारणों को छोड़ दिया और सब वर्गों को पाँच-पाँच वर्ण का रक्खा। उनको ज्ञात हो गया कि क़, ख़, ग़, ज़, आदि ध्वनियाँ वेद की अन्य ध्वनियों की अपभ्रष्ट ध्वनियाँ हैं, कोई विशेष वर्ण नहीं, इसलिए उन्होंने उसी नैसर्गिक वर्गीकरण द्वारा वैज्ञानिक आधार से मनुष्यभाषा मर्यादित कर दी, जो वेदों ने निर्धारित की थी। उस वैदिक भाषा में न तो

१. ये आर्यों के ही उच्चारण हैं। ज़ेंद, फ़ारसी, अंग्रेज़ी आदि में ये उच्चारण पाये जाते हैं।

यही है कि ध्वनियाँ कम कर दी जाएँ, अर्थात् ख, ध, च, छ आदि वर्ण उड़ा ही दिये जाएँ और न यही सम्भव है कि ख़, ग़, ज़ आदि विकृत ध्वनियाँ सम्मिलित ही की जाएँ और उन्हीं की वर्णमाला बनाकर मनुष्य की भाषा और उच्चारण नियन्त्रित और मर्यादित किये जाएँ। वही हुआ और आदि से आज तक उसी के अनुसार काम चल रहा है, परन्तु अरबी और फ़ारसी आदि की बात निराली है—इनकी अस्तव्यस्तता प्रसिद्ध है। इनमें 'क' तो है, परन्तु उसके पास ही का दूसरा सरल अक्षर 'ख' न होकर बिलकुल ही अस्वाभाविक 'ख़' अक्षर विद्यमान है। इसी प्रकार 'ग' होते हुए 'ग़' भी लिया गया है, जिसकी आवश्यकता न थी, परन्तु 'घ' जो एक आवश्यक ध्वनि थी वह छोड़ दी गई है। यह अमर्यादित अव्यवस्था है। न तो 'ख' ही छोड़ने योग्य है और न 'ख़' के बढ़ाने की ही आवश्यकता है, क्योंकि 'तवर्ग' ने पाँच-पाँच वर्ण के वर्ग का निश्चय कर दिया है और इन विकृत ध्वनियों का प्रबल खण्डन कर दिया है, इसलिए इन बढ़ी हुई ध्वनियों को मनुष्यों का मर्यादित उच्चारण न समझना चाहिए।

कई वर्ष पूर्व प्रयाग की सरस्वती पत्रिका में बाबू जगन्मोहन वर्मा की एक लेखमाला प्रकाशित हुई थी। यह लेखमाला भारतीय लिपी की उत्पत्ति के विषय में थी। उसमें एक स्थान पर उन्होंने लिखा था कि 'टवर्ग' आर्यों का उच्चारण नहीं है, यह तुरानीभाषाओं का उच्चारण है। आर्यलोग जब बाहर से आकर यहाँ बस गये तब उन्होंने यहाँ के बसे हुए तुरानीभाषा बोलनेवाले मूल निवासियों से ये उच्चारण ले-लिये। इस बात की पुष्टि में उन्होंने तीन प्रमाण दिये हैं—१. आर्यों की किसी भाषा में 'टवर्ग' नहीं है। २. टवर्ग से बननेवाले शब्द और धातुएँ बहुत कम हैं और ३. निरुक्तकार ने स्वीकार किया है कि तवर्ग ही टवर्ग हो गया है। ये प्रमाण बहुत लचर और अर्थहीन हैं, अत: हम इनकी भी आलोचना करना उचित समझते हैं।

पहला आरोप यह है कि आर्यों की किसी भी भाषा में टवर्ग नहीं है। इसके उत्तर में हमारा निवेदन है कि आर्यों की किसी भी भाषा में 'भ' नहीं है तो क्या संस्कृत का भकार कहीं आकाश से आ टपका? यूरोपनिवासी कहते हैं कि उनकी भाषा आर्यभाषा ही है। उनकी भाषा में 'टी' और 'डी' विद्यमान है, तब कैसे कहा जाता है कि टवर्ग आर्यों की भाषा में नहीं है। यद्यपि ज़ेंद, पहलवी और फ़ारसी भाषाओं में टवर्ग नहीं है, परन्तु इसका कारण टवर्ग के उच्चारण का अभाव नहीं है, प्रत्युत यह उनकी लिपि का दोष है। संस्कृत को छोड़कर अन्य समस्त आर्यभाषाएँ सेमिटिक लिपि में लिखी जाती हैं—ज़ेंद, पहलवी और फ़ारसी दाहिनी ओर से बाईं ओर को लिखी जाती हैं। यद्यपि यूरोप की समस्त भाषाएँ रोमनलिपि द्वारा बाईं ओर से दाहिनी ओर को लिखी जाती हैं तथापि रोमन अक्षर सेमिटिक वर्णमाला से ही लिये गये हैं। अबजद से ए बी सी डी, हौवज़ से एच आई जे, कलमन से के एल एम एन, और कुरशत से क्यू आर एस टी लिये गये हैं। इन अक्षरों के कारण ही यूरोप आदि की भाषाओं से अनेक आर्य-उच्चारण नष्ट हो गये हैं तथापि यूरोप की भाषाओं में अब भी ऐसे उच्चारण विद्यमान हैं जिनसे टवर्ग का होना सिद्ध होता है। ज़ेंद और यूरोप की भाषाओं में अब तक बैल को 'उक्ष' और 'ऑक्स' कहते हैं। संस्कृत में भी यह उक्ष ही कहलाता है। ज्ञात हुआ कि अंग्रेज़ी का एक्स (x) 'क्ष' के लिए ही प्रत्युक्त हुआ है। 'क्ष' की रचना 'क' और 'ष' के संयोग से हुई है। 'ष' का उच्चारण 'ऋटुरषाणां मूर्द्धा' के अनुसार टवर्ग के ही स्थान से होता है। जिस भाषा में 'ट' न होगा उसमें 'ष' हो जाएगा, जैसे 'मातुष्टे'। अंग्रेज़ीभाषा में 'ष' को सूचित करनेवाला 'एक्स' और 'ट' को सूचित करानेवाली 'टी' विद्यमान है। इसी प्रकार ज़ेंद में भी 'क्ष' के होने से ज्ञात होता है कि टवर्ग का उच्चारण उसमें भी था।

दूसरा आक्षेप यह है कि टवर्ग से आरम्भ होनेवाले शब्द नहीं है और टवर्ग से बहुत ही थोड़ी धातुएँ बनाई गई हैं। वेदों में टवर्ग ही से नहीं प्रत्युत थ, झ, ञ से भी कोई शब्द आरम्भ नहीं होता तो क्या ये उच्चारण भी आर्यों के नहीं हैं? रही टवर्ग से बननेवाली धातुओं की कमी वह कोई अभाव की दलील नहीं है। टवर्ग कर्णकटु है और संस्कृत का समस्त साहित्य वेदों से लेकर गङ्गाष्टक तक कविता में है, इसलिए उसका प्रयोग बहुत ही कम किया गया है, फिर भी धातु पाठ में टवर्ग से आरम्भ होनेवाली बहुत-सी धातुएँ हैं।

तीसरा आक्षेप यह है कि निरुक्तकार ने 'निघण्टव' को 'निगन्तव' शब्द का पर्याय बतलाया है, अर्थात् यास्काचार्य के मत से 'त' का 'ट' हो गया है। हम पूछते हैं कि 'ट' का 'त' तो इस प्रकार हुआ, परन्तु इसी निघण्टव शब्द में 'घ' का 'ग' कैसे हो गया। यह तो वैदिक व्याकरण का नियम है कि 'त' कारणवश 'ट' हो जाता है, जैसे 'मातुस्ते' के स्थान में 'मातुष्टे'। इस विवेचन से ज्ञात होता है कि टवर्ग को आर्यों ने अनार्यों से नहीं लिया। पाँचों वर्गों के बीच में बैठा हुआ टवर्ग क्या आर्यों के उच्चारण से बाहर का हो सकता है? ऋ, र, ष और क्ष, के साथ टवर्ग उसी प्रकार नत्थी है जैसे शरीर के साथ प्राण, अतएव टवर्ग आर्यों की भाषा से किसी प्रकार पृथक् नहीं हो सकता। इस प्रकार वैदिक भाषा पाँचों वर्ग के पाँच-पाँच वर्णों से मर्यादित और वैज्ञानिक बना दी गई है, इसलिए मर्यादित और वैज्ञानिक वर्णमाला द्वारा संरक्षित भाषा कभी बदल नहीं सकती। परिवर्तन रोकने के लिए भाषा मर्यादित की गई है। यदि मर्यादित न की जाए, मनुष्य के मुख से निकलनेवाले समस्त उच्चारणों में मनमानी फिरने दी जाए और सभी ध्वनियों को स्थिर करने का प्रयत्न किया जाए तो लिपिकला कभी पूर्णता को पहुँच ही नहीं सकती। चीन में भाषा की मर्यादा नहीं है, एक ही शब्द तनिक-से फेरफार के साथ अनेक प्रकार से बोला जाता है। परिणाम यह हुआ कि वहाँ जितने शब्द हैं उतने ही अक्षर बनाने पड़े हैं, इसलिए मनुष्य की भाषा को मर्यादित करने के लिए वैज्ञानिक नींव पर ही सारी वैदिक भाषा का भवन उठाया गया है। वैदिक वर्णमाला पूर्ण है, उसमें न कमी है न अधिकता, अत: ऐसी पूर्ण वर्णमाला से आबद्ध और संगठित वैदिक भाषा का परिवर्तन नहीं हो सकता।

२. जिन मर्यादित उच्चारणों से वेदभाषा बनी है, उन्हीं उच्चारणों के व्यक्त करनेवाले लिपिचिह्नों (अक्षरों) के द्वारा ही वह लिपिबद्ध होती चली आ रही है, इसलिए भी उसमें परिवर्तन नहीं हुआ, क्योंकि वैदिकों के पास लिखने की कला आरम्भ से विद्यमान थी। यदि आर्यब्राह्मणों के पास लिपिकला आदिसमय से न होती तो वे इतने बड़े वैदिक साहित्य का विस्तार न कर सकते। वेदों में लिपि के प्रमाणित करनेवाले इतने प्रमाण हैं कि यदि सब एकत्र किये जाएँ तो एक बहुत बड़ा ग्रन्थ बन जाए। रायबहादुर पं० गौरीशङ्कर हीराचन्द ओझा ने अपने बृहत् ग्रन्थ में वेदों के ही प्रमाणों से सिद्ध कर दिया है कि वैदिक काल में आर्य लिखना जानते थे, उन्होंने लिखना किसी अन्य देश से नहीं सीखा। उनकी लिपि का नाम 'ब्राह्मलिपि' था, परन्तु प्राय: लोग शंका करते हैं कि जब आर्यों में इतने प्राचीन काल से लिखने की विद्या प्रचलित थी तब अत्यन्त पुराने समय का कोई शिलालेख, ताम्रपत्र और सिक्का क्यों नहीं मिलता? इसपर हमारा निवेदन है कि जबसे अनुसन्धान होने लगा है तब से जो कुछ सामग्री प्राप्त हुई है, उससे प्रमाणित होता है कि भारतीय आर्य चौबीस सौ वर्ष पूर्व से लिखना जानते हैं। पचास वर्ष पूर्व केवल अशोकलिपियों के सिवा दूसरी लिपि नहीं प्राप्त हुई थी, किन्तु अब उसके पूर्व के भी कई लेख मिले हैं, जिनसे अनुमान होता है कि आगे चलकर और भी पुराने लेखों के मिलने की आशा है, परन्तु इस आशा में यह दुराशा भरी हुई है कि मिलनेवाले सब लेख पढ़ लिये जाएँगे या नहीं

और वे सब सत्य होंगे या नहीं।

'स्टार' टापू में जो बड़ी-बड़ी मूर्तियों पर आड़ी-टेढ़ी लकीरें लिखी हुई पाई जाती हैं उनको आज तक कोई पढ़ नहीं सका[१]। इसी प्रकार मिस्त्र के भी बहुत-से चित्रलेख पढ़े नहीं जा सकते[२]। ऐसी दशा में यदि कोई अत्यन्त पुराकाल का लेख मिल भी जाए तो वह पढ़ा न जा सकेगा। दूसरी अड़चन शिलालेखों की सचाई की है। पं० गौरीशंकर हीराचन्द ओझा ने कई शिलालेखों को असत्य कहा है। 'भारतीय लिपिमाला' में एक शिलालेख का उल्लेख करके आप कहते हैं कि इस लेख में जो संवत्, मास, तिथि, वार दिया है, वह उस संवत् में था ही नहीं। इसी प्रकार 'राजपूताने का इतिहास' प्रथम खण्ड पृष्ठ ३९७ पर वे लिखते हैं कि "शिलालेखों में मेवाड़ के राजाओं की वंशावली गुहिल (गुहदत्त) से आरम्भ होती है। वि० सं० ११वीं शताब्दी के प्रारम्भ तक के लेखों से ज्ञात होता है कि उस समय तक तो वहाँवालों को उक्त वंशावली का ठीक-ठीक ज्ञान था, परन्तु उसके बाद वि० सं० की १५वीं शताब्दी के अन्त तक के शिलालेखों से पाया जाता है कि उस समय लोग पुराने नाम भूल गये थे, क्योंकि जो नाम स्मरण थे वे ही उस समय के शिलालेखों में समाविष्ट किये गये हैं। वि० सं० १०२८ के शिलालेख में गुहिल के वंश में वप्प (वापा) का होना लिखा है, परन्तु वि० सं० १३३१, १३४२, १४९६ के शिलालेखों से वप्प (वापा) को, जो गुहिल से आठवीं पुश्त में हुआ था, गुहिल का पिता मान लिया। वापा किसी राजा का नाम नहीं, किन्तु उपनाम था और पीछे से तो वे यह भी भूल गये कि किसी राजा का नाम वापा था। राजा कुम्भा बड़ा ही विद्वान् राजा था जिसको अपने कुल की वंशावली की त्रुटि ज्ञात होने से उसने पहले के शिलालेखों का संग्रह कराकर वंशावली को ठीक करने और वापा किसी राजा का उपनाम था यह निश्चय करने का उद्योग कर वि०सं० १५१७ की कुम्भलगढ़ की प्रशस्ति में अपनी शोध के अनुसार वंशावली दी, परन्तु उसमें भी कुछ त्रुटियाँ रह गईं"। इस वर्णन से पता लगता है कि ११वीं शताब्दी से लेकर १५वीं शताब्दी तक के जितने लेख हैं सबमें वंशावली अशुद्ध दी हुई है। ये लेख सत्य नहीं हैं, प्रत्युत भ्रम फैलानेवाले हैं।

जैसे इस प्रकार के शिलालेख असत्य और भ्रम फैलानेवाले हैं उसी प्रकार बहुत-से लेख जान-बूझकर जालसाज़ी के रूप में भी लिखवाये गये हैं, जो इनसे भी अधिक धोखा देनेवाले हैं। सभी जानते हैं कि पुस्तकों में प्रक्षेप हुआ है। इससे यह बात और भी दृढ़ हो जाती है कि जाली लेख जानबूझकर लिखवाये गये हैं। यही नहीं प्रत्युत अन्य देशों में भी इस प्रकार की जालसाजियाँ हुई हैं और हो रही हैं। 'गुजरात' नामक पत्र के भाग तीन, अङ्क सात, पृष्ठ ६०१ पर लिखा है कि 'अल्बेनिया के लोगों का हाल जानने के लिए वहाँ बहुत-से विद्वान् जाया करते थे और पुराने लेखों के लिए रुपया भी देते थे, अत: लेखों को व्यापार की वस्तु बनाकर ठगों ने जाली लेख लिख-लिखकर बेचना शुरू कर दिया'। हमारे देश में भी 'चारयारी' और 'रामलक्ष्मण' की छाप के रुपये बनाकर लोग बेचा करते हैं। इसलिए सभी शिलालेख, ताम्रपत्र आदि विश्वास के योग्य नहीं हैं। ऐसी दशा में जब पुराने लेखों का पढ़ना दुस्साध्य है और उनकी सत्यता में भी सन्देह है तब पुराकालीन लेख हमारे लिए उपयोगी ही होते, इसमें सन्देह है। जो वस्तुएँ अधिक काल

१. स्टार टापू प्रशान्तमहासागर के दक्षिण में स्थित है। इसका आयतन ४५ वर्ग मील है। इसमें बहुत-सी पाषाण की मूर्तियाँ हैं, जिनमें रेखाकार चित्रलिपि लिखी हुई है, परन्तु उसका समग्र वृत्त अज्ञात है।

—मानवेर आदि जन्मभूमि।

२. There has not yet been any authoritative study of the meaning of these earliest inscriptions which are very difficult to understand, owing to the transitory condition of ideographs having not yet yeilded to syllabic usage.

—*Harmsworth History of the World.*

व्यतीत हो जाने पर निरुपयोगी हो सकती हैं और जिनमें असत्यता की भी सम्भावना हो सकती है उनकी सृष्टि करना और संचित करना कोई आवश्यक बात नहीं है। ऐसी दशा में सच्चे और उपयोगितावादी वैदिक आर्यों के यदि कोई प्राचीन लेख नहीं मिलते तो इससे यह सिद्ध नहीं हो सकता कि उन्हें लिखना नहीं आता था। बीस हज़ार से अधिक मन्त्रोंवाला वेदों का बड़ा पुस्तक जिस देश में लाखों वर्ष से प्रचलित है, उस देश के लिए लिखने की विद्या पर बहस करना समय खोना है। वैदिक आर्य वैदिक काल में भी लिखना जानते थे, यह बात वेदों के ही प्रमाणों से अनेक बार सिद्ध हो चुकी है, इसलिए वेदों के साथ लिपि का प्रादुर्भाव होना इस बात की प्रबल दलील है कि जो भाषा वेदों के प्रादुर्भाव के समय जिस प्रकार बोली जाती थी उसका वही उच्चारण आज भी उपस्थित है, क्योंकि लिपि उच्चारण को स्थिर करके भाषा को बहकने से बचाती है। ब्राह्मणों की ब्राह्मीलिपि में समस्त उच्चारणों के लिए पूरे चिह्न पाये जाते हैं, इससे निश्चित होता है कि वेदभाषा उसी प्रकार लिखी गई जिस प्रकार वह बोली जाती थी, इसलिए लिपि की दृष्टि से भी यही सिद्ध होता है कि वेदों का जो उच्चारण आदिकाल में था, वह अब तक बना हुआ है, कुछ भी परिवर्तन नहीं हुआ।

३. जिस प्रकार वैदिक वर्णमाला और ब्राह्मीलिपि ने वेदों की भाषा को परिवर्तित होने से बचाया है, उसी प्रकार वेदों के व्याकरण ने भी उसे ऐसा जकड़ दिया है कि उसमें तनिक-सा भी फेरफार नहीं हो सकता। वेदों का व्याकरण बहुत पुराना है। वह ब्राह्मणकाल के पूर्व उपस्थित था। उसकी चर्चा गोपथब्राह्मण में की गई है। यास्क, पाणिनि और पतञ्जलि ने भी व्याकरण के पूर्वाचार्यों का वर्णन किया है। पाणिनि का धातुपाठ तो कहा ही नहीं जा सकता कि कितना प्राचीन है। हमारा तो यह अनुमान है कि धातुपाठ से पुराना साहित्य इस समय और कोई दूसरा नहीं है। वैदिक व्याकरण अपनी पूरी वर्णमाला, धातुपाठ, प्रत्ययनियम, तीन लिङ्ग, तीन वचन, आठ विभक्ति, दश लकार, सन्धिकौशल और स्वरविज्ञान के लिए जगत्प्रसिद्ध है। इन समस्त प्रक्रियाओं का जब वाक्यों में ठीक-ठीक उपयोग होता है तब वे वाक्य अचल और अटल बन जाते हैं। उन वाक्यों में जो कुछ कहा जाता है, वह जिससे कहा जाता है उसके पास उसी रूप में पहुँचता है, जिस रूप में वह वक्ता के पास था। हज़ारों वर्ष तक उस वाक्य का वही तात्पर्य निकलता रहेगा जो उसके बनने के समय निश्चित हुआ था। इसका कारण यही है कि वह वाक्य अपनी वर्णमाला, स्वर, धातु और अन्य व्याकरण के नियमों में अच्छी प्रकार ग्रथित कर दिया गया है।

व्याकरण की यह विशेषता संसार के अन्य किसी व्याकरण में नहीं है। किसी अंग्रेज़ी पढ़नेवाले से पूछिए कि 'एन' और 'ओ' से 'नो' होता है, परन्तु 'डि' और 'ओ' से 'डो' क्यों नहीं होता तो वह बिचारा कुछ भी उत्तर न दे सकेगा। इसी प्रकार अरबी पढ़नेवाले से पूछिए कि जिस प्रकार 'क़त्ल' से क़ातिल और मक़तूल, 'सब्र' से साबिर और मसबूर बनता है उसी प्रकार ज़ालिम और मज़लूम बनानेवाली धातु 'ज़ल्म' क्यों नहीं? उसे 'ज़ुल्म' क्यों कहा जाता है? इसका भी कोई उत्तर नहीं है। इस गड़बड़ का कारण व्याकरण की अपूर्णता है, परन्तु वेदों के सम्पूर्ण व्याकरण में ऐसी त्रुटियों के लिए बिलकुल स्थान नहीं है। इस पूर्णता की यद्यपि लोग प्रशंसा करते हैं, परन्तु प्रशंसा के साथ शिकायत भी करते हैं। लोगों का कहना है कि इस प्रकार के प्रौढ़ और पूर्ण व्याकरण से भाषा का विकास रुक जाता है। उसमें नवीन शब्दों की सृष्टि नहीं हो सकती, किन्तु हम कहते हैं कि इन बातों में कुछ भी सार नहीं है। ऐसी बातें करनेवाले संस्कृत के इतिहास से परिचित नहीं हैं। वे नहीं जानते कि नवीन शब्दों की रचना करके भाषाविस्तार करना जितना सुगम संस्कृत में है उतना और किसी भाषा में नहीं है। हाँ, यह सुगमता उसी को है जो संस्कृत के धातु और प्रत्ययविज्ञान को जानता है। स्मरण रखना चाहिए कि भिण्डी को

'लेडीफिंगर' और रीठे को 'सोपनट' कह देना जितना सरल है उतना धातुओं के द्वारा शब्द नियत करना सहज नहीं है। धातुओं के द्वारा शब्द नियत करते समय सबसे पहले उस पदार्थ का एक लक्षण करना पड़ता है कि यह लक्षण किस गण, अर्थात् विभाग का है। इसके पश्चात् उस विभाग का लक्षण सूचित करानेवाले धातुओं पर दृष्टि डाली जाती है और जो धातु उस गण के अनुरूप उस पदार्थ के लक्षण से मिलता हुआ लक्षण कहता है उसी में प्रत्यय जोड़कर शब्द बनाया जाता है। इस सारी विधि में पदार्थ का लक्षण करना, गण स्थिर करना, उस योग्य धातु ढूँढना और प्रत्यय लगाना बड़ी प्रतिभावाले का काम है। प्रतिभावान् पण्डित थोड़े विचार से ही इस प्रकार से शब्दबाहुल्य करके भाषा का विस्तार कर सकता है।

प्राचीन आर्यों ने इसी विधि से ज्योतिष, वैद्यक और दर्शन आदि के सैकड़ों शब्दों को बनाकर भाषा का विस्तार किया है। सभी जानते हैं कि आदि में उनके पास वेद के ही शब्द थे, परन्तु उन्होंने वेदशब्दों से ही सब-कुछ नहीं लिखा। तब फिर इतना बड़ा शब्दभण्डार उन्होंने कहाँ से प्राप्त कर लिया ? मानना पड़ेगा कि उन्होंने इसी धातुप्रत्ययविज्ञान से ही अपनी भाषा को इतना विस्तृत किया था। एक ही शब्द को धात्वर्थ के सहारे भिन्न-भिन्न अनेक प्रकरणों में डालकर अनेक अर्थ प्राप्त करना इसी भाषा में है। इस प्रकार का भाषा चमत्कार संसार की किसी भाषा में नहीं है। इसी से कहते हैं कि वैदिक व्याकरण में संकोच का दोष नहीं, प्रत्युत विस्तार का गुण है। वैदिक व्याकरण भाषाविस्तार में सहायक है, बाधक नहीं। रही बात यह कि इस प्रकार का व्याकरण भाषा को स्थिर कर देता है, तो यह इसकी विशेषता है। यदि इसमें यह विशेषता न होती तो आज वेदों की भाषा का क्या रूप होता और उसका अर्थ हो सकता या नहीं, कहा नहीं जा सकता। हम तो इस गुण का स्वागत करते हैं और प्रबलता से कहते हैं कि वेदों का व्याकरण ऐसा पूर्ण है कि जिससे वेदभाषा परिवर्तित नहीं हुई।

वैदिक व्याकरण में महत्त्व की बात स्वरविज्ञान की है। यह कौशल संसार की किसी अन्य भाषा में नहीं है। वेदभाषा स्वरों के द्वारा अर्थ को निश्चित करती है। हमने शिक्षाकार के श्लोक को लिखकर दिखलाया था कि '**यथेन्द्रशत्रुः स्वरतोऽपराधात्**', अर्थात् स्वर के अपराध से जैसे 'इन्द्रशत्रु का अर्थ बदल गया उसी प्रकार स्वरदोष से सर्वत्र ही अर्थ बदल जाता है। इसलिए स्वरों में कभी ग़लती न होनी चाहिए। 'इ॒न्द्र॒श॒त्रु' शब्द में समास है, परन्तु बिना स्वर के ज्ञात नहीं होता कि कौन-सा समास है। 'इ॒न्द्र॒श॒त्रु' पर अन्त्योदात्त स्वर लगाने से षष्ठीतत्पुरुष समास होता है जिसका अर्थ 'इन्द्र का शत्रु' होगा, परन्तु इन्द्रशत्रु आद्युदात्त स्वर लगने से बहुव्रीहि समास होता है, जिसका अर्थ 'इन्द्र है शत्रु जिसका' होगा। इस प्रकार वैदिक व्याकरण जहाँ भाषा के परिवर्तन को रोकता है वहाँ स्वरों के द्वारा अर्थपरिवर्तन को भी रोकता है। यही कारण है कि वेदभाषा अपने व्याकरण आदि से आज तक एक मात्रा के बराबर भी परिवर्तित नहीं हुई।

४. वैदिक भाषा को परिवर्तन से सबसे अधिक बचानेवाली वेदों के पाठ करने की विधि है। वैदिक भाषा को शुद्ध रखने के लिए वेदों के पढ़ने के जो अनेक क्रम बनाये गये हैं, वही उसको ज्यों-का-त्यों बनाये रखने में सबसे अधिक समर्थ हुए हैं। घन, जटा और माला आदि लगाकर वेदपाठ करने से शब्दों में अशुद्धि नहीं हो सकती, न अर्थ करने में ही कठिनाई हो सकती है। हमने एक बार इस विषय की महत्ता का अनुभव किया। बम्बई में आर्यसमाज और सनातनधर्म के बीच मूर्त्तिपूजा का शास्त्रार्थ छिड़ा। आर्यसमाज की ओर से मूर्त्तिपूजा निषेध में '**न तस्य प्रतिमा अस्ति**' यह मन्त्र पेश किया गया और अर्थ किया गया कि उसकी प्रतिमा नहीं है, परन्तु सनातनधर्मियों की ओर से इस वाक्य का इस प्रकार अर्थ किया गया कि '**नतस्य प्रतिमा अस्ति**' अर्थात् नत की प्रतिमा है। आर्यसमाजी कहते थे कि '**तस्य प्रतिमा नास्ति**', अर्थात् उसकी

प्रतिमा नहीं है और सनातन धर्मी कहते थे 'नतस्य—नमनशीलस्य—कोमलस्य परमेश्वरस्य प्रतिमा अस्ति' अर्थात् नत—झुकनेवाले—कोमल परमात्मा की प्रतिमा है। एक पक्ष 'न' और 'तस्य' को अलग-अलग कहता था दूसरा 'नत' और 'स्य' को अलग-अलग कहता था। ऐसी दशा में निर्णय कैसे होता? परन्तु याद आने पर वेदपाठी बुलाये गये और उनसे घन, जटा के क्रम से इस मन्त्र का पाठ करने को कहा गया। उन्होंने न, न, न; तस्य, तस्य, तस्य; न तस्य, न तस्य, न तस्य; पाठ करके दिखलाया कि 'तस्य' से 'न' अलग है। ज्ञात हो गया कि 'न', 'त' के साथ मिला हुआ नहीं प्रत्युत अकेला है और 'स्य' तस्य के साथ लगा हुआ है 'नत' के साथ नहीं। यह तो पाठ का एक ही प्रकार दिखलाया गया पर वेदपाठ के अनेक प्रकार हैं, जिनसे शब्दों को शुद्ध रखने की उत्तम विधि प्राप्त होती है। जिस धर्मग्रन्थ की इस प्रकार रक्षा हो वही अधिक दिन तक रह सकता है और उसी की भाषा आदि से अन्त तक ज्यों-की-त्यों बिना किसी परिवर्तन के रह सकती है। वेद अपनी वर्णमाला, लिपि, व्याकरण और पाठक्रम के कारण अत्यन्त प्राचीन होने पर भी आज वैसे ही पढ़े जाते हैं जैसे वे अपने जन्मकाल में पढ़े जाते थे और उनकी वह भाषा अब तक वैसी ही बनी हुई है जैसी वह अपने जन्मसमय में थी, इसीलिए कहते हैं कि संसार की समस्त भाषाएँ परिवर्तित हो गईं, परन्तु प्रश्न उपस्थित होता है कि क्यों आर्यब्राह्मणों ने इस मूलभाषा को इतने परिश्रम, तप और यत्न से ज्यों-की-त्यों बनाये रक्खा? इसका सरल और सीधा-सादा उत्तर यही है कि वैदिक भाषा आदिभाषा है, ईश्वरप्रदत्त, अर्थात् अपौरुषेय है, इसी से इतने परिश्रम के साथ इसकी रक्षा की गई और वह हर प्रकार के दोषों और परिवर्तनों से बची रही।

वैदिक भाषा की अपौरुषेयता

गत पृष्ठों में हमने यह सिद्ध करने का यत्न किया है कि जिस भाषा की वर्णमाला पूर्ण होती है, अर्थात् जिसमें विस्तृत और क्लिष्ट उच्चारण पूर्णता के साथ वैज्ञानिक क्रम से प्रस्तुत होते हैं, वह भाषा किसी दूसरी भाषा का न तो परिवर्तन या अपभ्रंश ही होती है और न उसे मनुष्य अपनी इच्छा से रच ही सकता है। हम देखते हैं कि वैदिक भाषा की वर्णमाला पूर्ण है, अर्थात् उसमें विस्तृत और क्लिष्ट रचना की वर्णमाला वैज्ञानिक क्रम से प्रस्तुत है, इसलिए वह न तो किसी भाषा का परिवर्तन या अपभ्रंश ही है और न मनुष्य की इच्छानुसार उसकी रचना ही हुई है—वह न तो शब्दानुकृति के सिद्धान्त से ही उत्पन्न हुई है और न उसे उद्‌गारों ने ही उत्पन्न किया है। जो भाषा संसार के किसी साधन के द्वारा उत्पन्न नहीं हुई, जिसमें मनुष्य की कारीगरी का लेश भी नहीं है और जो आदिसृष्टि से आज तक सहस्रों भाषाओं को जन्म देकर भी आप ज्यों-की-त्यों बनी हुई है वह मनुष्यकृत नहीं, प्रत्युत अपौरुषेय और ईश्वरप्रदत्त है। वर्त्तमान भाषाविज्ञान के पण्डितों की खोज के अनुसार भी सिद्ध होता है कि मूलभाषा आर्यभाषा की भाँति वाक्यरूप संश्लेषणात्मक और विभक्तियुक्त थी। आर्यभाषा की भाँति वाक्यरूप, संश्लेषणात्मक, विभक्तियुक्त, परिवर्तनरहित और पूर्ण वर्णमालायुक्त भाषा की रचना बिना परमेश्वरीय प्रेरणा के आप-ही-आप हो ही नहीं सकती। आप-ही-आप भाषा की उत्पत्ति के जितने कोटिक्रम हैं उन सबको हमने गत पृष्ठों में एक-एक करके देख डाला है, परन्तु कोई भी ऐसा प्रकार हस्तगत नहीं हुआ जिसमें परमेश्वर की सहायता न ली गई हो, इसलिए अब यह बात सर्वतन्त्र सिद्धान्त की भाँति स्वीकार कर लेने योग्य है कि आदिभाषा वैदिक भाषा है और वह अपौरुषेय है—ईश्वर-प्रदत्त है।

वैदिक भाषा के अपौरुषेय होने में जिस प्रकार यह प्रबल युक्ति है कि उसकी वर्णमाला अपौरुषेय है उसी प्रकार यह प्रबलतम युक्ति है कि उसकी वर्णमाला का प्रत्येक वर्ण सार्थक है, अर्थात् वर्ण और शब्द के बीच में तथा शब्द और वाक्य के बीच में वैज्ञानिक सम्बन्ध है जो अर्थ

और ध्वनि के साथ कार्य और कारणभाव दर्शाता है। शब्दरूपी अङ्ग में वर्णरूपी अङ्ग उसी प्रकार ग्रथित हैं जिस प्रकार धड़ के साथ सिर और हाथ-पैर। जो भाषाएँ अकस्मात् उद्भूत होती हैं उनमें कारणकार्य का कौशल नहीं होता, परन्तु वेद का प्रत्येक शब्द वर्णानुसार अर्थ रखता है और प्रत्येक वर्ण अपनी बनावट से अर्थ सूचित करता है, इसलिए वैदिक भाषा की रचना ज्ञानपूर्वक है। ऐसी ज्ञानपूर्वक रचना सिवा परमात्मा के और किसी से नहीं हो सकती। आगे हम नमूने के रूप में वैदिक वर्णमाला का वैज्ञानिक अक्षरार्थ दिखलाने का यत्न करते हैं, जिससे सहज ही में ज्ञात हो जाएगा कि वैदिक भाषा अपौरुषेय है।

अक्षरविज्ञान

भाषाविज्ञान की व्याख्या करते समय प्रो० मैक्समूलर ने लिखा है कि 'ध्वनियाँ विचारों को किस प्रकार प्रकट करती हैं? किस प्रकार धातुएँ विचारों को दर्शानेवाली हो गईं? किसी प्रकार 'मा' का अर्थ नापना, 'मन्' का अर्थ विचार करना, 'गा' का अर्थ जाना, 'स्था' का ठहरना, 'सद' का बैठना, 'दा' का देना, 'मर' का मरना, 'चर' का चलना और 'कर' का अर्थ करना हो गया[1]। मैक्समूलर साहब को पता नहीं लगा कि किसी ध्वनि का अमुक अर्थ क्यों होता है। वे नहीं जान सके कि मूलभाषा की धातुओं के अर्थ किस कारणकार्यभाव से निश्चित किये गये हैं। यह सत्य है कि जो भाषाएँ काल्पनिक हैं—जिनको मनुष्यों ने आवश्यकता पड़ने पर गढ़ लिया है, उनका शब्दार्थ-सम्बन्ध किसी वैज्ञानिक कारणकार्यभाव पर स्थित नहीं बतलाया जा सकता, परन्तु जो भाषा अपौरुषेय है—ईश्वरप्रदत्त है उसके लिए इस प्रकार की शंका करना उचित ही है, अनुचित नहीं। फ़ारसी के 'पिदर' शब्द का मूल संस्कृत का 'पितृ' शब्द बतलाया जा सकता है और दलील दी जा सकती है कि 'पितृ' शब्द में 'ऋ' स्वर की क्लिष्टता है, इसलिए 'तृ' का सरल रूप तर=दर होकर 'पिदर' शब्द बन गया है और 'पिता' अर्थ में ही व्यवहृत होता है। इसलिए फ़ारसीवालों पर यह उत्तरदायित्व नहीं है कि वे 'पिदर' शब्द को पिता अर्थ में क्यों लेते हैं, परन्तु संस्कृतवाले कहते हैं कि 'पिदर' शब्द पितृ शब्द का अपभ्रंश है, इसलिए उन्हें ही बतलाना चाहिए कि वे 'पितृ' शब्द को पिता अर्थ में क्यों लेते हैं। इस उलझन पर संस्कृत का पण्डित कह सकता है कि 'पितृ' शब्द 'पा=रक्षणे' धातु से बनता है, इसलिए पिता, राजा, परमेश्वर आदि जितने रक्षा करनेवाले हैं सब पिता कहलाते हैं। उत्तर अच्छा है और समस्त संसार की भाषाओं पर प्रभाव जमानेवाला है, परन्तु प्रो० मैस्कमूलर के शब्दों में पूछा जा सकता है कि 'पा' धातु का अर्थ रक्षा करना ही क्यों होता है, और कुछ क्यों नहीं? इस प्रश्न पर यद्यपि वर्त्तमान पण्डितमण्डली चुप है, किन्तु प्राचीन वैदिक आर्य चुप नहीं थे। उनका विश्वास था कि मौलिक भाषा अपौरुषेय है और उसके कारणरूप धातुओं और वर्णों का अर्थ अवश्य है। इसी विश्वास पर उन्होंने अक्षरार्थ किया है। वे मानते थे कि जिस प्रकार एक-एक परमाणु से पृथिवी बनी है और पृथिवी में वही गुण हैं जो परमाणुओं में हैं, (ऐसा नहीं है कि पृथिवी में कुछ ऐसे भी गुण आ गये हैं, जो परमाणुओं में न हों), ठीक इसी प्रकार यह भाषारूप पृथिवी भी अक्षररूप परमाणुओं से ही बनी है और वही अर्थरूपी गुण रखती है जो उसके अक्षर रखते हैं। अक्षर शब्द के उस टुकड़े को कहते हैं जिसका फिर टुकड़ा न हो सके। मनुष्य की भाषा अर्थों के सहित है, अतः उसके कारणरूप अक्षर भी अखण्ड—टुकड़े भी सार्थक होने चाहिएँ। जिस प्रकार वाक्यों

---

१. How can sound express thought? How did roots become the signs of general ideas? How was the abstract idea of measuring expressed by *ma*, the idea of thinking by *man*? How did *gā* come to mean going, *sthā* standing, *sad* sitting, *dā* giving, *mar* dying, *char* walking and *kar* doing.?

—*Lectures on the Science of the Language*, Vol. I, p. 82 by Maxmuller.

का अर्थ तब समझ में आता है जब उस वाक्य में आये हुए सब शब्दों का अर्थ ज्ञात हो, उसी प्रकार क्या यह सिद्धान्त न होना चाहिए कि शब्दों का अर्थ तभी ठीक-ठीक समझ में आ सकता है जब उन अक्षरों का अर्थ ज्ञात हो जिनसे वे शब्द बने हैं ? विशेषकर जो भाषा परमेश्वरीय और वैज्ञानिक होने का दावा करती है उसके अक्षर तो अवश्य ही सार्थक होने चाहिएँ, परन्तु स्मरण रखना चाहिए कि अक्षरार्थ पर विचार करना बहुत दिन से छूट गया है।

हमारा दृढ़ विश्वास है कि वैदिक काल में वेद के एक-एक अक्षर का अर्थ होता था। यह हमारी ही कल्पना नहीं है प्रत्युत संस्कृतभाषा के महा वैयाकरण पतञ्जलि की भी सम्मति है कि एक-एक वर्ण का अर्थ होता है। वे अपने महाभाष्य में लिखते हैं कि '**अर्थवन्तो वर्णाः। धातुप्रातिपदिकप्रत्ययनिपातानामेकवर्णानामर्थदर्शनात्। धातवा एकवर्णा अर्थवन्तो दृश्यन्ते। प्रातिपदिकान्येकवर्णान्यर्थवन्ति। निपाता एकवर्णा अर्थवन्तः**', अर्थात् वर्ण अर्थवाले हैं। धातु, नाम, प्रत्यय और निपात का प्रत्येक वर्ण अर्थवान् है। इसी प्रकार धातु एक वर्ण का अर्थवान् होता है, नाम अनेक वर्णों के संयोग से अर्थवान् होते हैं और निपात एक वर्ण का अर्थवान् होता है। यह महामुनि पतञ्जलि की भी कल्पना नहीं है, प्रत्युत वेद स्वयं कहते हैं कि—

ऋचो अक्षरे परमे व्योमन् यस्मिन्देवा अधि विश्वे निषेदुः।
यस्तन्नवेद किमृचा करिष्यति य इत्तद्विदुस्त इमे समासते॥ —ऋग्वेद १।१६४।३९

अर्थात् ऋचाएँ परम अविनाशी शब्दमय अक्षर में ठहरी हैं, जिनमें देवता, अर्थात् शब्द के विषय (अर्थ) ठहरे हैं। जो उस अक्षरार्थ को नहीं जानता वह ऋचाओं से क्या लाभ प्राप्त करेगा ?

इसी मन्त्र पर पतञ्जलिमुनि ने कहा है कि—

वर्णज्ञानं वाग्विषयो यत्र च ब्रह्म वर्तते। तदर्थमिष्टबुद्ध्यर्थं लघ्वर्थं चोपदिश्यते।
—महाभाष्य १।१२

अर्थात् वाणी का विषय वर्णज्ञान है, जहाँ ब्रह्म (वेद) विद्यमान है।

इसका तात्पर्य यही है कि बिना अक्षरार्थ के वेद का ज्ञान नहीं हो सकता। निरुक्तकार ने भी कहीं-कहीं इस वैदिक शैली का अनुकरण किया है। वे लिखते हैं कि—

कः कमनीयो भवति सुखो भवति क्रमणीयो वा।
तद्यथा कः कमनो वा क्रमणो वा सुखो वा इति। —निरु० दै० ४।२।२२
गकारमनक्तेर्वा दहतेर्वा। —निरु० दै० १।१४

अर्थात् क, कमनीय, सुख, क्रमणीय आदि अर्थवाला है और ग, दहन आदि अर्थवाला है।

यह शैली उपनिषदों में भी पाई जाती है। छान्दोग्य उपनिषद् में 'सत्य' शब्द के स, त और य अक्षर का अर्थ करते हुए कहा गया है कि—

तानि ह वा एतानि त्रीण्यक्षराणि 'सतियमिति'
तद्यत् सत् तदमृतमथ यत् ति तन्मर्त्यमथ यत् यम् तेनोभे यच्छति।

अर्थात् 'सत्य' शब्द के तीन अक्षरों में से 'स' का अर्थ अमृत, 'त' का अर्थ मर्त्य और 'य' का अर्थ दोनों को नियम में रखनेवाला है।

ब्राह्मणग्रन्थों में इस प्रकार के नमूने बहुत ही विशदरूप से पाये जाते हैं। गोपथब्राह्मण में 'भर्ग' शब्द के लिए लिखा है कि—

भ, इति भासयतीतीमांल्लोकान्।
र, इति रञ्जयतीतीमांल्लोकान्।
ग, इति गमयतीतीमांल्लोकान्, इत भर्गः। —गोपथब्राह्मण

अर्थात् 'भ' से भासित होना, 'र' से रञ्जित होना और 'ग' से गमन करना समझना चाहिए। दूसरे स्थान पर गोपथ २।२।५ में लिखा है कि—

मख इत्येतद् यज्ञनामधेयं छिद्रप्रतिषेधसामर्थ्यात्।
छिद्रं खमित्युक्तं तस्य मेति प्रतिषेधः मा यज्ञे छिद्रं करिष्यतीति।

अर्थात् यज्ञ का नाम मख है। उसमें कोई छिद्र (त्रुटि) न हो, इसलिए उसका नाम मख रक्खा गया है। छिद्र को 'ख' कहते हैं। उसका निषेध करनेवाला 'म' है। यज्ञ में कोई छिद्र (त्रुटि) न होने पाए, इसलिए उसको 'मख' कहते हैं।

इसी प्रकार का अर्थ 'नाक' शब्द का निरुक्त में किया गया है। वहाँ लिखा है कि **'कमिति सुखनाम, तत् प्रतिषिद्धं प्रतिषिध्येत्'** अर्थात् 'क' सुख को कहते हैं। सुख का निषेध करनेवाला 'अ' है और 'अ' का निषेध करनेवाला 'न' है। इस प्रकार नाक नाम सुखस्थान—स्वर्ग का है।

इसी प्रकार समस्त वैदिक और लौकिक साहित्य में प्रत्येक अक्षर का अर्थ प्रचलित है। सभी जानते हैं कि अ—नहीं, आ—अच्छी प्रकार, ई—गति, उ—और, ऋ—गति, ॡ—गति, क—सुख, ख—आकाश, ग—गति, च—पुनः, ज—उत्पन्न होना, झ—नाश, त—पार, थ—ठहरना, दा—देना, धा—धारण करना, न—नहीं, पा—रक्षा करना, भा—प्रकाश करना, मा—नापना, य—जो, रा—देना, ल—लेना, वा—गति, स—साथ और ह—निश्चय अर्थ रखता है।

इन समस्त प्रमाणों से अच्छी प्रकार स्पष्ट प्रकट हो जाता है कि प्राचीन वैदिक ऋषि अक्षरार्थ का ज्ञान रखते थे और उसी शैली से अर्थ करते थे। इस प्रकार के मौलिक अर्थों को ढूँढ निकालने की विधि उन्हें वंशपरम्परा से ज्ञात थी। वे इसे योग के द्वारा सम्पादित करते थे। वे धातुओं में आये हुए वर्णों में संयम करते थे और प्रत्येक वर्ण का अर्थ स्थिर कर लेते थे। पतञ्जलिमुनि ने इस संयम के लिए योगशास्त्र में लिखा है कि—

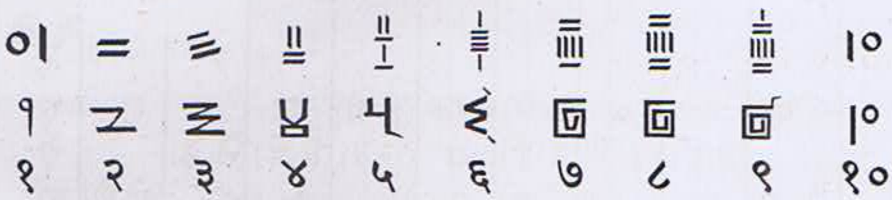
'शब्दार्थप्रत्ययानामितरेतराध्यासात्संकरस्तत्प्रविभागसंयमात्सर्वभूतरुतज्ञानम्'।

अर्थात् शब्द, अर्थ और प्रत्ययों के संयोग-विभागों में संयम करने से समस्त प्राणियों की भाषाओं का ज्ञान हो जाता है।

जिस प्रकार धातु, प्रत्ययों में संयम करने से मनुष्य को भाषा के प्रत्येक वर्ण के अर्थों का बोध होता है उसी प्रकार प्रत्येक प्राणी की भाषा में संयम करने से प्रत्येक प्राणी की भाषा का ज्ञान हो जाता है। कहने का तात्पर्य यह कि अक्षरविज्ञान जानने के लिए धातुओं और प्रत्ययों में संयम करने की आवश्यकता है। थोड़े ही दिन संयम करने से पता लगने लगता है कि अमुक शब्द के भीतर अमुक वर्ण अपना कौन-सा भाव प्रकट कर रहा है। इस प्रकार अनेक शब्दों में ढूँढने से उस वर्ण का भाव विदित हो जाता है और ज्ञात हो जाता है कि यह वर्ण इस प्रकार का अर्थ रखता है। पाश्चात्य विद्वानों ने भी इसका अनुभव किया है। आर०सी० ट्रेनिच, डी०डी० अपनी पुस्तक 'स्टडी आफ़ वर्ड्स' में लिखते हैं कि एक-एक शब्द और अक्षर में कविता भरी हुई है, इसलिए शब्दों का वास्तविक अर्थ जानने के लिए शब्दों के धात्वर्थों को अवश्य जान लेना चाहिए। हम भी यही कहते हैं कि बिना धात्वर्थ के और बिना अक्षरार्थ के भाषा का ठीक-ठीक ज्ञान नहीं हो सकता। इसलिए यदि हम चाहते हैं कि वैदिक भाषा को वैज्ञानिक, अपौरुषेय और ईश्वरप्रदत्त सिद्ध करें तो उचित है कि उसके एक-एक अक्षर के अर्थ को समझें कि किस प्रकार और किन कारणों से उसकी धातुओं का—वर्णों का, अक्षरों का अमुक अर्थ होता है।

वेद के प्रत्येक अक्षर का अर्थ उसकी बनावट से ज्ञात होता है। अक्षरों की बनावट दो प्रकार की है। एक तो वह बनावट है जो मुँह में अक्षरों के उच्चारण करते समय बनती है और दूसरी

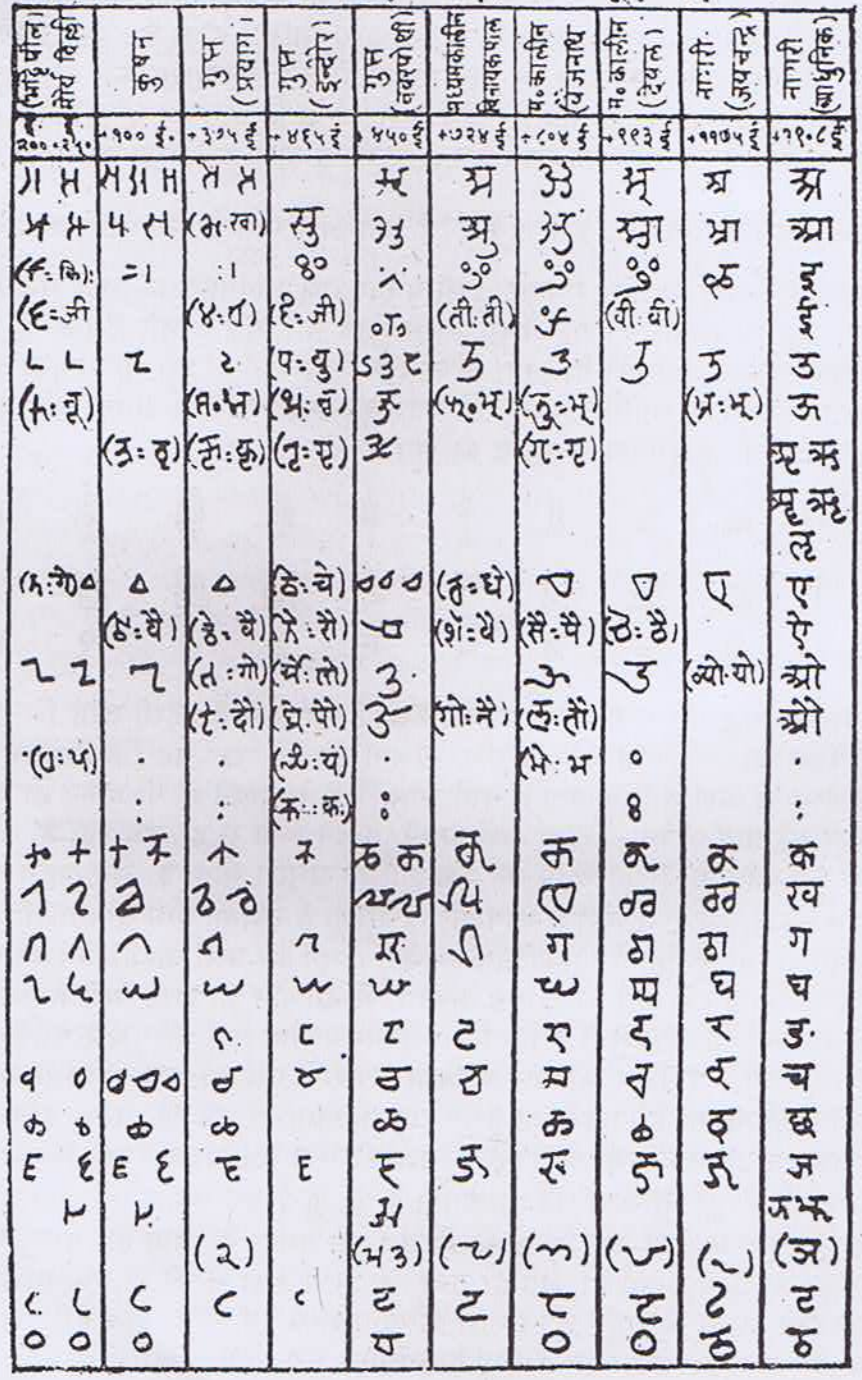
वह है जो लिखने के समय लेखनी से रेखारूप होकर काग़ज़ में चित्रित होती है। पहली मुख्य है और दूसरी उसकी साक्षी है। साक्षी से यह बात प्रमाणित होती है कि मुख की बनावट स्थिर करने में धोखा तो नहीं हो रहा। मुँह से निकलते समय जो अक्षर अपना जो-जो भाव, बनावट, ध्वनि, प्रभाव और क्रिया करता है, उसी से उसका अर्थ निश्चित होता है। इसी प्रकार उस अक्षर के चित्र, रेखा, बनावट और प्रभाव से जो भाव उत्पन्न होता है वह प्रथम कहे हुए अर्थ का पोषक होता है। इसका कारण यही है कि वैदिक लिपि अक्षरार्थ के ही अनुरूप बनाई गई है। उदाहरणार्थ 'अ' का अर्थ अभाव है। अभाव का चित्र इस ० शून्य से अधिक अच्छा दूसरा नहीं हो सकता। यही शून्य 'अ' चित्र का मूल है। इसी प्रकार 'ई' का अर्थ गति है और गति का चित्र ⟆ इससे अधिक अच्छा और कोई नहीं हो सकता। इसी प्रकार सब सानुनासिक अक्षर मूर्द्धाछिद्र से बोले जाते हैं, अत: उस छिद्र का '०' यह कैसा उत्तम चित्र है ? सब जानते हैं कि न, म, ण, आदि सानुनासिक वर्ण अभाव अर्थवाले हैं, अत: अभाव के लिए भी '०' इस शून्य से अच्छा चित्र और नहीं हो सकता। अक्षरों के अतिरिक्त अङ्क तो बहुत ही स्पष्ट रीति से अपना अर्थ प्रकट करते हैं जो इस परिणामदर्शक अङ्कमाला से स्पष्ट हो रहा है—



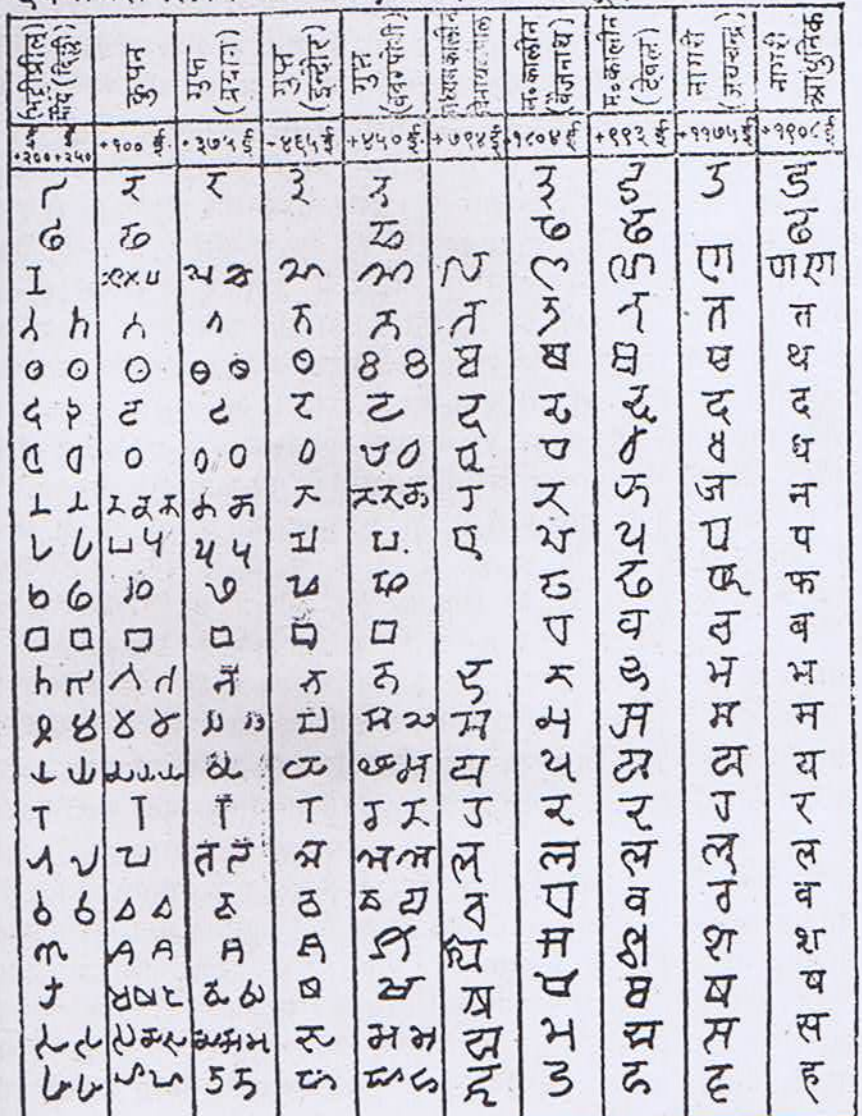
इसमें प्रत्येक अङ्क की मर्यादा को उसकी रेखाएँ बता रही हैं। इसी तरह बिन्दु, अर्थात् बूँद का '·' यह, रेखा का '—' यह और परिधि, अर्थात् घेरे का 'O' यह कितना स्वाभाविक चित्र है। जो भाव वस्तु के अर्थ से निकलता है वही भाव चित्र के देखने से भी प्रकट हो रहा है, अर्थात् अक्षर, अङ्क और रेखाएँ अपना-अपना अर्थ अपने-अपने रूपों से ही कह रही है, अत: हमने जो एकाक्षर अर्थ की जाँच के लिए लिपि की शकलों को प्रमाण माना है, वह बहुत ही उचित है।

वैदिक काल से लेकर आज तक जो लिपि प्रचलित है उसका नाम ब्राह्मीलिपि है। ब्रह्म नाम वेद का है, इसीलिए वेदलिपि को ब्राह्मीलिपि कहते हैं। यहाँ हम उसी ब्राह्मीलिपि की परिणामदर्शक सम्पूर्ण वर्णमाला लिखते हैं और आज तक प्राचीन-से-प्राचीन जो लेख मिले हैं उनसे अक्षरों को चुन-चनकर शताब्दीवार दिखलाते हैं कि किस प्रकार प्रत्येक वर्ण धीरे-धीरे बदलता हुआ किस रूप में पहुँचा है। जो रूप प्रथम कोष्ठक में दिया है उससे पूर्व का रूप नहीं मिलता। उसके पूर्व रूप की हमने कल्पना की है। पहले तो हमने यह कल्पना ही की थी, परन्तु ईश्वर की कृपा से हमारी इस कल्पना का एक बड़ा अंश सत्य सिद्ध हो गया है। अक्षरविज्ञान लिखते समय हमने १ २ ३ ४ ५ आदि अङ्कों के रूपों की कल्पना । = ≡ ‖ ⁝ इस प्रकार की थी। उस समय तक हमको कोई ऐसा पुराना लेख नहीं मिला था जिसमें इस प्रकार के अंक हों, परन्तु पं० गौरीशंकर हीराचन्द ओझा का ग्रन्थ देखते ही ज्ञात हो गया कि अभी हाल में जो दो एक प्राचीन लेख मिले हैं उनमें अङ्क इसी प्रकार दिये हुए हैं। हमारी कल्पना सत्य हुई, अत: अब हम इसे कल्पना नहीं कहते। अब तो यह एक सिद्ध बात हो गई है, अतएव हम आगे अक्षरार्थ के साथ-साथ अक्षरों के रूपों का भी कारण बतलाते जाएँगे।

देवनागरी लिपि की परिणाम दर्शक सम्पूर्ण वर्णमाला



देवनागरी लिपि की परिणाम दर्शक सम्पूर्ण वर्णमाला



सन् १०८१ ई० की हस्तलिखित नागरी लिपि का नमूना

जयति जानकी यललरू सदा परम सार्वही ना नारातताम'
सजन वृन्दवत्पुलाक व तृस ला निगमनीति विव सत्य संगरः।।
जयतु सर्वदा रारताविण नयनिदिः प्र जापालान रतः ।
कृयतु राज विद्दंसि मरा उल मतुनु रामचंद्र रूपति प्रजा ।।

अक्षरार्थ और लिपि

वैदिक वर्णमाला में मुख्यतः १७ अक्षर हैं[१]। इन १७ में जितने अक्षर केवल प्रयत्न, अर्थात् मुख और जिह्वा के इधर-उधर हिलाने, सिकोडने और फैलाने से बोले जाते हैं और किसी विशेष स्थान से सम्बन्ध नहीं रखते उन्हें 'स्वर' कहते हैं और जिनके उच्चारण में स्थान और प्रयत्न दोनों की सहायता लेना पड़ती है, उन्हें व्यञ्जन कहते हैं। अ, इ, उ, ऋ और ऌ स्वर हैं, क, ग, च, ज, ट, ड, त, द, प, ब, व्यञ्जन हैं और अनुस्वार तथा विसर्ग मध्यस्थ हैं। यही १७ अक्षर परस्पर के मिश्रण और संयोग से ६४ प्रकार के हो गये हैं। अ, अ, से आ और आ, अ, से आ३ बना है। इसी प्रकार इ, उ, ऋ और ऌ का भी विस्तार है[२]। ह्रस्व, दीर्घ और प्लुत भेद से इनके तीन-तीन रूप हो जाते हैं, इसलिए अ, से ऌ, तक इनकी संख्या १५ है और ए, ए३, ऐ, ऐ३, ओ, ओ३, औ, औ३, और अं, अः, मिलकर सब स्वरों की संख्या २५ होती हैं। इनमें अ, इ, उ, ऋ और ऌ, स्वतन्त्र हैं, परन्तु ए, ऐ, ओ, औ, अं, अः मिश्रित हैं। अ और इ के मिश्रण से ए, आ और ई के मिश्रण से ऐ, अ और उ के मिश्रण से ओ तथा आ और ऊ के मिश्रण से औ बना है। इसी प्रकार अ और ᳵ से अं तथा अ और : से अः बना है। ञ, ण, न, ङ, म, ᳫ और ᳵ आदि समस्त सानुनासिक वर्ण अनुस्वार से और ह, स, श, ष आदि वर्ण विसर्गों से ही बने हैं। विसर्गों में 'अ' जोड़ने से 'ह' बन जाता है, 'ह' अर्थात् विसर्गों का ही 'स' हो जाता है[३] और यही 'स' टवर्ग के साथ होने से 'ष' तथा चवर्ग के साथ होने से 'श' हो जाता है। क, ग, च, ज, ट, ड, त, द, प और ब में 'ह' जोड़ने से क्रम से ख, घ, छ, झ, ठ, ढ, थ, ध, फ और भ हो जाते हैं। इ, अ, मिलकर 'य' ऋ, अ, मिलकर 'र' ल, अ, मिलकर 'ल' और उ, अ मिलकर 'व' बना है। इसी प्रकार क, ष, से 'क्ष' त, र, से 'त्र' और ज, ञ, से 'ज्ञ' भी बना है। इस प्रकार से २५ स्वर के, २५ वर्ग के और (य, व, र, ल, श, ष,स, ह, क्ष, त्र, ज्ञ, ᳫ ᳵ और ळ आदि) १३ स्फुट के मिलाकर ६३ अक्षर होते हैं। इन्हीं में एक अर्धचन्द्र शामिल करने से ६४ हो जाते हैं। इसीलिए पाणिनीय शिक्षा में लिखा है कि **'त्रिषष्टिः चतुःषष्टिर्वा वर्णाः शम्भुमते मताः'** अर्थात् शम्भु—परमात्मा के वैदिक मत से वर्ण ६३ या ६४ हैं, परन्तु इन सबका मूल वही १७ अक्षर हैं, जो ऊपर वेद के प्रमाण से लिखे गये हैं।

इन सत्रह का मूल भी यदि ध्यान से देखा जाए तो केवल एक अकार ही है। यह अकार ही अपने स्थान और प्रयत्न भेद से अनेक प्रकार का हो जाता है। ओष्ठ बन्द करके यदि अकार का उच्चारण किया जाए तो 'पकार' हो जाएगा और कण्ठ से उच्चारण किया जाए तो वही अकार 'क' सुनाई पड़ेगा। इसी प्रकार समस्त वर्णों के विषय में समझना चाहिए। कहने का तात्पर्य यह कि समस्त अक्षरसमूह समस्त शब्दसमूह और समस्त ध्वनिसमूह स्थान-प्रयत्नभेद से उस अकार का ही रूपान्तर हैं। अकार प्रत्येक उच्चारंण में उपस्थित रहता है। बिना उसकी सहायता के न कोई वर्ण बोला जा सकता है और न समझा जा सकता है। यही कारण है कि अकार का अर्थ

---

१. अग्निरेकाक्षरेण...अश्विनौ द्व्यक्षरेण...विष्णुस्त्र्यक्षरेण...सोमश्चतुरक्षरेण...पूषापञ्चाक्षरेण... सविता षडक्षरेण... मरुतःसप्ताक्षरेण...बृहस्पतिरष्टाक्षरेण...मित्रो नवाक्षरेण...वरुणो दशाक्षरेण... इन्द्र एकादशाक्षरेण... विश्वेदेवा द्वादशाक्षरेण.....वसवस्त्र्योदशाक्षरेण.....रुद्राश्चुर्दशाक्षरेण.....आदित्याः पञ्चदशाक्षरेण.....अदितिः षोडषाक्षरेण.....प्रजापतिसप्तदशाक्षरेण..... —यजुः० ९।३१-३४

२. 'ॡ' का जब ह्रस्व और प्लुत है तब दीर्घ भी होना चाहिए, परन्तु संस्कृत-साहित्य में वह कहीं भी नहीं पायां जाता, इसलिए उसकी गणना वर्णमाला में नहीं की जाती।

३. मनःकामना=मनस्कामना।

सब, कुल, पूर्ण, व्यापक, अव्यय, एक और अखण्ड आदि होता है। यह अक्षर अपने प्रबल अस्तित्व से दूसरे अक्षरों का अभाव भी सूचित करता है, इसलिए इसका अर्थ अभाव, नहीं, शून्य आदि भी होता है। इसके प्रबल अस्तित्व से पहला अर्थ होता है और दूसरे अक्षरों का अभाव दर्शाने से दूसरा अर्थ होता है। हम आवश्यक समझते हैं कि इस भेद को तनिक विस्तार से समझाएँ और साथ-ही-साथ यह भी दिखलाते जाएँ कि किस प्रकार प्रत्येक अक्षर दोनों बनावटों से अपना अर्थ स्थिर करता है।

अ

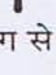
'अ' के बोलते समय जिह्वा सम और समस्त मुख चारों ओर से एक समान खुला हुआ रहता है[1]। अकार ध्वनि तालु से लेकर बाहर तक आ३...... करती हुई '।' इस आकार की होकर मुख से निकलती है। यह चिह्न अकार शब्द का निर्भ्रान्त रूप है। हम ऊपर दर्शा चुके हैं कि बिना अकार के कोई भी अक्षर बोला ही नहीं जा सकता, इसलिए प्रत्येक अक्षर के चित्र में अकार का '।' यह मूल दण्ड विराजमान रहता है। जब कोई अक्षर हलन्त लिखा जाता है तब यही स्तम्भ लँगड़ा कर दिया जाता है, यथा त्, थ् आदि। इसी भाँति जब कोई मात्रा (स्वर) किसी अक्षर में लगाई जाती है तब वह भी इसी स्तम्भ में लगाई जाती है, यथा के, की, कु आदि। इसी प्रकार जब कोई अक्षर किसी अक्षर में संयुक्त किया जाता है तब जो अक्षर आधा होता है, उसमें '।' यह स्तम्भ लगाये बिना ही दूसरा अक्षर जोड़ा जाता है। यदि दूसरा भी आधा लिखना होता है तो तीसरे अक्षर में अकार स्तम्भ मिलाया जाता है, यथा न्या, न्ध्या आदि। यह प्रक्रिया आज की नहीं है, अपितु पुरानी से भी पुरानी जो लिपि मिली है उसमें भी यही कौशल पाया जाता है। प्राचीन लिपि की सारणी जो पहले दी गई है, उसके पहले कोष्ठ (सन् २००) की तीसरी पंक्ति को देखिए वहाँ 'कि' अक्षर लिखा है। ककार में जो इकार जोड़ा गया है, वह उसी स्तम्भ से मिला हुआ है। उक्त सारणी में अन्यत्र भी इसी प्रकार पाया जाता है, इसलिए यह झगड़ा तय हो गया और सिद्ध हो गया कि अकार का मूलरूप यही स्तम्भ है, क्योंकि दीर्घ के लिए तो वह आता ही है। साथ ही यह भी ज्ञात हो गया कि यह दूसरे अक्षरों के साथ भी इस प्रकार का पाया जाता है, परन्तु जब स्वयं 'अ' रूप से आता है तब '।' ऐसा नहीं किन्तु 'अ' ऐसा लिखा जाता है, इसीलिए हमने उसके उच्चारण के विषय में दो बातें कही हैं कि १. जिह्वा सीधी सम रेखा पर रहती है और २. मुख चारों ओर से समान खुला हुआ रहता है। सीधी रेखा का वर्णन हो चुका अब चारों ओर से मुख खुले रहने का वर्णन करते हैं। यदि आप मुँह को चारों ओर से एक समान खोलें तो उसका चित्र '०' यही होगा। हम अकार के पूर्ववर्णन में जहाँ उसकी व्यापकता, पूर्णता, और अखण्डरूपता बतला आये हैं, वहाँ उसके वैज्ञानिक कार्यों के कारण ही हमें उसका वह अर्थ करना पड़ा है। अब यदि पूर्ण, सर्वव्यापक, अखण्ड आदिभाव का चित्र बनावें तो उपर्युक्त शून्याकार से अच्छा चित्र दूसरा न बन सकेगा। चित्र की ओर देखते ही उसकी आकृति अपनी पूर्णता, व्यापकता और मुखाकृति को एक साथ ही कह देती है। अकार के 'O।' इन दोनों चिह्नों को एक में मिलाने से  यह रूप होता है और अपने अभिप्राय का अर्थ अपने रूप से कहने लगता है। जैसा हमने पहले कहा था कि अकार अपनी व्यापकता और सर्वस्वता से अन्य अक्षरों का एक प्रकार से अभाव भी सूचित कराता है, इसलिए यह कभी-कभी अभाव

१. सर्वमुखस्थानमवर्णमित्येके। —पाणिनिशिक्षा

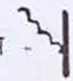
अर्थ में भी आता है। क्या अभाव का चित्र 0 इससे अच्छा दूसरा बन सकता है ? नहीं, अतः ऊपर के चित्र में यह अभाव भी सूचित करा रहा है, किन्तु व्याकरण की सुविधा के लिए ह्रस्व अकार को अशुद्ध, अयोग्य, अभाव आदि की तरह 'नहीं' अर्थ में और दीर्घ अकार को 'आलभ', 'आब्रह्मस्तम्बपर्यन्तम्', आसमुद्रात् आदि की भाँति 'समस्त' अर्थ में, लिया गया है जो युक्तिसङ्गत है, क्योंकि समस्त, अर्थात् पूर्ण से अभाव का रूप छोटा है, इसीलिए ह्रस्व अकार 'अभाव' और दीर्घ अकार 'समस्त' अर्थ में आया है। इस अर्थ के अतिरिक्त कारणकार्यभाव को लक्ष्य में रखकर बिना किसी दबाव के स्वभावतः यदि और कोई अर्थ निकल सकता हो तो निकालना चाहिए और इसी शैली का व्यवहार समस्त अक्षरों में करना चाहिए।

इ, ए और य

अकार के बाद उसके निकट ही 'इ' का उच्चारण है। 'इ' 'अ' के सिवा और कुछ नहीं है। यह 'अ' ही है जो नीचे की ओर जाकर निचले ओष्ठ की सहायता से 'इ' रूप का हो गया है। अकार से ही इसकी उत्पत्ति है और उसके अत्यन्त ही निकट है, इसलिए यह इकार अकार का सम्बन्धी कहलाता है। इसी से इसका अर्थ 'वाला' होता है। वाला का अर्थ इस प्रकार समझना चाहिए कि जैसे मकानवाला, कुत्तेवाला आदि। अंग्रेज़ी का 'er' क्रिया में लगाने से जो (Speaker, Worker आदि) अर्थ पैदा करता है 'इ' भी वही अर्थ पैदा करती है। जैसे 'वा' का अर्थ गति है किन्तु 'व' में 'इ' लगाने से 'वि' का अर्थ गतिवाला होता है। 'पा' का अर्थ रक्षा करना है, किन्तु 'पि' का अर्थ रक्षा करनेवाला हो जाता है। इसके सिवा अकार एक सम शब्द था, परन्तु उसमें व्यङ्ग उत्पन्न करने से—गति पैदा करने से 'इ' हुआ है, अर्थात् अकार में सञ्चालन—परिवर्तन हुआ है तभी इकार बना है, इसलिए इकार का अर्थ गति भी होता है और 'इ' धातु गति अर्थ में आया है। इकार को बोलते समय शब्द निचले ओष्ठ द्वारा मुँह से निकलकर भूमि पर पाँव के पास गिरता है। वह 'उ' की भाँति दूर का द्योतक नहीं है, इसलिए इसका अर्थ निकट, पास और यह आदि भी होता है। 'इदम्', 'इह लोके' आदि शब्दों में 'इ' अपना यही भाव प्रकट कर रहा है। इसमें भी दो रूप हैं। पहला रूप  यह है। यह अपने को अकार का समीपी बतलाते हुए दो रेखाओं को जोड़ता है, अर्थात् इस '।' अकार की रेखा को नीचे लाता है। दूसरा रूप  यह है। यह गति बतलाता है। अकार से नीचे की ओर गति हुई है। वही गति इसमें दिखलाई पड़ रही है। इस 'ई' का पहला रूप 'किं', 'घी' आदि में 'ि', 'ी' इस प्रकार काम आता है, अर्थात् इसे किसी अक्षर के समीप रहना पड़ता है। उसका दूसरा रूप गति अर्थ के अनुकूल है। गति का चित्र उपर्युक्त रूप से अच्छा कोई भी चित्रकार बना नहीं सकता, अतः इसके दोनों रूप 'वाला' और 'गति' अर्थ को ध्यान में रखकर बनाये गये हैं।

'ए' अक्षर अकार और इकार के संयोग से बना है। दोनों अक्षर एक साथ बोलने से 'ए' वर्ण सुनाई पड़ता है। अकार से नहीं और अव्यग्र तथा इकार से वाला और गति अर्थ निकलता है। इन दोनों के मिलने से नहीं, गति, गतिहीन, निश्चल अथवा अव्यग्रवाला, पूर्ण अर्थ होता है। इसी से 'एक' आदि प्रख्यात शब्द बनते हैं, जो पूर्णता, अखण्डता के द्योतक हैं। इसका रूप  यह है। इसमें पहली लकीर 'अ' की और दूसरी गतिमान रेखा 'इ' की है। दोनों के संयोग से यह बना

है। जब यह स्वयं आता है (जैसे एक आदि में) तब इसका यही रूप रहता है, परन्तु जब किसी अक्षर में मिलता है तब के इस भाँति लिखा जाता है। बोलने में भी 'ए' शब्द की आकृति मुँह से तिरछी निकलती है, इसीलिए यह अक्षरों पर भी तिरछा ही लिखा जाता है।

'य' अक्षर 'इकार' और 'अकार' के मिश्रण से बना है। 'इ' और 'अ' एक साथ बोलने से 'य' ध्वनि बन जाती है। इकार का अर्थ गति और अकार का अर्थ पूर्ण होता है, इसलिए यकार का अर्थ गतिपूर्ण होता है। गति एक स्थान से निकलकर जब दूसरे स्थान में पहुँचती है, तभी पूर्ण समझी जाती है। हम देखते हैं कि यकार सर्वत्र 'यः', अर्थात् 'जो' अर्थ में आता है। जो का भावार्थ भिन्न वस्तु अथवा अन्य वस्तु है। जब हम कहते हैं कि **'जो-जो पदार्थ'** तब ज्ञात होता है कि अनेक पदार्थ दूर-दूर हैं। इसी से पूर्ण गति का भाव सूचित होता है। इसका रूप  यह है। इसमें पहिली रेखा 'इ' की और दूसरी 'अ' की है, क्योंकि यह 'इ' और 'अ' से ही बना है।

उ, ओ, व

उकार प्रधानतया ऊपरवाले और साधरणताय नाचेवाले ओष्ठ की सहायता तथा मुँह की चौड़ाई को सिकोड़ (चुन्नतकर) देने से बनता है। 'उ' शब्द मुँह से निकलकर ऊपरी ओष्ठ के कारण ऊपर ही आकाश में दूर चला जाता है। उसको बोलते समय आपसे-आप ज्ञात होने लगता है कि यह आगे को निकला हुआ मुँह अपने से भिन्न और दूर स्थित किसी दूसरे का सङ्केत कर रहा है, इसीलिए उकार का अर्थ, दूर, वह, और आदि होता है। अब तक अनेक लोग वह वस्तु लाओ के स्थान पर 'उ' वस्तु लाओ कहते हैं। इसके भी  यह और  यह दो रूप हैं। पहला रूप ऊपर की सूचना देनेवाला और अंगुली उठाकर दूसरे को बतानेवाला है। यह अंगुली का चिह्न है। यही 'को', 'खो' आदि में काम आता है। दूसरा रूप दूर, अन्य आदि भाव समझानेवाला है। जिस प्रकार चुना हुआ मुँह आगे को निकालकर दूर और अन्य पदार्थ को सूचित किया जाता है, ठीक उसी प्रकार का अर्थ प्रकाश करने के लिए वैसी ही मुखाकृति का चित्र बना लिया गया है। इसकी पहली लकीर मुँह के भीतर का आकार है और कोने का बिन्दु चुना हुआ, लम्बा और बाहर निकला हुआ मुँह है तथा उसी से लगी हुई आड़ी लकीर शब्द को दूर फेंकती है और अन्य, वह, दूर आदि अर्थ बतलाती है। इसके इस  आधे रूप से 'कु' आदि बनते हैं।

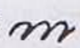
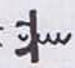
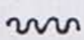
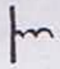
'ओ' अकार और उकार के संयोग से बना है। अकार का अर्थ 'नहीं' और उकार का अर्थ अन्य और दूसरा आदि है, इसलिए ओंकार का अर्थ 'अन्य नहीं' होता है। 'अन्य नहीं' का अर्थ है वही, अर्थात् दूसरा नहीं, इसीलिए यह 'सो', 'यो' आदि शब्दों में देखा जाता है और अर्थ भी वही, जो, आदि रखता है। इसका रूप 'ा' यह है। इसमें अकार और उकार दोनों के चिह्न मिले हुए हैं। 'ओ' बोलते समय जिस प्रकार मनुष्य ऊपर की ओर हाथ उठा कर पुकारता है, उसी भाँति यह उद्गीथ का चित्र बनाया गया है।

'व' अक्षर उकार और अकार से बना है[1]। 'उ' और 'अ' एक साथ बोलने से 'व' वर्ण बनता है। उकार का अर्थ अन्य और अकार का अर्थ पूर्ण है, इसलिए वकार का अर्थ 'पूर्ण भिन्न'

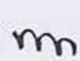
१. वकार को आजकल य र ल के बाद रखते हैं, परन्तु उसे 'य के' बाद रखना चाहिए और य व र ल पढ़ना चाहिए।

हुआ। यही कारण है कि संस्कृतसाहित्य में वकार 'अथवा' अर्थ में आता है। अथवा 'पूर्ण भिन्न' का ही अनुवाद है। इस उकार का दूसरा अर्थ दूर भी है। दूरता बिना गति और बिना संचालन के नहीं होती, इसलिए वकार का अर्थ गति भी होता है। 'वा' धातु गति अर्थ में ही है। पृथिवी बड़ी गतिमान और गन्धवती है, इसलिए 'वा' गन्ध अर्थ में भी आया है। 'व' में  इतना भाग उकार का और '।' इतना भाग अकार का लेकर इसका रूप  इस प्रकार बनाया गया है।

ऋ और र

बकरियों को बुलाते समय जिस प्रकार लोग उर्र-उर्र करते हैं अथवा हारमोनियम की अन्तिम चाभी (Termelo) खोलने पर जो ध्वनि होती है या मेंढक अथवा झींगुर की जो ध्वनि है, वही ध्वनि 'ऋ' अक्षर की भी है। इसका कोई 'रि' और कोई 'रु' उच्चारण करते हैं, परन्तु ये दोनों उच्चारण अशुद्ध हैं। इसके उच्चारण में जिह्वा तालु से बार-बार लग-लगकर छूटती है। जितनी जल्दी छूटती है उतनी ही जल्दी फिर लगती है, अर्थात् जिह्वा किसी स्थान को नहीं पकड़ती, किन्तु निरन्तर गतिमान् रहती है[1]। इसकी गति में विश्राम नहीं है, इसीलिए इसकी गति अखण्ड, नित्य और सत्य कहलाती है। इन्हीं कारणों से 'ऋ' अक्षर सत्य और गति दो अर्थों में प्रचलित है। इसकी गति बाहर की ओर है, इसलिए यह बाहर अर्थ में भी आता है। इन्हीं अर्थों को ध्यान में रखकर इसके  यह और  यह दो रूप बनाये गये हैं। पहला रूप बाहर की ओर दानेदार गति का सूचक है, अर्थात् उस ध्वनि का सूचक है, जो जिह्वा के तालु में लगने से पैदा होती है, परन्तु बिना अकार के योग के यह स्वयं किसी रूप में नहीं आ सकता, इसलिए इसे अकार के साथ दूसरे रूप में दिखलाया गया है। 'ऋ' जब किसी अक्षर के साथ मिलता है तब पहले रूप से और जब स्वयं आता है तब दूसरे रूप से लिखा जाता है। ऋकार में अकार जोड़ने से 'र' बनता है। 'ऋ' के वर्णन में उसका अर्थ बाहर, सत्य और गति बताया गया है, अतः रकार बाहर फेंकने, अर्थात् देने और सत्य गति, अविच्छिन्न अस्तित्व, अर्थात् रमन अर्थ में लिया गया है, जो सारे साहित्य में प्रचलित है। इसके रूप में इतना  भाग 'ऋ' का और '।' इतना भाग अकार का है। दोनों को मिलाने से  ऐसा रूप बना है।

ऌ और ल

ऋकार और ऌकार के उच्चारण और स्थान में बहुत भेद नहीं है। 'ऋ' बोलते समय शब्द की गति बाहर की ओर रहती है, किन्तु 'ऌ' बोलते समय जिह्वा भीतर की ओर मुड़ जाती है, इसी से लड़बड़ाहट-सी सुनाई पड़ती है। शेष 'ऋ' और 'ऌ' का आकार-प्रकार एक ही है। यह भी अविच्छिन्न गतिमान् है, अतएव इसका भी अर्थ सत्य गति ही होता है। इसकी गति भीतर की ओर है, इसलिए इसका अर्थ भीतर भी होता है। इसके भी  यह और  यह—दो रूप

---

१. स्वर में निरन्तरता रहती है, परन्तु व्यंजन में नहीं, क्योंकि व्यंजन में जब तक कोई स्वर न मिले तब तक उसका स्पष्ट उच्चारण नहीं हो सकता, परन्तु स्वर की ध्वनि तब तक निरन्तर जारी रहती है जब तक कि उसका स्थानापन्न कोई दूसरा स्वर न बोला जाए। हाँ, जान-बूझकर मुँह बन्द कर लिया जाए तो अवश्य वह ध्वनि बन्द हो जाएगी।

हैं। पहला रूप भीतर की ओर दानेदार गति को दिखलाता है। यह गति जिह्वा के तालु में बार-बार छूने से पैदा होती है। यह जब किसी अक्षर के साथ मिलता है, तब प्रथम रूप से मिलता है, किन्तु जब पूर्ण रूप से आता है तब दूसरे रूप से लिखा जाता है।

लृकार और अकार के संयोग से 'ल' बना है। शब्द को बाहर फेंकने के कारण जिस प्रकार ऋकार से बने हुए रकार का अर्थ देना हुआ है, उसी प्रकार शब्द को भीतर फेंकने के कारण इस लृकार से बने हुए लकार का अर्थ लेना हुआ है। यही कारण है कि 'रा' धातु का अर्थ देना और 'ला' का अर्थ लेना प्रचलित है। 'ऋ' और 'लृ' दोनों गति अर्थ में समान है, किन्तु 'ऋ' बाहर की ओर गति करता है, अर्थात् शब्द को मुख से बाहर फेंकता है, इसलिए उससे बने हुए रकार का अर्थ देना हुआ है और 'लृ' भीतर की ओर गति करता है, अर्थात् शब्द को मुख के अन्दर फेंकता है, इसलिए उससे बने हुए लकार का अर्थ लेना किया गया है। 'ऋ' में जिह्वा का अग्रभाग तालु में छू-छूकर बाहर की ओर गति करता है और 'लृ' में भीतर की ओर गति होती है। इन दोनों में यही अन्तर है, शेष प्रत्येक बात में दोनों समान हैं। 'ल' में  इतना भाग 'लृ' का और '।' इतना अकार का मिलकर  यह रूप हुआ है।

ँ, ., ꣳ और ङ, ञ, ण, न, म

ये सब अक्षर सानुनासिक कहलाते हैं। सानुनासिक का तात्पर्य नासिका से बोले जानेवाला होता है[1]। अकार का अन्तिम रूप '·' यह है। इसी को अनुस्वार कहते हैं। समस्त सानुनासिक स्थानभेद से इसी के रूपान्तर हैं। मुख बन्द करके जब अकार बोला जाता है तब उस शब्द का रूप '·' यह हो जाता है। इसी प्रकार कवर्ग स्थान से नासिका के द्वारा 'ङ', चवर्ग स्थान से 'ञ', टवर्ग स्थान से 'ण' तवर्ग स्थान से 'न' और पवर्ग स्थान से 'म' होता है। अनुस्वार का ही अर्ध रूप ँ और प्रबल रूप ꣳ है। जब अर्ध ध्वनि होती है तब ꣳ यह होता है। इसे 'गुं' या 'ग्वं' कहना भूल है। अकार का जहाँ अस्तित्व नष्ट होता है, वहीं से अनुस्वार और सानुनासिकों का जन्म होता है, अर्थात् अकार के अभाव को अनुस्वार, पञ्च कवर्गादि के अभाव को सानुनासिक और अन्य सबके अभाव को ꣳ कहते हैं, अतएव इन आठों ध्वनियों, अर्थात् आठों अक्षरों का अर्थ नहीं, अभाव अथवा शून्य होता है, क्योंकि अकार का अर्थ सर्व, पूर्ण और समस्त आदि है। ये आठों समस्त अक्षरों का अस्त करके स्वयं उदित होते हैं, इसलिए ये निषेध अर्थ में आये हैं, यथा म, न, आदि। अनुस्वार का रूप '०' यह है। यह उस छिद्र का चित्र है, जो मुँह के भीतर मूर्धा-स्थान में नाक से सम्बन्ध रखता है। इस चित्र को बनाकर चित्रकार ने बड़ी ही कारीगरी की है, क्योंकि इससे मूर्द्धा छिद्र और 'नहीं' दोनों अर्थ प्रकट होते हैं। छिद्र और अभाव का '०' यह उत्तम चित्र है। समस्त सानुनासिक अक्षर इसी को लक्ष्य में रखकर बनाये गये हैं और सबमें यह बिन्दु अपने वर्ग के आदि अक्षरों के साथ विद्यमान है। यथा ग्वङ् का रूप  यह, ञकार का  यह, णकार का  यह, नकार का  यह और मकार का  यह है।

इन पाँचों वर्गों के प्रथम अक्षर के साथ इस अनुस्वार का बिन्दु मिला हुआ है। ꣳ के रूप में अकार और अनुस्वार दोनों दिखलाये गये हैं और शृङ्गी बाजे का चित्र बना दिया गया है।

---

१. यमाश्च नासिका जिह्वामूलीया ऐकषाम्। ꣳ ँ ङ ञ ण न माः स्वस्थाननासिकास्थानाः।

छोटे-छिद्र के फूँकने से 'अ' और बड़े छिद्र के फूँकने से '·' हो जाता है।  यह मुख और नासिका के सम्बन्ध का स्पष्ट चित्र है।

: [विसर्ग] और ह

विसर्ग का उच्चारण नाभि से होता है[१], अर्थात् जहाँ तक प्राण का संचार है, वहाँ के मूल से इसकी उत्पत्ति है, इसीलिए यह पूर्णतासूचक होने से निश्चयार्थ में आया है। जहाँ से यह आता है, वहाँ शब्द का अन्त है, इसलिए यह अन्त अर्थ में भी आता है, परन्तु बिना अकार के यह कुछ भी नहीं है, अतः यह अभाव और संकोच अर्थ में भी आता है। इसका रूप  यह है। पेट से गर्दन की ओर जो पोलाई है उसका पहला द्वार कण्ठ है, दूसरा द्वार बाहर का ओष्ठस्थानीय मुँह है और दोनों का रूप '०' ऐसा है। बिना इन दोनों द्वारों के इसका उच्चारण नहीं हो सकता। इसमें  यह नाभि से कण्ठ तक की शब्दरेखा का चिह्न भी नली की भाँति लटकता है। इसी विसर्ग में 'अ' जोड़ने से 'ह' स्पष्ट हो जाता है और निश्चय तथा निषेधार्थ में आता है। निश्चयार्थ तो इसकी उस शब्दमूलकता से निकलता है, जो नाभि तक—प्राणों की सीमा तक विद्यमान है और निषेध अर्थ इसलिए निकलता है कि यह अपने से आगे शब्दतत्त्व का निषेध करता है, अर्थात् स्वयं शब्द का मूल बनकर अपने लिए निश्चय दिलाता है और अन्य के लिए निषेध करता है, मानो समझाता है कि अब मेरे आगे और शब्द नहीं है। इसका रूप भी उन्हीं विसर्गों में केवल अकार का चिह्न जोड़ने से और नाभिरेखा को लम्बी करने से  इस प्रकार बनता है।

ख, घ, छ, झ, ठ, ढ, थ, ध, फ और भ, ये दश अक्षर इसी हकार की सहायता से बने हैं[२]। इन सब अक्षरों में इसका संक्षिप्त रूप तथा निषेध प्रदर्शक अर्थ विद्यमान है। इस हकार में यह विशेषता है कि जब यह स्वयं अपने स्पष्ट 'ह' रूप से आता है तब निश्चयार्थ कर देता है और जब खकारादि के साथ मिला हुआ आता है तब निषेध अर्थ कर देता है। यह बात विज्ञानसिद्ध है, क्योंकि प्रत्यक्ष का अर्थ निश्चय और परोक्ष का अर्थ सन्दिग्ध होने से अधिकतर निषेध ही है।

क और ख

कवर्ग से लेकर पवर्ग तक पच्चीस अक्षर हैं। इनमें पाँच सानुनासिक हैं जो नकारार्थ में बतलाये गये हैं। शेष बीस में दश ककारादि स्वतन्त्र अक्षर हैं और दश खकारादि संयुक्ताक्षर हैं जो हकार के योग से बने हैं। जिस प्रकार 'क' में 'ह' मिलकर 'ख' होता है, उसी प्रकार अन्य स्वतन्त्र अक्षरों में 'ह' मिलाने से घ, छ, झ, ठ, ढ, थ, ध, फ, भ आदि होते हैं। हम हकार के

---

१. हविसर्जनीयावुरस्यावेकेषाम्।

२. शादय ऊष्माणः, अर्थात् श, स, ह की ऊष्म संज्ञा है और ये महाप्राण प्रयत्न से बोले जाते हैं। **स स्थानेन द्वितीयाः**, अर्थात् ख, छ, आदि द्वितीय वर्ण स स्थान से बोलना चाहिए। **हकारेण चतुर्थाः**, अर्थात् घ, झ, आदि चतुर्थ वर्ण ह वाले स्थान से बोले जाते हैं। सारांश यह कि दूसरे और चैथे वर्ण महाप्राण, अर्थात् ह के योग से बोले जाते हैं।

छोटे-छिद्र के फूँकने से 'अ' और बड़े छिद्र के फूँकने से '·' हो जाता है।  यह मुख और नासिका के सम्बन्ध का स्पष्ट चित्र है।

: [विसर्ग] और ह

विसर्ग का उच्चारण नाभि से होता है[१], अर्थात् जहाँ तक प्राण का संचार है, वहाँ के मूल से इसकी उत्पत्ति है, इसीलिए यह पूर्णतासूचक होने से निश्चयार्थ में आया है। जहाँ से यह आता है, वहाँ शब्द का अन्त है, इसलिए यह अन्त अर्थ में भी आता है, परन्तु बिना अकार के यह कुछ भी नहीं है, अत: यह अभाव और संकोच अर्थ में भी आता है। इसका रूप  यह है। पेट से गर्दन की ओर जो पोलाई है उसका पहला द्वार कण्ठ है, दूसरा द्वार बाहर का ओष्ठस्थानीय मुँह है और दोनों का रूप '०' ऐसा है। बिना इन दोनों द्वारों के इसका उच्चारण नहीं हो सकता। इसमें  यह नाभि से कण्ठ तक की शब्दरेखा का चिह्न भी नली की भाँति लटकता है। इसी विसर्ग में 'अ' जोड़ने से 'ह' स्पष्ट हो जाता है और निश्चय तथा निषेधार्थ में आता है। निश्चयार्थ तो इसकी उस शब्दमूलकता से निकलता है, जो नाभि तक—प्राणों की सीमा तक विद्यमान है और निषेध अर्थ इसलिए निकलता है कि यह अपने से आगे शब्दतत्त्व का निषेध करता है, अर्थात् स्वयं शब्द का मूल बनकर अपने लिए निश्चय दिलाता है और अन्य के लिए निषेध करता है, मानो समझाता है कि अब मेरे आगे और शब्द नहीं है। इसका रूप भी उन्हीं विसर्गों में केवल अकार का चिह्न जोड़ने से और नाभिरेखा को लम्बी करने से  इस प्रकार बनता है।

ख, घ, छ, झ, ठ, ढ, थ, ध, फ और भ, ये दश अक्षर इसी हकार की सहायता से बने हैं[२]। इन सब अक्षरों में इसका संक्षिप्त रूप तथा निषेध प्रदर्शक अर्थ विद्यमान है। इस हकार में यह विशेषता है कि जब यह स्वयं अपने स्पष्ट 'ह' रूप से आता है तब निश्चयार्थ कर देता है और जब खकारादि के साथ मिला हुआ आता है तब निषेध अर्थ कर देता है। यह बात विज्ञानसिद्ध है, क्योंकि प्रत्यक्ष का अर्थ निश्चय और परोक्ष का अर्थ सन्दिग्ध होने से अधिकतर निषेध ही है।

क और ख

कवर्ग से लेकर पवर्ग तक पच्चीस अक्षर हैं। इनमें पाँच सानुनासिक हैं जो नकारार्थ में बतलाये गये हैं। शेष बीस में दश ककारादि स्वतन्त्र अक्षर हैं और दश खकारादि संयुक्ताक्षर हैं जो हकार के योग से बने हैं। जिस प्रकार 'क' में 'ह' मिलकर 'ख' होता है, उसी प्रकार अन्य स्वतन्त्र अक्षरों में 'ह' मिलाने से घ, छ, झ, ठ, ढ, थ, ध, फ, भ आदि होते हैं। हम हकार के

---

१. हविसर्जनीयावुरस्यावेकेषाम्।

२. शादय ऊष्माण:, अर्थात् श, स, ह की ऊष्म संज्ञा है और ये महाप्राण प्रयत्न से बोले जाते हैं। **स स्थानेन द्वितीया:**, अर्थात् ख, छ, आदि द्वितीय वर्ण स स्थान से बोलना चाहिए। **हकारेण चतुर्था:**, अर्थात् घ, झ, आदि चतुर्थ वर्ण ह वाले स्थान से बोले जाते हैं। सारांश यह कि दूसरे और चैथे वर्ण महाप्राण, अर्थात् ह के योग से बोले जाते हैं।

वर्णन में लिख आये हैं कि यह जब किसी अन्य अक्षर के साथ मिलता है तब स्वयं गुप्त होकर उस अक्षर का अभाव अर्थ कर देता है। यही दशा इन समस्त द्वितीय और चतुर्थ अक्षरों में पाई जाती है। खकार ककार के विरुद्ध और घकार गकार के विरुद्ध प्रभाव (अर्थ) रखता है। यही क्रम छ, झ, ठ, ढ, थ, ध, फ और भ-पर्यन्त है।

वैदिक वर्णमाला का क्रम वैज्ञानिक और सृष्टिनियमानुकूल है, जैसाकि पञ्चवर्गों से विदित होता है। कण्ठ से लेकर क्रम-क्रम ओष्ठपर्यन्त ये पाँचो वर्ग फैले हुए हैं। अकार स्थान से किंचित् बाहर की ओर हटकर कण्ठस्थान से कवर्ग की उत्पत्ति है। इसके पूर्व अकार का मूल और अकार के पूर्व हकार का मूल विद्यमान है, अर्थात् हकार और अकार के पश्चात् कवर्ग का ही स्थान है। अकार और हकार के धारावाहिक शब्द को सबसे प्रथम ककार ही रोकता और बाँधता है, इसलिए ककार का अर्थ बाँधना माना गया है। ककार अकार जैसे अक्षर को बाँध देता है, इसलिए इसे बलवान्, बड़ा और प्रभावशाली आदि भी कह सकते हैं। यही कारण है कि ककार प्रजापति और सुख अर्थ में भी आया है। यों तो खकारादि सभी अक्षर अपने--अपने स्थान में दूसरे शब्द को बाँधकर स्वयं प्रकाशित होते हैं, परन्तु सबसे प्रथम और सबसे आगे बढ़कर ककार ही कण्ठमूल में शब्द को बाँधता है, इसलिए बाँधना अर्थ ककार के लिए ही रूढ़ है। ककार ऐसे स्थान से उत्पन्न होता है, जिससे वह सबसे पहले अकार और हकार को बाँधता है, इसलिए भी वह विशेषकर बाँधने, रोकने, अटकाने आदि अर्थों में आया है, जैसाकि कः, का, आदि शब्दों और उनके कौन, क्या, आदि अर्थों से ज्ञात होता है, क्योंकि यह ककार प्रश्न, रोकने, बाँधने, शंका करने, उलझने आदि में ही उपस्थित होता है। इन्हीं भावों को लेकर इसका  यह रूप बनाया गया है। यह रूप स्पष्टतया बता रहा है कि अकारवाली ' । ' इस सीधी शब्दरेखा को इसने ' — ' इस प्रकार मूल में जाकर बाँधा है। केवल अकार को ही नहीं बाँधा, किन्तु हकार को भी रोका है। यही कारण है कि इसका बन्धन अकार रेखा के दोनों ओर हुआ है और अकार और हकार दोनों को बाँधते हुए दिखलाया गया है।

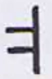
हम हकार के वर्णन में बता आये हैं कि हकार जब किसी अक्षर के साथ मिलता है तब उस अक्षर के विरुद्ध अर्थ पैदा कर देता है। यहाँ ककार के उच्चारण के साथ केवल हकार की नली खोलनेमात्र से 'ख' शब्द सुनाई पड़ता है, इसलिए खकार का भी अर्थ उपर्युक्त विवरणानुसार 'क' के विरुद्ध ही होता है। जहाँ ककार का अर्थ बाँधना होता है, वहाँ खकार का अर्थ खुला होता है, इसलिए यह आकाश के लिए रूढ़ है। आकाश की भाँति बन्धनरहित, खुली हुई वस्तु संसार में दूसरी कोई नहीं है, इसीलिए 'ख' आकाश, पोल, छिद्र आदि अर्थों में आता है। ककार में हकार का चिह्न मिलाने से खकार का  यह रूप होता है। इस अक्षर के स्तम्भ में केवल एक ही ओर बन्धन है, जो केवल अकार को ही बाँधे हुए है और हकार के लिए दूसरी ओर स्थान खुला पड़ा है। हकार की नाभि रेखा अकार में जोड़ दी गई है, जो 'क' और 'ह' के संयोग से खकार का अर्थ और रूप बता रही है।

ग और घ

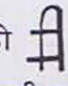
ककार के ही स्थान और प्रयत्न में केवल हकार के संयोगमात्र से खकार बन गया था, परन्तु अब उसी स्थान और उसी प्रयत्न से दूसरा अक्षर नहीं बन सकता। दूसरे अक्षर के लिए स्थान और

प्रयत्न दोनों में फेरफार करना पड़ेगा और कण्ठ में ही देखना होगा कि ककार और खकार स्थान के पास ही और कौन-सा अक्षर निकल सकता है। 'क' स्थान से तनिक हटकर जिह्वा को 'क' प्रयत्न की अपेक्षा तनिक दबाकर बोलने से गकार का उच्चारण होता है। गकार के लिए जब तक 'क' स्थान और 'क' प्रयत्न छोड़कर आगे न बढ़ा जाए, कभी सम्भव नहीं है कि 'ग' शब्द उच्चरित होकर सुनाई पड़े, अतएव स्थानान्तरित होने से ही, अर्थात् प्रथम स्थान प्रयत्न में गति होने से ही गकार का अर्थ गमन, हटना, स्थान छोड़ना और पृथक् होना आदि हुआ है और 'ग' धातु गमन अर्थ में ली गई है। इसका  यह रूप भी इसी अर्थ को सूचित करता है। कोई भी चित्रकार गति का चित्र बनाते समय स्थानान्तर-रेखा को ही दिखलाकर गति का रूप बना सकता है। इस गकार का  यह रूप बनाकर भी ऊपर-नीचे, अगल-बगल, जिधर से देखिए उधर से गति करता हुआ वही भाव दिखलाया गया है, किन्तु बिना अकार के संयोग के इसका उच्चारण स्पष्ट नहीं होता, इसलिए '।' यह अकार स्तम्भ उसी गतिवाली रेखा में जोड़कर उपरिलिखित रूप बना दिया गया है। इसी गकार में हकार जोड़ने से घकार होता है और हकार की प्रकृति के अनुसार गकार के विरुद्ध अर्थ हो जाता है। गकार का अर्थ गति, गमन, पृथक्ता आदि होता है, अतः 'घ' का अर्थ रुकावट, ठहराव और एकाग्रता आदि है। यही कारण है कि घकारसम्बन्धी शब्द घन, सघन, संघट्ट, घट, घोर, मेघ, घनीभूत आदि ढंग के होते हैं। इन शब्दों में 'घ' का अर्थ भासित होता है। इनका रूप गकार में हकार का चिह्न लगाकर  इस प्रकार बनाया गया है।

च और छ

कवर्ग के बाद ही ओष्ठ की ओर से स्थान और प्रयत्न हो सकता है, वह फिर एक वर्ग को आरम्भ करता है। यह वर्ग चवर्ग का प्रथम अक्षर चकार अपने वर्ग को आरम्भ करता है। वर्ग को पुनः आरम्भ करने के कारण चकार का अर्थ फिर, पुनः, बाद, दूसरा और अन्य आदि किया गया है। यह ऊपर-नीचे के जिह्वा और तालु को मिलाता है। मिलना बिना दो के नहीं होता, इसलिए इसका अर्थ भिन्न भी होता है। भिन्न, फिर, बाद, पुनः, आदि भाव किसी पूर्ण पदार्थ में नहीं होते। पुनः-पुनः, भिन्न-भिन्न भाव तभी तक रहते हैं जब तक कोई पदार्थ अपूर्ण है, अतएव चकार का अर्थ अपूर्ण और अङ्गहीन आदि भी होता है। अपूर्ण को खण्ड-खण्ड भी कह सकते हैं, क्योंकि खण्ड-खण्ड अथवा पुनः-पुनः और भिन्न-भिन्न में कोई अन्तर नहीं है। इसी भाव को लेकर इसका  यह रूप बनाया गया है। तालु और जिह्वा का मिलान तथा अपूर्ण और पुनः-पुनः अ... खण्ड-खण्ड का एकसाथ दर्शानेवाला '=' यह चित्र बनाकर चकार का अर्थ स्पष्ट कर ... है। इन्हीं दो पाइयों में अकार का चिह्न जोड़ने से ऊपर का रूप बनता है।

... पें हकार मिलने से 'छ' होता है। हकार अपनी प्रकृति के अनुसार चकार में मिलकर ... अर्थ पैदा करता है। चकार पुनः-पुनः, खण्ड-खण्ड, अपूर्ण, अङ्गहीन आदि ... परन्तु हकार के मिलने से वही छकार बनकर छाया, आच्छादन, छत्र और ... पें सङ्गोपाङ्ग, पूर्ण, तथा अखण्ड आदि अर्थों की झलक दिखला रहा है। के योग ... र उसने अपना रूप सर्वथा प्रकट कर दिया है। छन्द का अर्थ ज्ञान है।

ज्ञान में कभी खण्डभाव नहीं होता। ज्ञान हर समय हर जगह अपने पूर्ण रूप से विद्यमान रहता है, इसीलिए 'छ' ज्ञान, पूर्ण, छाया आदि अर्थ में आता है। उपर्युक्त चकार के चिह्न में हकार का संक्षिप्त रूप मिलाकर छकार को  इस प्रकार का बनाया गया है। इसमें चकार का पूर्ण रूप और हकार की निचली रेखा मिली हुई है।

ज और झ

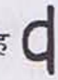
जिस प्रकार 'क' और 'ख' के बाद दूसरे स्थान और प्रयत्न से कण्ठस्थान में ही गकार के लिए स्थान और प्रयत्न बदलना पड़ा है और अपने वर्ग के मूल कवर्ग के स्थान से गति कर जाने के कारण गकार का अर्थ गति हुआ है, ठीक उसी प्रकार 'च' और 'छ' से आगे चलकर और किंचित् दूसरे प्रयत्न से पैदा हुए जकार का अर्थ भी पैदा होना, जन्म लेना, उत्पन्न होना और नूतनत्व आदि है। जन्म, जननी आदि 'ज' धातु से ही बनते हैं। पैदा होने का तात्पर्य केवल नूतन रूप धारण करना या विकास प्राप्त करना है। नूतन रूप बिना गति के हो ही नहीं सकता, इसलिए गकार की भाँति इसका अर्थ भी गति, अर्थात् जन्म रक्खा गया है। वही बात इसके रूप से भी पाई जाती है। कोई भी चित्रकार जब किसी पदार्थ के उत्पन्न करने का चित्र खेंचना चाहता है तब सबसे पहले उसका ध्यान किसी बीजांकुर की ओर जाता है। इसी भाव को लेकर जकार का रूप  इस प्रकार बनाया गया है। इस रूप में  इतना बीजांकुर का चित्र है और '।' यह चिह्न अकार की लम्बी रेखा है।

इसी जकार में हकार जोड़ने से 'झ' होता है और जकार के विरुद्ध अर्थ रखता है। जन्म के विरुद्ध मृत्यु ही है, इसीलिए 'झ' का धात्वर्थ 'नाश' होता है। 'झ' से झृणाति आदि शब्द बनते हैं, जो मृत्यु और नाश आदि के सूचक हैं। जकार में हकार की रेखा जोड़कर इसका रूप  इस प्रकार बनाया गया है। इसमें जकार का पूरा रूप और हकार का निचला हिस्सा मिला हुआ है।

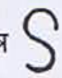
ट और ठ

यह बात ध्यान रखने योग्य है कि कवर्ग और चवर्ग आदि क्रमश: ओष्ठ की ओर आ रहे हैं। यह टवर्ग पाँचों वर्गों में मध्यस्थानीय है। मध्य तालु में जिह्वा के संयोग से इसका उच्चारण होता है। वर्गसंख्या और स्थान-प्रयत्न दोनों दशाओं में यह मध्यम है, अतएव टकार मध्यम, साधारण आदि अर्थों में आता है। साधारण दशा संशय, सन्दिग्ध, असमञ्जस भावयुक्त होती है, अत: टकार निर्बल अर्थ में भी लिया जाता है। निर्बलता ही संकुचित करती है, इसलिए संकोच या दबाब अर्थ में भी इसका उपयोग हुआ है। निर्बलता और दबाव प्राप्त करने की इच्छा कभी किसी की नहीं होती, इससे इसका अर्थ 'इच्छाविरुद्ध' भी हुआ है। तात्पर्य यह है कि टकार इन्हीं उपर्युक्त नम्र और निर्बल भावों का द्योतक है, जो इससे बने हुए कष्ट, नष्ट, भ्रष्ट आदि शब्दों से पाये जाते हैं। इन्हीं उपर्युक्त भावों को लेकर ही इसका  यह रूप भी बनाया गया है। इसमें मध्यम दशा और तालु में छुपी हुई जिह्वा के भावों का एकसाथ समावेश है। मध्यम दशा का प्रदर्शक  यह रूप है। आज तक जितने चित्रकार हुए हैं, सबने पूर्णता का  यह चित्र

बनाया है। इसके मध्य में एक रेखा डालने से  ऐसा रूप होगा। मध्य रेखा से उत्पन्न दोनों भागों को अलग कर डालें तो एक भाग का वही रूप होगा, जो ऊपर टकार का बतलाया गया है। इसी में अकार की रेखा जोड़ने से टकार का पूर्ण रूप होता है। बोलते समय टकार के उच्चारण में तालु को छूती हुई जिह्वा जो रूप धारण करती है, वही टकार का चित्र है।

इसी टकार में हकार जोड़ने से ठकार हो जाता है और अर्थ भी उलट जाता है। टकार के मध्यम, विकल और निर्बल आदि भाव दूर होकर निश्चय, प्रगल्भता, पूर्णता आदि भाव पैदा हो जाते हैं, जो इससे बने हुए कठिन, कठोर, शठ, मठादि शब्दों में पाये जाते हैं। टकार के रूप में केवल हकार की नाभिरेखा जोड़ने से यह  रूप बनता है। इसमें टकार का पूर्णरूप और हकार की रेखा मिली हुई है।

ड और ढ

जिस प्रकार क, ख, के बाद 'ग' और च, छ, के बाद 'ज' स्थानान्तर व प्रयत्नान्तर होने के कारण गति और उत्पत्ति आदि अर्थों में लिये गये हैं, उसी प्रकार ट, ठ के बाद भिन्न स्थान और भिन्न प्रयत्न से उच्चरित होने के कारण डकार भी क्रियार्थ में लिया गया है और 'डुकृञ्'=करणे धातु क्रियार्थ में व्यवहृत हुआ है। बिना दो पदार्थों के संयोग के कोई भी क्रिया नहीं हो सकती। संयोग भौतिक होता है, इसलिए यह संयोगात्मक क्रिया प्रकृति अर्थ में घटती है। यही कारण है कि डकार जड़, पिण्ड, रुण्ड, मुण्ड, प्रचण्डादि शब्दों में आकर अपनी जड़ता का परिचय दे रहा है। यही अर्थ इसके रूप से भी प्रकट होता है। क्रिया का चित्र  इससे अच्छा और नहीं हो सकता और न जड़ता का भाव ही इससे अधिक अन्य चित्र के द्वारा दिखाया जा सकता है। इसके सभी विभाग क्रिया में परिणत हैं, और संयोगिक भाव दिखा रहे हैं। इसके गठन (Constitution) से ही पता लगता है कि इसमें तनिक भी नम्रता, सजीवता नहीं है। इसी में अकार की रेखा जोड़कर इसका  यह पूर्ण रूप बनाया गया है।

इसी डकार में हकार जुड़ने से ढकार बनता है और डकार के विरुद्ध अर्थ ध्वनित करता है। जहाँ डकार क्रिया और अचेतन अर्थ में है, वहाँ ढकार निश्चित, निश्चल, धारित, आधिपत्यादि अर्थों में लिया गया है। इससे बने हुए आरूढ़, रूढ़ि आदि शब्द इसकी निश्चलता और सजीवता को बताते हैं, क्योंकि दृढ़ता बिना चेतन के हो ही नहीं सकती और बिना ज्ञान के कोई किसी पर आरूढ भी नहीं हो सकता और न निश्चलता अथवा आधिपत्य ही जमा सकता है। इसका रूप ... के लिए डकार में केवल हकार की नाभि रेखा मिलाने से  यह रूप बनता है।

त और थ

...कर टवर्ग तक जितने स्थानों और प्रयत्नों का वर्णन हुआ है, उनमें जिह्वा के लिए ...में आई, किन्तु टवर्ग से आगे बढ़ते ही जिह्वा को दाँतों की चौखट से टकराना ...चले स्थान में कुछ प्रयत्न करने पर जो शब्द सुनाई पड़ता है वह तकार

के योग।

प्रतीत होता है। तकार का उच्चारण दाँतों के तल भाग से होता है, इसलिए तकार तलस्थान, नीचे आदि अर्थों में प्रयुक्त हुआ है और 'त' धातु किनारे के अर्थ में व्यवहृत है। तल और पार में कोई अन्तर नहीं है। दोनों एक ही भाव के सूचक हैं। इन्हीं अर्थों के सूचित करानेवाले तल, तरल और तथा आदि शब्द हैं। इसका  यह रूप 'तल' आदि का भाव बता रहा है और निचले दाँतों का ढाँचा दर्शा रहा है। इसी में अकार का चिह्न जोड़ने से  यह पूर्ण रूप बन जाता है।

इसी 'त' में 'ह' मिलाने से 'थ' अक्षर बनता है और 'त' के विरुद्ध ऊपर ठहरना, आधेय आदि अर्थों को ध्वनित करता है। तकार नीचे अर्थ में है तो थकार ऊपर अर्थ में है। 'त' इधर तो 'थ' उधर, तकार आधार तो थकार आधेय, तकार इस पार तो थकार उस पार का भाव सूचित करता है। तात्पर्य यह कि तकार या थकार दोनों एक सम्पुटपात्र की भाँति हैं। सम्पुटपात्र का जो भाग भूमि पर है वह 'त' और जो भाग ऊपर है वह 'थ' है। इसी प्रकार नदी का किनारा जो हमसे दूर है वह 'त' और जो हमारे पास है वह 'थ' है। तकार में हकार की नली जोड़कर थकार का रूप बनाया गया है जो  इस प्रकार है।

द और ध

कवर्ग में 'ग' चवर्ग में 'ज' टवर्ग में 'ड' जिस प्रकार स्थानान्तर होने के कारण गति, जन्म और क्रिया के वाचक हुए हैं, उसी प्रकार तवर्ग में दकार भी स्थानान्तर होने के कारण गति का अर्थ रखता है और 'दा' धातु का देना अर्थ होता है जो स्थानान्तर, परिवर्तन आदि का वाचक है, क्योंकि जब कोई पदार्थ किसी को दिया जाता है तब उसका स्थानान्तर अवश्य होता है—गति अवश्य होती है—क्रिया अवश्य होती है, परिवर्तन, नूतनत्व और जन्म अवश्य होता है, इसीलिए दकार का अर्थ स्थानान्तर, अर्थात् दान किया गया है। यही भाव इसके रूप में भी दिखलाया गया है। पूर्णता अथवा किसी भण्डार का चित्र  यही हो सकता है। पूर्ण पदार्थ से अगर कुछ निकाल लिया जाए—दे दिया जाए—स्थानान्तर कर दिया जाए तो वह कम दिखलाई पड़ेगा और जितनी क्षति हुई होगी वह भी दिखेगी। दकार के  इस रूप में ये दोनों बातें दिखाई गई हैं। इस रूप से अच्छी प्रकार प्रकट हो रहा है कि किसी पूर्ण वस्तु से नीचे का भाग=लटकता भाग निकाल डाला गया है—दे दिया गया है। इसी में अकार का चिह्न जोड़ने से  इस प्रकार का पूर्ण 'द' बनता है।

इसी दकार में हकार जोड़ने से 'ध' होता है। जहाँ दकार का अर्थ देना होता है, वहाँ धकार का अर्थ तद्विरुद्ध न देना, अर्थात् धारण करना, रख लेना आदि होता है। इसी अभिप्राय से 'ध' धातु का अर्थ ही धारण करना है, जिससे धरणी, धृति, धैर्यादि शब्द बनते हैं। इसका रूप केवल दकार में हकार का चिह्न मिलाने से  इस प्रकार का बनता है।

प और फ

कण्ठ, तालु और दन्त के तल भाग में होते हुए ओष्ठों की ओर आकर ओष्ठ से जो प्रथम अक्षर उच्चरित होता है वह 'प' है। पवर्ग को छोड़कर सभी अक्षरों के उच्चारण में मुखद्वार खुला रहता है, किन्तु पकार के उच्चारण का संकल्प होते ही ओष्ठ-कपाट बन्द हो जाते हैं और शब्दधारा मुख-की-मुख में ही रह जाती है—वहीं रक्षित हो जाती है। इसी कारण पकार रक्षा अर्थ में आया है। इसी से 'पा'=रक्षणे धातु बनाया गया है और पा पिता, पातु, पालन आदि शब्दों में प्रयुक्त हुआ है। इसका रूप दो ओष्ठों को '' इस प्रकार जोड़कर रक्षारूपी सन्दूक़ का चित्र बनाते हुए  इस प्रकार बनाया गया है। इसी में अकार की मात्रा जोड़ने से  यह रूप बन जाता है।

इसी पकार में हकार मिलने से 'फ' होता है और 'प' के विरुद्ध खोलना और खुलना आदि का अर्थ रखता है। जिस प्रकार रक्षित का अभिप्राय बन्द होना है, उसी प्रकार अरक्षित का अभिप्राय खुला हुआ होता है। ओष्ठ बन्द करके हकार का उच्चारण करने से फकार सुनाई पड़ेगा। जिस प्रकार सन्दूक़ में छोटा-सा छिद्र कर देने से सन्दूक़ में रक्षित पदार्थ अपनी सूचना बाहर देने लगते हैं, उसी प्रकार बन्द ओष्ठों में तनिक-सा छिद्र करके हकार का उच्चारण करने से फकार अपना रूप प्रदर्शित करता है। यही कारण है कि इससे बने हुए फुल्ल, प्रफुल्ल, स्फुट, प्रस्फुट, स्फुरण आदि शब्द खुलने अर्थ में आते हैं। इसका रूप फकार में हकार का चिह्न जोड़कर  इस प्रकार बनाया गया है।

ब और भ

कवर्ग का गकार, चवर्ग का जकार, टवर्ग का डकार और तवर्ग का दकार जिस प्रकार स्थानान्तर होने के कारण क्रमशः गति, जन्म, क्रिया और देना आदि अर्थ रखते हैं, ठीक उसी प्रकार पकार और फकार के आगे ओष्ठ के सहारे गालों के प्रयत्न को प्रबल बनाने से बकार अक्षर बनता है और अन्तर्गति, अर्थात् घुसना, समाना, छिपना आदि भावों को सूचित करनेवाला अर्थ रखता है। इस छिपाव वा गुप्त क्रिया का भाव लेकर इसका  यह रूप बनाया गया है। बीच की रेखा छिपा हुआ भाव दिखा रही है और बाहर का चौकोर घेरा कोठरी का सङ्केत करता है। इसी में अकार रेखा जोड़ने से  यह रूप बनता है।

इसी वकार में हकार मिलने से 'भ' अंक्षर बनता है और वकार के विरुद्ध प्रकट, ज़ाहिर, बाहर आदि अर्थ रखता है, इसलिए 'भा' धातु प्रकाश अर्थ में आता है और इसी से आभा, प्रभा आदि शब्द बनते हैं। इसका रूप बकार में हकार का चिह्न मिलाकर  इस प्रकार बनाया गया है।

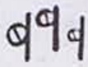
ष, श और स[१]

जितने अक्षर केवल प्रयत्न से बोले जाते हैं वे स्वर और जिनमें स्थान-प्रयत्न दोनों का उपयोग होता है, वे व्यंजन हैं। ये ष, श, स भी स्वर ही होते यदि अपने-अपने स्थान को न

१. वर्त्तमान प्रचलित वर्णमाला में प्रथम 'ष' द्वितीय 'श' के स्थान में और द्वितीय 'श' प्रथम 'ष' के स्थान में लिखा जाता है।

पकड़ते। अ, ई, उ की भाँति मुख में एक सीटी का-सा स्वर भी होता है। उसी स्वर को लेकर ये तीनों अक्षर छोटी, बड़ी ध्वनि के कारण तीन प्रकार के हो गये हैं और छोटे-बड़े क्रम से एक ही अर्थ रखते हैं। किसी को दूर से सूचना देने के लिए पहले समय में शंख, फिर नफ़ीरी और आजकल बिगुल काम में आता है, परन्तु थोड़े अन्तर के लिए सीटी और बहुत ही थोड़े अन्तर के लिये सकार का ही प्रयोग होता है। मुम्बई में तो इसकी इतनी अधिकता है कि बिना इसके काम ही नहीं चलता। वहाँ दूसरे को सूचना देने के लिए यह काम में लाया जाता है। दूसरे को सूचना देना अपने अभिप्राय का प्रकाश करना है, इसीलिए इन तीनों अक्षरों का अर्थ 'प्रकाश करना' ही होता है। इनमें जो अक्षर जितना प्रबल, अर्थात् बड़ा है, उससे उतने ही दर्जे का प्रकाश बोध कराया गया है। अधिक-से-अधिक प्रकाश, अर्थात् हस्तामलक प्रकाश को ज्ञान कहते हैं, इसलिए इन तीनों में प्रथम 'ष' का अर्थ ज्ञान होता है, जिससे ऋषि आदि शब्द बनते हैं।

मध्यम शकार से प्रकाश, आकाश, नाश आदि शब्द बनते हैं और प्रत्यक्ष, आग्नेय, प्रकाश का अर्थ रखते हैं।

इसी प्रकार अन्तिम सकार से सूचना पहुँचाना, प्रकट करना, प्रकाशित करना अर्थ लिया गया है और 'स=शब्दे' धातु बनाया गया है, जिससे ह्लसति आदि परस्मैपदसूचक शब्द बनते हैं। 'स' साथ अर्थ में भी आता है और बहुधा तृतीयपुरुष के लिए भी प्रयुक्त होता है। इन दोनों से भी प्रकट करना ही अर्थ निकलता है, क्योंकि जो साथ है वह प्रकट है ही और जो तृतीय दूर खड़ा है वह भी प्रकट ही है। इन्हीं भावों को लेकर ष, श, स का रूप बनाया गया है। मुख के तालुप्रदेश में जिह्वा को लगाकर 'आ' शब्द की सहायता से ये उच्चरित होते हैं। इसी के अनुरूप इनका रूप बनाया गया है। इनके रूप में 0 यह भाग मुखाकृति का है। इनमें '' इस प्रकार जिह्वा और तालु का रूप और '।' इस प्रकार अकार का रूप लगाया गया है और तीनों के रूपों को क्रमशः इस  प्रकार पूर्णता को पहुँचाया गया है।

क्ष, त्र और ज्ञ।

क्ष, त्र, ज्ञ संयुक्ताक्षर हैं। 'क' और 'ष' के संयोग से 'क्ष', 'त' और 'र' के संयोग से 'त्र' तथा 'ज' और 'ञ' के संयोग से 'ज्ञ' बना है। ककार का अर्थ बाँधना, रोकना और षकार[1] का अर्थ ज्ञान है, इसलिए दोनों से बने हुए 'क्ष' का अर्थ रुका हुआ ज्ञान, बन्द ज्ञान, अज्ञान, निर्जीव, अर्थात् नाश अथवा मृत्यु आदि होता है। इससे बने हुए क्षय, क्षयी और पक्ष आदि शब्द नष्टात्मक अर्थ को बतलाते हैं। इसका रूप भी उक्त दोनों अक्षरों के योग से  इस प्रकार बना है। इसमें 'क' और 'ष' का रूप मिला हुआ है।

'त्र' में तकार का अर्थ नीचे तक और रकार का अर्थ देना है। दोनों को मिलाकर त्रकार का अर्थ नीचे तक देना, सब देना, कुल देना होता है। यही कारण है कि 'त्र' एकत्र, सर्वत्र आदि शब्दों में आकर कुल, सर्व आदि अर्थ सूचित करता है। इसका रूप तकार और रकार के संयोग से  इस प्रकार बना है।

'ज्ञ' अक्षर में जकार का अर्थ जन्म और ञकार का अर्थ नहीं है, अतः दोनों से बने हुए ज्ञकार का अर्थ अजन्मा, नित्य आदि हुआ। संसार में अजन्मा और नित्य दो ही पदार्थ हैं, एक चेतन दूसरा जड़। एक का गुण कर्म है और दूसरे का गुण ज्ञान है, इसीलिए यह 'ज्ञ' कर्म सूचित

कराने के लिए यज्ञ आदि शब्दों में और ज्ञान सूचित कराने के लिए ज्ञान और प्रज्ञा आदि शब्दों में आता है और ज्ञा धातु ज्ञान अर्थ बतलाता है। इसका रूप 'ज' और 'ञ' के संयोग से  इस प्रकार बना है।

ळ

ळकार के उच्चारण करने में मुख के सारे स्थान और सारे प्रयत्न काम में लाये जाते हैं, इसीलिए समस्त स्थान-प्रयत्न से उत्पन्न होनेवाले इस अक्षर का अर्थ वाणी लिया गया है, क्योंकि वाणी सब स्थानों और प्रयत्नों से बनती है। वेद के **'अग्निमीळे'** मन्त्र में यह अक्षर **'ईळे'** शब्द में आता है। वेद में ही एक जगह लिखा है कि **'ईळे गिरा मनुर्हितम्'** (ऋग्वेद ८।१९।२१) अर्थात् मनुष्य की वाणी का नाम इळा है। इसी प्रकार निघण्टु में भी **'ईळा'** शब्द वाणी के पर्याय में कहा गया है। इसका रूप मुखाकृति और शब्दाकृति के समस्त अवयवों से बनाया गया है। '()' इस अकाराकृति, '०' इस अनुस्वाराकृति और '।' इस शब्दधाराकृति के योग से वाणी का सारा विषय स्पष्ट होता है, अतः इन तीनों चिह्नों के योग से इसका  यह रूप बनाया गया है।

धातुविज्ञान।

जिन अक्षरों का अब तक वर्णन किया गया है, उन्हीं से धातु बने हैं और उन्हीं धातुओं से शब्द तथा उन्हीं शब्दों से ही वाक्य, अर्थात् वेदों के मन्त्र भी बने हैं। किस प्रकार एक-एक अक्षर अपना वैज्ञानिक अर्थ रखता है और किस प्रकार वह अपनी ध्वनि, बनावट, प्रभाव और लिपि से विज्ञानयुक्त सिद्ध होता है, यह गत पृष्ठों में अच्छी प्रकार दिखला दिया गया है। अब यहाँ इस बात के दिग्दर्शन कराने का यत्न करते हैं कि उन्हीं वर्णार्थों से किस प्रकार धात्वर्थ निकलता है। पाणिनिमुनि ने बहुत ही आदिमकालीन धातुकोष को संचित करके 'धातुपाठ' के नाम से एक पुस्तिका संकलित कर दी है। यद्यपि इस धातुपाठ में बहुत-सी धातुएँ वेदों में आये हुए शब्दों के अतिरिक्त शब्दों की भी हैं, तथापि वेदों के शब्दों को सुलझानेवाले धातु भी अधिक परिमाण में हैं। हम यहाँ कुछ धातुओं का अक्षरार्थ करके देखते हैं और पता लगाते हैं कि क्या हमारे अक्षरार्थ के साथ उनका मेल मिलता है? सबसे पहले हम निश्चित किया हुआ अक्षरार्थ लिखते हैं और फिर धातुपाठ के कुछ धातुओं से उनका सम्बन्ध दिखलाते हैं।

अ—सब, पूर्ण, व्यापक, अव्यय, एक, अखण्ड, अभाव, शून्य।

इ—वाला (जैसे मकानवाला) गति, निकट।

ए—नहीं गति, गतिहीन, निश्चल, पूर्ण, अव्यय।

उ—ऊपर, दूर, वह, तथा और आदि।

ओ—अन्य नहीं, वही, दूसरा नहीं।

ऋ—सत्य, गति, बाहर।

---

१. षकार भी स्वर से मिलता हुआ एक प्रकार का अर्ध स्वर ही है, इसीलिए यह क्षकार अक्षर को उत्पन्न कर सका है। 'त्र' में जिस प्रकार 'ऋ' स्वर मिला है और 'ज्ञ' में 'ञ' अनुस्वार रूपी स्वर का प्रतिनिधि मिला है, उसी प्रकार 'क्ष' में भी 'ष' मिला है जो एक प्रकार का स्वर ही है, इन्हीं तीनों स्वरों की सहायता से ये तीनों स्वतन्त्र अक्षर माने गये हैं।

लृ—सत्य, गति, भीतर।
०, ञ, ण, न ङ, ꣿ—नहीं, अभाव, शून्य।
:, ह—निश्चय, अन्त, अभाव, संकोच, निषेध।
क—बाँधना, बलवान्, बड़ा, प्रभावशाली, सुख।
ख—आकाश, पोल, खुला, छिद्र।
ग—गमन, हटना, स्थान छोड़ना, पृथक् होना।
घ—रुकावट, ठहराव, एकाग्रता।
च—फिर, पुनः, बाद, दूसरा, अन्य, भिन्न, अपूर्ण, अङ्गहीन, खण्ड।
छ—छाया, आच्छादन, छत्र, परिच्छद, अखण्ड आदि।
ज—पैदा होना, जन्म लेना, उत्पन्न होना, नूतनत्व, गति।
झ—नाश होना।
ट—मध्यम, साधारण, निर्बल, संकोच, इच्छाविरुद्ध।
ठ—निश्चय, प्रगल्भता, पूर्णता।
ड—क्रिया, प्रकृति, अचेतन, जड़।
ढ—निश्चित, निश्चल, धारित, चेतन।
त—तलभाग, नीचे, इधर, आधार, इस पार, किनारा, अन्तिम स्थान।
थ—ठहरना, आधेय, ऊपर, उधर, उस पार।
द—गति, देना, कम करना।
ध—न देना, धारण करना, रख लेना।
प—रक्षा।
फ—खोलना, खुलना।
ब—घुसना, समाना, छिपना।
भ—प्रकट, ज़ाहिर, बाहर, प्रकाश।
य—पूर्ण गति, जो, भिन्न वस्तु।
र—देना, रमण करना।
ल—लेना, रमण करना।
व—अन्य, पूर्ण भिन्न, अथवा, गति, गन्ध।
ष—ज्ञान, **श**—प्रकाश, **स**—साथ, शब्द, वह।
क्ष—बन्ध ज्ञान, अज्ञान, निर्जीव, नाश, मृत्यु।
त्र—नीचे तक देना, कुल देना, सब देना, कुल, सब, सर्व, समग्र।
ज्ञ—अजन्मा, नित्य, कर्म, ज्ञान।
ळ—वाणी।

इस अक्षरार्थ में ही अनेक अर्थों का भाव लक्षित और व्यञ्जित होता है, परन्तु जब कई अक्षर एक में मिलकर धातुरूप धारण करते हैं, तब उस मिश्रण से और भी अनेक भाव उत्पन्न हो जाते हैं। जैसे प्रत्येक ओषधि में अनेक गुण होते हैं, परन्तु जब अनेक ओधषियों का सम्मिश्रण होता है तब पहले गुणों की अपेक्षा अनेक गुना अधिक नवीन गुणों का प्रादुर्भाव हो जाता है, इसी प्रकार वर्णार्थों और धातुओं के सम्मिश्रण में भी अधिकाधिक अर्थों की सम्भावना है, इसलिए

यह न समझ लेना चाहिए कि धातुओं का अर्थ जितना धातुपाठ में है उतना ही है, अधिक नहीं। इस विषय में पाणिनिमुनि ने अष्टाध्यायी ६।१।९ में एक '**सन्यङोः**' सूत्र लिखा है। उसपर पतञ्जलिमुनि ने महाभाष्य में लिखा है कि '**बह्वर्था अपि धातवो भवन्ति**', अर्थात् धातुएँ बहुत अर्थवाली भी होती हैं। इसपर स्वामी दयानन्द सरस्वती 'ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका' के 'व्याकरण प्रक्रियाविषय:' में लिखते है कि 'इस महाभाष्यकार के वचन से यह समझना चाहिए कि धातुपाठ में धातुओं के जितने अर्थ लिखे हैं उससे अधिक और भी बहुत अर्थ होते हैं जैसे 'ईड' धातु का स्तुति करना अर्थ तो धातुपाठ में है पर 'चोदना' आदि भी समझे जाते हैं'।

धातुएँ दो प्रकार की हैं—एक स्वाभाविक और दूसरी कृत्रिम। वेद के शब्दों की जितनी धातुएँ हैं वे स्वाभाविक हैं और मनुष्यों की कल्पना से जो धातुएँ बनी हैं वे कृत्रिम हैं। जो कृत्रिम हैं उनके लिए विश्वासपूर्वक नहीं कहा जा सकता कि वे वैज्ञानिक आधार पर अक्षरार्थों के अनुसार बनाई गई होंगी, किन्तु जो वैदिक हैं—ईश्वरकृत हैं, उनके लिए कभी यह शंका ही नहीं हो सकती कि वे अक्षरार्थ के अनुसार हैं या नहीं, क्योंकि मनुष्य के मुख के समस्त स्थान और प्रयत्नों की रचना परमात्मा ने ही की है। उसी ने इतने वर्ण मनुष्य के मुख से उच्चरित होने का आयोजन किया है और उसी ने उन वर्णों के द्वारा मनोभाव प्रकट करने का सामर्थ्य दिया है, इसलिए यह असम्भव है कि उसने उन वर्णों का कुछ भी अर्थ न सोचा-समझा हो और यह निर्विवाद है कि उसका सोचा-समझा सार्थक होता है, अतएव ईश्वरकृत धातुएँ वर्णार्थों के अनुसार ही बनी हैं, इसमें तनिक-सा भी सन्देह नहीं है। जो हाल धातुओं का है वही प्रत्ययों का भी है। प्रत्यय भी एक प्रकार के शब्द ही हैं। उनके भी अर्थ निश्चित हैं और अक्षरार्थों के अनुकूल ही हैं। यही हाल अव्यय, उपसर्ग, निपात और समस्त उन चिह्नों का है जो लिङ्गों, वचनों, विभक्तियों, कालों और अन्यान्य स्थानों में प्रयुक्त होते हैं, किन्तु यहाँ इन सबपर विचार करने का न तो समय ही है और न इस पुस्तक में स्थान ही है, इसलिए यहाँ पर थोड़ी-सी धातुओं का वर्णविश्लेषण करके दिखलाते हैं कि वे किस प्रकार विज्ञानमूलक हैं और अक्षरार्थ के अनुकूल हैं।

भग्—भ=प्रकाश, ग=गति, अर्थात् गतिमान् प्रकाश=ऐश्वर्य।

आप्—आ=चारों ओर से, प=रक्षा करना, अर्थात् चारों ओर से रक्षा करना=व्यापक।

णश्—ण=नहीं, श=प्रकाश, अर्थात् नहीं प्रकाश=अदर्शन।

अद्—अ=नहीं, द=देना, अर्थात् नहीं देना, रख लेना, पेट में डालना=भक्षण।

भू—भ=प्रकाश, उ=दूर तक, अर्थात् दूर तक प्रकाश, सदा प्रकट, सदैव विद्यमान=सत्ता।

आप्लृ—आ प्रत्येक ओर, प=रक्षा करना, लृ=भीतर गति, अर्थात् प्रत्येक ओर से भीतर रक्षा किये हुए=व्याप्ति।

चर्—च=बार-बार, र=बाहर गति, अर्थात् बार-बार बाहर गति=चलना।

मर्—म=नहीं, र=रमन, अर्थात् रमन नहीं, क्रिया नहीं, अस्तित्व नहीं=मरना।

हु—ह=अभाव, उ=दूर तक, अर्थात् दूर तक अभाव, बिलकुल नाश=दे देना, जला डालना।

मख—म=नहीं, ख=छिद्र, अर्थात् छिद्ररहितता, त्रुटिरहितता, त्रुटिरहित श्रेष्ठतम कर्म=यज्ञ।

हन्—ह=निश्चय, न=नहीं, अर्थात् निश्चयपूर्वक नहीं, बिलकुल अभाव=हिंसा।

यज्—इ=गति, अ=पूर्ण, ज=उत्पन्न करना, अर्थात् पूर्ण गति उत्पन्न करना=देवपूजा करना, संगति करना और दान देना।

सन्धिविज्ञान।

वैदिक भाषा में सन्धिविज्ञान भी बड़ी ही बुद्धिपूर्वक रचना के साथ स्थिर किया गया है। सन्धिविज्ञान दो सिद्धान्तों पर स्थिर है—एक तो वर्णमैत्री पर और दूसरे सुखोच्चारण पर। वर्णमैत्री का सिद्धान्त अधिकतर एक ही स्थान से उच्चरित होनेवाले वर्णों में पाया जाता है, परन्तु सुखोच्चारण का सिद्धान्त सरलता पर अवलम्बित है। यहाँ हम दोनों प्रकार के नमूने दिखलाते हैं। टकार की जब सकार के साथ सन्धि होती है तब सकार का रूप 'ष' हो जाता है। इसी प्रकार 'ऋ' के आसपास जब 'स' आता है तब उसका भी रूप 'ष' हो जाता है, जैसे—कष्ट, रुष्ट, पुष्ट और ऋषि, वर्षा, वृष आदि। इसका कारण यही है कि ऋ, ट और ष के उच्चरित होने का एक ही स्थान है। इसी प्रकार 'च' के साथ 'श' का भी सम्बन्ध है। पश्चात्, पश्चात्ताप, निश्चित और पुनश्च आदि प्रयोग इसी सिद्धान्त के अनुसार होते हैं। इसका भी कारण यही है कि 'च' और 'श' का उच्चारण एक ही स्थान से होता है। इसी प्रकार प्रत्येक वर्ग का प्रत्येक वर्ण अपने ही वर्ग के अनुनासिक से मिलता है, विपरीत से नहीं, जैसे—गङ्गा, चञ्चल, पण्डित, दन्त और शम्भु आदि, परन्तु जिन वर्णों के पास कोई निज का सानुनासिक नहीं है वे आवश्यकता पड़ने पर अनुस्वार के ही साथ मिलते हैं, जैसे संसार, वंश, हंस आदि। ये तो वर्णमैत्री के नमूने हैं। अब सुखोच्चारण के दो एक नमूने दिखलाते हैं।

यह सभी जानते हैं कि सत् और चरित्र एक साथ बोलने में कठिनाई होती है, क्योंकि 'त' दन्त्य है, उसका उच्चारण दाँत के पास से होता है और 'च' तालव्य है, उसका उच्चारण तालु से होता है। इस कठिनाई को हटाकर सुखोच्चारण बनाने के लिए तकार को भी चकार कर लिया गया और सत् चरित्र का सच्चरित्र हो गया। इसी प्रकार बृहत् जातक का बृहज्जातक और सत् इच्छा का सदिच्छा आदि प्रयोग किये जाते हैं। हम लिख आये हैं कि वर्ग का तृतीय अक्षर 'ह' के योग से वर्ग का चतुर्थ अक्षर हो जाता है। उसी नियम के अनुसार बृहद् हवन का बृहद्धवन हुआ है। अग्नि आधान का अग्न्याधान और मन: कामना का मनस्कामना आदि प्रयोग भी इसी सुखोच्चारण के लिए ही किये गये हैं। सम्भव है इसमें कुछ अपवाद भी हों, परन्तु वे बहुत थोड़े हैं। भाषा की प्रशस्त रचना उपर्युक्त सिद्धान्त पर ही हुई है, क्योंकि वर्णार्थवाली भाषा की सन्धि में यदि सुखद और स्वाभाविक वर्णविपर्यय का अवकाश न होता तो भाषा की दुरूहता बेहद बढ़ जाती। भाषा को अविचल और सार्थक रखने के लिए ही इतने कौशल के साथ अक्षरविज्ञान, धातुविज्ञान और सन्धिविज्ञान का आयोजन किया गया है, इसीलिए वैशेषिक दर्शन के आविष्कर्ता कणाद ऋषि कहते हैं कि '**बुद्धिपूर्वा वाक्यकृतिर्वेदे**'[1] अर्थात् वेदवाणी की रचना परमेश्वर ने बुद्धिपूर्वक की है।

यहाँ तक वैदिक भाषा की बुद्धिपूर्वक रचना के प्रत्येक अङ्ग की आलोचना से देखा गया कि उसके वर्ण सार्थक हैं। वर्णों से बननेवाली धातुएँ और सन्धियाँ भी सार्थक, बुद्धिपूर्वक और वर्णार्थ से युक्त हैं। उनकी एक भी मात्रा निरर्थक नहीं है, अतएव आदि सृष्टि में शब्द और ज्ञान का परस्पर इस प्रकार वैज्ञानिक सम्बन्ध रखनेवाली वैदिक भाषा सिवा परमात्मा के और किसी की रचना नहीं हो सकती। यद्यपि यह सत्य है और इस प्रकार का सत्य मनुवैवस्वत के समय से लेकर भारतदेश के बड़े-बड़े समाधिस्थ योगियों द्वारा अनुमोदित, अब तक एकरस, अविच्छिन्न रूप से चला आ रहा है और बड़ी-बड़ी विघ्न-बाधाओं का सामना करता हुआ ज्यों-का-त्यों

---

१. वैं० ६।१।१

यह न समझ लेना चाहिए कि धातुओं का अर्थ जितना धातुपाठ में है उतना ही है, अधिक नहीं। इस विषय में पाणिनिमुनि ने अष्टाध्यायी ६ । १ । ९ में एक '**सन्यङोः**' सूत्र लिखा है। उसपर पतञ्जलिमुनि ने महाभाष्य में लिखा है कि '**बह्वर्था अपि धातवो भवन्ति**', अर्थात् धातुएँ बहुत अर्थवाली भी होती हैं। इसपर स्वामी दयानन्द सरस्वती 'ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका' के 'व्याकरण प्रक्रियाविषयः' में लिखते है कि 'इस महाभाष्यकार के वचन से यह समझना चाहिए कि धातुपाठ में धातुओं के जितने अर्थ लिखे हैं उससे अधिक और भी बहुत अर्थ होते हैं जैसे 'ईड' धातु का स्तुति करना अर्थ तो धातुपाठ में है पर 'चोदना' आदि भी समझे जाते हैं'।

धातुएँ दो प्रकार की हैं—एक स्वाभाविक और दूसरी कृत्रिम। वेद के शब्दों की जितनी धातुएँ हैं वे स्वाभाविक हैं और मनुष्यों की कल्पना से जो धातुएँ बनी हैं वे कृत्रिम हैं। जो कृत्रिम हैं उनके लिए विश्वासपूर्वक नहीं कहा जा सकता कि वे वैज्ञानिक आधार पर अक्षरार्थों के अनुसार बनाई गई होंगी, किन्तु जो वैदिक हैं—ईश्वरकृत हैं, उनके लिए कभी यह शंका ही नहीं हो सकती कि वे अक्षरार्थ के अनुसार हैं या नहीं, क्योंकि मनुष्य के मुख के समस्त स्थान और प्रयत्नों की रचना परमात्मा ने ही की है। उसी ने इतने वर्ण मनुष्य के मुख से उच्चरित होने का आयोजन किया है और उसी ने उन वर्णों के द्वारा मनोभाव प्रकट करने का सामर्थ्य दिया है, इसलिए यह असम्भव है कि उसने उन वर्णों का कुछ भी अर्थ न सोचा-समझा हो और यह निर्विवाद है कि उसका सोचा-समझा सार्थक होता है, अतएव ईश्वरकृत धातुएँ वर्णार्थों के अनुसार ही बनी हैं, इसमें तनिक-सा भी सन्देह नहीं है। जो हाल धातुओं का है वही प्रत्ययों का भी है। प्रत्यय भी एक प्रकार के शब्द ही हैं। उनके भी अर्थ निश्चित हैं और अक्षरार्थों के अनुकूल ही हैं। यही हाल अव्यय, उपसर्ग, निपात और समस्त उन चिह्नों का है जो लिङ्गों, वचनों, विभक्तियों, कालों और अन्यान्य स्थानों में प्रयुक्त होते हैं, किन्तु यहाँ इन सबपर विचार करने का न तो समय ही है और न इस पुस्तक में स्थान ही है, इसलिए यहाँ पर थोड़ी-सी धातुओं का वर्णविश्लेषण करके दिखलाते हैं कि वे किस प्रकार विज्ञानमूलक हैं और अक्षरार्थ के अनुकूल हैं।

भग्—भ=प्रकाश, ग=गति, अर्थात् गतिमान् प्रकाश=ऐश्वर्य।

आप्—आ=चारों ओर से, प=रक्षा करना, अर्थात् चारों ओर से रक्षा करना=व्यापक।

णश्—ण=नहीं, श=प्रकाश, अर्थात् नहीं प्रकाश=अदर्शन।

अद्—अ=नहीं, द=देना, अर्थात् नहीं देना, रख लेना, पेट में डालना=भक्षण।

भू—भ=प्रकाश, उ=दूर तक, अर्थात् दूर तक प्रकाश, सदा प्रकट, सदैव विद्यमान=सत्ता।

आप्लृ—आ प्रत्येक ओर, प=रक्षा करना, लृ=भीतर गति, अर्थात् प्रत्येक ओर से भीतर रक्षा किये हुए=व्याप्ति।

चर्—च=बार-बार, र=बाहर गति, अर्थात् बार-बार बाहर गति=चलना।

मर्—म=नहीं, र=रमन, अर्थात् रमन नहीं, क्रिया नहीं, अस्तित्व नहीं=मरना।

हु—ह=अभाव, उ=दूर तक, अर्थात् दूर तक अभाव, बिलकुल नाश=दे देना, जला डालना।

मख—म=नहीं, ख=छिद्र, अर्थात् छिद्ररहितता, त्रुटिरहितता, त्रुटिरहित श्रेष्ठतम कर्म=यज्ञ।

हन्—ह=निश्चय, न=नहीं, अर्थात् निश्चयपूर्वक नहीं, बिलकुल अभाव=हिंसा।

यज्—इ=गति, अ=पूर्ण, ज=उत्पन्न करना, अर्थात् पूर्ण गति उत्पन्न करना=देवपूजा करना, संगति करना और दान देना।

सन्धिविज्ञान।

वैदिक भाषा में सन्धिविज्ञान भी बड़ी ही बुद्धिपूर्वक रचना के साथ स्थिर किया गया है। सन्धिविज्ञान दो सिद्धान्तों पर स्थिर है—एक तो वर्णमैत्री पर और दूसरे सुखोच्चारण पर। वर्णमैत्री का सिद्धान्त अधिकतर एक ही स्थान से उच्चरित होनेवाले वर्णों में पाया जाता है, परन्तु सुखोच्चारण का सिद्धान्त सरलता पर अवलम्बित है। यहाँ हम दोनों प्रकार के नमूने दिखलाते हैं। टकार की जब सकार के साथ सन्धि होती है तब सकार का रूप 'ष' हो जाता है। इसी प्रकार 'ऋ' के आसपास जब 'स' आता है तब उसका भी रूप 'ष' हो जाता है, जैसे—कष्ट, रुष्ट, पुष्ट और ऋषि, वर्षा, वृष आदि। इसका कारण यही है कि ऋ, ट और ष के उच्चरित होने का एक ही स्थान है। इसी प्रकार 'च' के साथ 'श' का भी सम्बन्ध है। पश्चात्, पश्चात्ताप, निश्चित और पुनश्च आदि प्रयोग इसी सिद्धान्त के अनुसार होते हैं। इसका भी कारण यही है कि 'च' और 'श' का उच्चारण एक ही स्थान से होता है। इसी प्रकार प्रत्येक वर्ग का प्रत्येक वर्ण अपने ही वर्ग के अनुनासिक से मिलता है, विपरीत से नहीं, जैसे—गङ्गा, चञ्चल, पण्डित, दन्त और शम्भु आदि, परन्तु जिन वर्णों के पास कोई निज का सानुनासिक नहीं है वे आवश्यकता पड़ने पर अनुस्वार के ही साथ मिलते हैं, जैसे संसार, वंश, हंस आदि। ये तो वर्णमैत्री के नमूने हैं। अब सुखोच्चारण के दो एक नमूने दिखलाते हैं।

यह सभी जानते हैं कि सत् और चरित्र एक साथ बोलने में कठिनाई होती है, क्योंकि 'त' दन्त्य है, उसका उच्चारण दाँत के पास से होता है और 'च' तालव्य है, उसका उच्चारण तालु से होता है। इस कठिनाई को हटाकर सुखोच्चारण बनाने के लिए तकार को भी चकार कर लिया गया और सत् चरित्र का सच्चरित्र हो गया। इसी प्रकार बृहत् जातक का बृहज्जातक और सत् इच्छा का सदिच्छा आदि प्रयोग किये जाते हैं। हम लिख आये हैं कि वर्ग का तृतीय अक्षर 'ह' के योग से वर्ग का चतुर्थ अक्षर हो जाता है। उसी नियम के अनुसार बृहद् हवन का बृहद्धवन हुआ है। अग्नि आधान का अग्न्याधान और मन: कामना का मनस्कामना आदि प्रयोग भी इसी सुखोच्चारण के लिए ही किये गये हैं। सम्भव है इसमें कुछ अपवाद भी हों, परन्तु वे बहुत थोड़े हैं। भाषा की प्रशस्त रचना उपर्युक्त सिद्धान्त पर ही हुई है, क्योंकि वर्णार्थवाली भाषा की सन्धि में यदि सुखद और स्वाभाविक वर्णविपर्यय का अवकाश न होता तो भाषा की दुरूहता बेहद बढ़ जाती। भाषा को अविचल और सार्थक रखने के लिए ही इतने कौशल के साथ अक्षरविज्ञान, धातुविज्ञान और सन्धिविज्ञान का आयोजन किया गया है, इसीलिए वैशेषिक दर्शन के आविष्कर्ता कणाद ऋषि कहते हैं कि '**बुद्धिपूर्वा वाक्यकृतिर्वेदे**'[१] अर्थात् वेदवाणी की रचना परमेश्वर ने बुद्धिपूर्वक की है।

यहाँ तक वैदिक भाषा की बुद्धिपूर्वक रचना के प्रत्येक अङ्ग की आलोचना से देखा गया कि उसके वर्ण सार्थक हैं। वर्णों से बननेवाली धातुएँ और सन्धियाँ भी सार्थक, बुद्धिपूर्वक और वर्णार्थ से युक्त हैं। उनकी एक भी मात्रा निरर्थक नहीं है, अतएव आदि सृष्टि में शब्द और ज्ञान का परस्पर इस प्रकार वैज्ञानिक सम्बन्ध रखनेवाली वैदिक भाषा सिवा परमात्मा के और किसी की रचना नहीं हो सकती। यद्यपि यह सत्य है और इस प्रकार का सत्य मनुवैवस्वत के समय से लेकर भारतदेश के बड़े-बड़े समाधिस्थ योगियों द्वारा अनुमोदित, अब तक एकरस, अविच्छिन्न रूप से चला आ रहा है और बड़ी-बड़ी विघ्न-बाधाओं का सामना करता हुआ ज्यों-का-त्यों

१. वै० ६।१।१

स्थिर है तथापि कुछ लोग वेदों की अपौरुषेयता पर शंका करने का साहस भी करते हैं।

भाषा की उत्पत्ति पर विचार करते हुए डॉक्टर मङ्गलदेव शास्त्री ने चार मतों का वर्णन करके दैवीशक्ति द्वारा भाषा की उत्पत्ति माननेवालों के मत का खण्डन किया है और निष्प्रयोजन ही वेदों के पीछे पड़ गये हैं। संसार में केवल वेद ही अपौरुषेयता (इलहाम) का दावा नहीं करते प्रत्युत क़ुरान, बाइबिल, तौरेत और गाथा आदि सभी साम्प्रदायिक ग्रन्थ अपौरुषेय कहलाते हैं, परन्तु डॉक्टर साहब ने वेदों की अपौरुषेयता पर ही पाँच आक्षेप किये हैं। आप अधिक आक्षेप नहीं कर सके। यदि वेदों में आपकी दृष्टि से ये पाँच शंकाएँ न होती तो निस्सन्देह आपको वेदों की अपौरुषेयता के विरुद्ध कुछ भी लिखने की हिम्मत न पड़ती, क्योंकि आर्यों और आधुनिक विद्वन्मण्डली के मतानुसार वेदों का प्रादुर्भाव लाखों वर्ष पूर्व हुआ है। लाखों वर्षों से वेदभगवान् आर्यों की वंशपरम्परा द्वारा स्मरणशक्ति के भरोसे सुरक्षित चले आ रहे हैं। इतने लम्बे काल में अनेक बार वेदों के विरुद्ध बड़े-बड़े उथल-पुथल हुए हैं। राक्षसों ने वेदों के नाश करने का कई बार प्रयत्न किया है। वेदों के नाम से जाली ग्रन्थ लिखे गये हैं और अनेक बार उनमें बड़े-से-बड़े प्रक्षेप करने का यत्न किया गया है। इस लम्बे काल में अनेक संकटों का सामना करते हुए यदि वेदों में केवल पाँच ही शंकाएँ पाई जाती हैं तो हम कहते हैं कि वेद धन्य हैं और वेदों के माननेवाले बड़े भाग्यशाली हैं। हम तो कहते हैं कि वेदों में यदि एक सौ शंकाएँ भी होतीं तो भी हम यही कहते कि इस दीर्घकालीन उथल-पुथल के ही कारण उनमें ये ग़लतियाँ आई हैं। डॉक्टर साहब ने जो शंकाएँ उपस्थित की हैं वे इस प्रकार की भी नहीं हैं तो भी आपकी शंकाओं को लिखकर उनके समाधान का यत्न करते हैं।

१. पहली शंका में आप कहते हैं कि 'संस्कृत-वर्णविज्ञानियों के अनुसार 'अ' और 'इ' का दीर्घ रूप 'आ' और 'ई' है, परन्तु वास्तव में देखा जाए तो ऐसा नहीं है। ह्रस्व और दीर्घ का भेद कालकृत होता है, परन्तु ह्रस्व 'इ' को कितनी ही देर तक हम उच्चारण करें वह 'ई' नहीं बन जाएगी। इसी प्रकार 'ई' को कितनी ही शीघ्रता से उच्चारण करने से 'इ' सुनाई नहीं देगी। इसी प्रकार आजकल जिस प्रकार 'अ' बोला जाता है वह 'आ' का ह्रस्व रूप नहीं हो सकता। 'अ' के बाद 'आ' के उच्चारण करने में यही नहीं कि देर तक 'अ' का उच्चारण करना चाहिए किन्तु 'आ' के उच्चारण में मुख को 'अ' की अपेक्षा अधिक खोलने की आवश्यकता होगी तथा जिह्वा के पिछले भाग को कुछ ऊपर उठाना पड़ेगा' (पृ० २३७)।

इसके आगे आप कहते हैं कि 'ऋ का उच्चारण क्या था सो ज्ञात नहीं'।

२. दूसरी शंका में आप कहते हैं कि 'संस्कृत भाषा में यह एक साधारण नियम है कि एक शब्द के अन्दर विवृति (अर्थात् दो समीपस्थ स्वरों की परस्पर सन्धि न होकर प्रकृतिभाव से) नहीं देखी जाती, परन्तु ऋग्वेद (१०।७१।२) में आया हुआ 'तितउ' शब्द इसका अपवाद है। इसका कारण यही हो सकता है कि यह शब्द शुद्ध वैदिक न होकर उस समय की सर्वसाधारण की प्राकृत भाषा से लिया गया होगा' (पृ० १८२)।

३. तीसरी शंका में आप कहते हैं कि 'इसमें सन्देह नहीं कि वैदिक समय में भी भाषा में प्रादेशिक भेद पाये जाते थे। इस बात की पुष्टि 'कृ' धातु के 'कुरु' तथा 'कृणु' जैसे रूपभेदों के ऋग्वेद आदि में पाये जाने से तथा इसी प्रकार के दूसरे प्रमाणों से होती है' (पृ० २५१)।

४. चौथी शंका में आप कहते हैं कि 'कर्मन् से कर्माणि बनना तो समझ में आ सकता है परन्तु 'गृह' और 'हरि' जिनमें 'न्' है ही नहीं उनसे बननेवाले 'गृहाणि' और 'हरिणा' शब्द समझ में नहीं आते। इसका सादृश्य ही कारण हो सकता है। बच्चों की भाषा में इस प्रकार

सादृश्य से बने हुए अनेक शब्द देखे जाते हैं' (पृ० १३९)।

५. पाँचवीं शंका में आप कहते हैं कि निम्न शब्दों से ज्ञात होता है कि संस्कृत के शब्द दूसरी भाषा से निकले हैं—

संस्कृत	लेटिन	ग्रीक	अंग्रेज़ी	जर्मन
विंशतिः	Viginti	—	Twenty	Zwanzig (ट्स्वान्ट्सिक)
दुहितृ	—	Thugater	Daughter	Tochter (टॉख़्टर)
हंसः	—	Chen (ख़ेन)	Goose	Gans

उदाहरणार्थ जब विंशति के पूर्व भाग में 'त' है ही नहीं तब उससे अंग्रेज़ी का Twenty (ट्वेन्टी) कैसे निकल सकता है ? इस कारण संस्कृत दूसरों की मूलभाषा कैसे हो सकती है ? (पृ० १८१)। इसी प्रकार दुहितृ और हंस के पर्यायवाचक शब्दों में इनके 'ह' के स्थान में 'ग्' आदि अक्षरों को देखकर यह सिद्ध होता है कि दुहिता और हंस मूल या आदिभाषा के शब्द नहीं हो सकते, क्योंकि घ, ध, भ आदि से 'ह' का बनना तो स्वाभाविक है जैसे लौकिक संस्कृत के 'ग्रह' धातु के स्थान में वेद में 'ग्रभ' या 'सह' (=साथ) के स्थान में 'सध' आता है। 'ह' से 'घ' आदि का बनना वैसा नहीं है। (पृ० १८२)।

इनमें से पहली शंका अ, ई और ऋ आदि के उच्चारणों से सम्बन्ध रखती है। आप कहते हैं कि ह्रस्व और दीर्घ 'इ' और 'अ' का भेद कालकृत नहीं, प्रत्युत स्थान यौर प्रयत्नकृत है, क्योंकि दीर्घ को कितनी ही जल्दी बोलने से वह ह्रस्व नहीं होता और न ह्रस्व को देर तक बोलने से वह दीर्घ होता है, परन्तु हम कहते हैं कि इसमें ग़लती है। ह्रस्व और दीर्घ का भेद कालकृत ही है। स्थान और प्रयत्न का जो भेद दिखलाई पड़ता है वह काल के ही कारण दिखलाई पड़ता है। जब ह्रस्व 'इ' का उच्चारण होता है तो 'इ' को बोलकर तुरन्त ही शब्द बन्द कर दिया जाता है, इसलिए स्थान और प्रयत्न को अधिक बल नहीं लगाना पड़ता, परन्तु जब दीर्घ का उच्चारण किया जाता है तब शब्द को अधिक देर तक स्थायी रखने के लिए मुख में वायु की मात्रा अधिक जमा करनी पड़ती है, इसलिए स्थान और प्रयत्न दोनों में विशेष विकृति करनी पड़ती है। जिस प्रकार सूत का धागा तोड़ने में जिन-जिन शरीरावयवों का उपयोग होता है, उसी प्रकार ज़ंजीर तोड़ने में भी उन्हीं अवयवों का उपयोग होता है, परन्तु धागा तोड़ते समय हमको शरीर में कुछ भी विकृतता ज्ञात नहीं होती और ज़ंजीर तोड़ते समय शरीरावयवों के उपयोग का—उनकी विकृतता का प्रत्यक्ष दर्शन होता है। उसी प्रकार ह्रस्व और दीर्घों के उच्चारण यद्यपि एक ही स्थान प्रयत्न से होते हैं, किन्तु दीर्घों को देर तक बोला जाता है, इसलिए देर तक वायु द्वारा शब्द करते रहने के लिए मुखावयवों में प्रत्यक्ष विकृतता करनी पड़ती है, परन्तु ह्रस्व अनायास मुँह से निकल जाते हैं, इसलिए कुछ भी विकृतता नहीं करनी पड़ती। कहने का तात्पर्य यह कि दोनों के स्थान-प्रयत्न एक ही हैं, केवल दीर्घों को देर तक बोलने के लिए स्थान और प्रयत्न में स्पष्टता करनी पड़ती है, इसलिए ह्रस्व-दीर्घ का भेद—इ, ई, और अ, आ, का भेद—कालकृत ही है, स्थानकृत नहीं। यदि ह्रस्व और दीर्घ में कालकृत भेद न होता तो छन्दों में—तालों में लघु और गुरु का भेद न होता। एक मात्रा दो मात्रा से छोटी न होती और न उसका ताल मान (जो कालकृत है) ही छोटा होता, इसलिए ह्रस्व और दीर्घ का भेद कालकृत ही है।

इसी प्रकार 'ऋ' के उच्चारण के लिए आप कहते हैं कि नहीं कहा जा सकता कि पूर्व काल में 'ऋ' का उच्चारण किस प्रकार होता था। आपको यह शंका ज़न्दभाषा के एरे, दक्षिणियों के 'रु' और उत्तरीयों के 'रि' उच्चारण से हुई है। ज़न्दभाषा इस समय जिस लिपि में लिखी जाती

है, उसमें 'ऋ' के लिए जो अक्षर बनाया गया है वह 'ए' और 'रे' के संयोग से ही बनाया गया है, इसीलिए उसका उच्चारण एरे होता है, जो ठीक नहीं है। इसी प्रकार भारत के 'रु' और 'रि' उच्चारण भी ठीक नहीं है, किन्तु इसका तात्पर्य यह नहीं है कि उसके असली उच्चारण का अब पता लग ही नहीं सकता। उसका पता अइउण् सूत्रों के द्वारा ही लग सकता है। हयवरट् सूत्र को ध्यानपूर्वक पढ़ने से 'ऋ' के उच्चारण का पता मिल सकता है। 'य' की रचना 'इ' और 'अ' के योग से हुई है। जिस प्रकार 'व' से 'अ' निकाल डालने पर 'उ' का शुद्ध रूप निकल सकता है, उसी प्रकार 'र' से 'अ' निकाल डालने पर 'ऋ' का भी शुद्ध रूप निकल सकता है, परन्तु इतना सब करे कौन? हाँ, यदि थोड़ी देर एकान्त में बैठकर और 'र' से 'अ' निकालकर कोई मनुष्य 'ऋ' का उच्चारण करने का प्रयत्न करे तो निस्सन्देह उसका शुद्ध उच्चारण कर सकता है। इसी प्रकार दूसरे उच्चारणों के विषय में भी समझना चाहिए।

दूसरी शंका ऋग्वेद के 'तितउ' शब्द की है। यह शब्द ऋग्वेद १०।७१ के जिस मन्त्र में आया है उसका आवश्यक अंश **'सक्तुमिव तितउना पुनन्तः'** है। इसका अर्थ यह होता है कि जैसे सक्तुओं को छाननी (चलनी) पवित्र करती है। यहाँ 'तितउ' शब्द बिना सन्धिबन्धन के है, इसीलिए आप इसको कहीं बाहर से आया हुआ बतलाते हैं। आप कहते हैं कि 'संस्कृतभाषा में यह एक साधारण नियम है कि एक शब्द के अन्दर विवृति नहीं देखी जाती, परन्तु 'तितउ' शब्द इसका अपवाद है', किन्तु आपको यह ज्ञात नहीं है कि संस्कृत के साधारण नियम वेदों में काम नहीं देते। **'बहुलं छन्दसि'** सूत्रों में वेदों के सैकड़ों अपवाद बतलाये गये हैं जो संस्कृत के साधारण नियमों में नहीं आते। ऐसी दशा में क्या समस्त अपवादों को आप बाहर का आया हुआ बतलाएँगे? संस्कृत का साधारण नियम है कि अकारान्त पुल्लिङ्ग द्विवचन में औ होता है, जैसे—रामौ, किन्तु वेद के **'द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया'** मन्त्र में यह नियम नहीं देखा जाता, ऐसी दशा में क्या आप 'द्वा' आदि प्रयोगों को कहीं बाहर का बतलाने की कृपा करेंगे? 'तितउ' शब्द यदि बाहर का होता तो प्राचीन वैदिक वैय्याकरणों को उसके मूल का पता न होता और न उसकी सिद्धि ही बतलाई जाती, किन्तु हम उणादि में देखते हैं कि वहाँ स्पष्ट **'तनोतेर्डउः सन्वच्च'**[1] लिखा हुआ मिलता है। जिससे ज्ञात होता है कि 'तितउ' शब्द 'तन्' धातु में 'डउ' प्रत्यय करने से बनता है।

अब यहाँ देखना चाहिए कि 'तन्' में 'डउ' की सन्धि हो सकती है या नहीं। हम पहले ही लिख आये हैं कि सन्धिविज्ञान वर्णमैत्री और सुखोच्चारण के सिद्धान्त पर स्थिर है। यहाँ न, ड, और उ, में वर्णमैत्री नहीं है। बीच में 'ड' आजाने से 'उ' 'तन्' के पास नहीं आ सकता, इसीलिए 'उ' 'त' में न जुड़ सका। यह वैदिक भाषा का सूक्ष्म नियम है। इसको प्रचलित साधारण लौकिक नियमों के साथ मिलाने से कैसे काम चल सकता है? **'तितउ चालनिः उमान्'** की उक्ति उच्च वैय्याकरणों में प्रचलित है। इसका वर्णन निरुक्त और उणादि में आया है। यह शब्द बहुत दिनों से वैय्याकरणों की दृष्टि के सामने हैं, इसलिए न यह कोई नई खोज है और न कोई ऐसा प्रमाण है, जिससे इस शब्द को कहीं बाहर का बताया जा सके। यदि यह 'तितउ' शब्द बाहर का है तो सक्तू, अर्थात् सत्तू शब्द भी बाहर का ही होगा, परन्तु यह बात नहीं है। सक्तू वैदिकों का ही शब्द है। यदि सत्तू शब्द बाहर का नहीं है तो क्या सत्तुओं को बिना छाने चोकर समेत ही खाया जाता था? हम बलपूर्वक कहते हैं कि सत्तुओं के साथ मिला हुआ 'तितउ' शब्द जिसकी धातु और प्रत्यय तथा सिद्धि का नियम व्याकरण में विद्यमान है और सन्धिविज्ञान के

१. उणादि० ५।५२

सरल उच्चारणवाले नियम के अनुकूल है, वह बाहर का नहीं हो सकता। '**सक्तुमिव तितउना पुनन्तः**' मन्त्र में 'पुनन्तः' शब्द आया है, जिससे स्पष्ट हो जाता है कि उस काल में सत्तू छानकर ही खाये जाते थे, इसलिए उनके पास छानने का पात्र था और उस पात्र का नाम भी 'तितउ' ही था जो शुद्ध और मौलिक है।

तीसरी शंका में आप एक ही धातु से बननेवाले 'कुरु' और 'कृणु' शब्दों को प्रान्तिक भाषाभेद का नमूना बतलाते हैं और इसी को भाषापरिवर्तन का प्रमाण कहते हैं, परन्तु बात सर्वथा उलटी है। ये दोनों शब्द अलग-अलग धातुओं से बने हैं, दोनों के प्रत्यय अलग-अलग हैं और दोनों अलग-अलग गणों में विभक्त हैं। 'कुरु' शब्द डुकृञ्—करणे, धातु में 'उ' प्रत्यय करने से बनता है और 'कृणु' शब्द कृञ्—हिंसायाम् धातु में 'इनु' प्रत्यय करने से बनता है। 'कुरु' तनादिगण का और 'कृणु' स्वादिगण का है। ऐसी दशा में दोनों धातुओं में केवल 'कृ' आ जानेमात्र से यह कह देना कि डुकृञ् और 'कृञ्' एक ही हैं, धातुविज्ञान की अनभिज्ञता प्रकट करता है। धातुओं में अक्षरविज्ञान भरा हुआ है, इसलिए तनिक-सा भेद होते ही अर्थ में महान् भेद हो जाता है। जिस प्रकार 'डुकृञ्' और कृञ् में तनिक-सा भेद होने के कारण एक का अर्थ 'करणे' है और दूसरी का 'हिंसायाम्' है, उसी प्रकार डुकृञ् का अर्थ 'द्रव्य विनिमये', 'कृ' का अर्थ 'विक्षेपे' और 'कृ' का अर्थ 'हिंसायाम्' होता है। सबमें 'कृ' विद्यमान है, परन्तु तनिक-तनिक- सा भेद होने के कारण अर्थ में भेद हो गया है। अर्थभेद धातु के भेद को स्पष्ट करता है और धातुभेद अर्थ को। यद्यपि स्थूलदृष्टि से देखने में 'कुरु' और 'कृणु' के अर्थ में भेद नहीं दिखलाई पड़ता, परन्तु सूक्ष्मदृष्टि से एक में साधारण क्रिया है और दूसरे में विशेष। कुरु साधारण है, परन्तु कृणु विशेष है। इस सूक्ष्म अवलोकन से स्पष्ट हो जाता है कि दोनों धातुएँ भिन्न-भिन्न हैं।

चौथी शंका में आप कहते हैं कि 'कर्मन्' से कर्माणि होना तो सम्भव है, क्योंकि उसमें 'न्' है, परन्तु 'ग्रह' जिसमें 'न' है ही नहीं उससे गृहाणि कैसे बन गया? इसका उत्तर इतना ही है कि जिस प्रकार रामः में नकार का कहीं पता नहीं है, परन्तु रामाणाम् हो गया है उसी प्रकार गृह का गृहाणि और हरि का हरिणा भी बना है। इसमें अनुकरण की कोई बात नहीं है, क्योंकि अनुकरण की सम्भावना तो समता में ही होती है, परन्तु कर्मन् और हरि में कोई समता नहीं है, इसलिए ये अनुकरण नहीं, किन्तु स्वतन्त्र विभक्तियाँ हैं।

पाँचवीं शंका हंस, दुहिता और विंशति शब्दों से सम्बन्ध रखती है। डॉक्टर साहब का विचार है कि दूसरी भाषाओं में इन शब्दों के लिए जो उच्चारण प्रयुक्त हुए हैं उनमें कुछ ऐसे वर्ण हैं, जिनसे ज्ञात होता है कि ये शब्द मूल में हंस, दुहिता और विंशति न थे। अंग्रेज़ी के ट्वेंटी (twenty), डॉटर (daughter) और गूज़ (goose) आदि शब्दों से ज्ञात होता है कि विंशति के आदि में तवर्ग के और दुहिता तथा हंस में कवर्ग के वर्ण थे। यहाँ हम पहले हंस शब्द पर विचार करते हैं। डॉक्टर साहब ने 'भाषाविज्ञान' में हंस के रूप इस प्रकार लिखे हैं—

संस्कृत	**ग्रीक**	**अंग्रेज़ी**	**जर्मन**
हंस	Chen (ख़ेन)	Goose	Gans

हम पिछले पृष्ठों में लिख आये हैं कि संस्कृत का 'ह' ज़न्दभाषा में 'ज़' हो गया है, जैसे हस्त का ज़स्त और होता का ज़ोता। यह हंस शब्द पहले ज़ंस हुआ और जर्मनवाले इसे जंस कहते भी रहे, परन्तु उन्होंने जब फ्रिनीशिया की लिपि स्वीकार की तब जकार का उच्चारण कभी 'जी' अक्षर से, कभी 'ज' अक्षर से और कभी 'ज़ेड' से लिखते रहे। दैवदुर्विपाक से ज़ंस को

है, उसमें 'ऋ' के लिए जो अक्षर बनाया गया है वह 'ए' और 'रे' के संयोग से ही बनाया गया है, इसीलिए उसका उच्चारण एरे होता है, जो ठीक नहीं है। इसी प्रकार भारत के 'रु' और 'रि' उच्चारण भी ठीक नहीं है, किन्तु इसका तात्पर्य यह नहीं है कि उसके असली उच्चारण का अब पता लग ही नहीं सकता। उसका पता अइउण् सूत्रों के द्वारा ही लग सकता है। हयवरट् सूत्र को ध्यानपूर्वक पढ़ने से 'ऋ' के उच्चारण का पता मिल सकता है। 'य' की रचना 'इ' और 'अ' के योग से हुई है। जिस प्रकार 'व' से 'अ' निकाल डालने पर 'उ' का शुद्ध रूप निकल सकता है, उसी प्रकार 'र' से 'अ' निकाल डालने पर 'ऋ' का भी शुद्ध रूप निकल सकता है, परन्तु इतना सब करे कौन? हाँ, यदि थोड़ी देर एकान्त में बैठकर और 'र' से 'अ' निकालकर कोई मनुष्य 'ऋ' का उच्चारण करने का प्रयत्न करे तो निस्सन्देह उसका शुद्ध उच्चारण कर सकता है। इसी प्रकार दूसरे उच्चारणों के विषय में भी समझना चाहिए।

दूसरी शंका ऋग्वेद के 'तितउ' शब्द की है। यह शब्द ऋग्वेद १०।७१ के जिस मन्त्र में आया है उसका आवश्यक अंश **'सक्तुमिव तितउना पुनन्तः'** है। इसका अर्थ यह होता है कि जैसे सक्तुओं को छाननी (चलनी) पवित्र करती है। यहाँ 'तितउ' शब्द बिना सन्धिबन्धन के है, इसीलिए आप इसको कहीं बाहर से आया हुआ बतलाते हैं। आप कहते हैं कि 'संस्कृतभाषा में यह एक साधारण नियम है कि एक शब्द के अन्दर विवृति नहीं देखी जाती, परन्तु 'तितउ' शब्द इसका अपवाद है', किन्तु आपको यह ज्ञात नहीं है कि संस्कृत के साधारण नियम वेदों में काम नहीं देते। **'बहुलं छन्दसि'** सूत्रों में वेदों के सैकड़ों अपवाद बतलाये गये हैं जो संस्कृत के साधारण नियमों में नहीं आते। ऐसी दशा में क्या समस्त अपवादों को आप बाहर का आया हुआ बतलाएँगे? संस्कृत का साधारण नियम है कि अकारान्त पुल्लिङ्ग द्विवचन में औ होता है, जैसे—रामौ, किन्तु वेद के **'द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया'** मन्त्र में यह नियम नहीं देखा जाता, ऐसी दशा में क्या आप 'द्वा' आदि प्रयोगों को कहीं बाहर का बतलाने की कृपा करेंगे? 'तितउ' शब्द यदि बाहर का होता तो प्राचीन वैदिक वैय्याकरणों को उसके मूल का पता न होता और न उसकी सिद्धि ही बतलाई जाती, किन्तु हम उणादि में देखते हैं कि वहाँ स्पष्ट **'तनोतेर्डउः सन्वच्च'**[1] लिखा हुआ मिलता है। जिससे ज्ञात होता है कि 'तितउ' शब्द 'तन्' धातु में 'डउ' प्रत्यय करने से बनता है।

अब यहाँ देखना चाहिए कि 'तन्' में 'डउ' की सन्धि हो सकती है या नहीं। हम पहले ही लिख आये हैं कि सन्धिविज्ञान वर्णमैत्री और सुखोच्चारण के सिद्धान्त पर स्थिर है। यहाँ न, ड, और उ, में वर्णमैत्री नहीं है। बीच में 'ड्' आजाने से 'उ' 'तन्' के पास नहीं आ सकता, इसीलिए 'उ' 'त' में न जुड़ सका। यह वैदिक भाषा का सूक्ष्म नियम है। इसको प्रचलित साधारण लौकिक नियमों के साथ मिलाने से कैसे काम चल सकता है? **'तितउ चालनिः उमान्'** की उक्ति उच्च वैय्याकरणों में प्रचलित है। इसका वर्णन निरुक्त और उणादि में आया है। यह शब्द बहुत दिनों से वैय्याकरणों की दृष्टि के सामने हैं, इसलिए न यह कोई नई खोज है और न कोई ऐसा प्रमाण है, जिससे इस शब्द को कहीं बाहर का बताया जा सके। यदि यह 'तितउ' शब्द बाहर का है तो सक्तू, अर्थात् सत्तू शब्द भी बाहर का ही होगा, परन्तु यह बात नहीं है। सक्तू वैदिकों का ही शब्द है। यदि सत्तू शब्द बाहर का नहीं है तो क्या सत्तुओं को बिना छाने चोकर समेत ही खाया जाता था? हम बलपूर्वक कहते हैं कि सत्तुओं के साथ मिला हुआ 'तितउ' शब्द जिसकी धातु और प्रत्यय तथा सिद्धि का नियम व्याकरण में विद्यमान है और सन्धिविज्ञान के

१. उणादि० ५।५२

सरल उच्चारणवाले नियम के अनुकूल है, वह बाहर का नहीं हो सकता। **'सक्तुमिव तितउना पुनन्तः'** मन्त्र में 'पुनन्तः' शब्द आया है, जिससे स्पष्ट हो जाता है कि उस काल में सत्तू छानकर ही खाये जाते थे, इसलिए उनके पास छानने का पात्र था और उस पात्र का नाम भी 'तितउ' ही था जो शुद्ध और मौलिक है।

तीसरी शंका में आप एक ही धातु से बननेवाले 'कुरु' और 'कृणु' शब्दों को प्रान्तिक भाषाभेद का नमूना बतलाते हैं और इसी को भाषापरिवर्तन का प्रमाण कहते हैं, परन्तु बात सर्वथा उलटी है। ये दोनों शब्द अलग-अलग धातुओं से बने हैं, दोनों के प्रत्यय अलग-अलग हैं और दोनों अलग-अलग गणों में विभक्त हैं। 'कुरु' शब्द डुकृञ्—करणे, धातु में 'उ' प्रत्यय करने से बनता है और 'कृणु' शब्द कृञ्—हिंसायाम् धातु में 'इनु' प्रत्यय करने से बनता है। 'कुरु' तनादिगण का और 'कृणु' स्वादिगण का है। ऐसी दशा में दोनों धातुओं में केवल 'कृ' आ जानेमात्र से यह कह देना कि डुकृञ् और 'कृञ्' एक ही हैं, धातुविज्ञान की अनभिज्ञता प्रकट करता है। धातुओं में अक्षरविज्ञान भरा हुआ है, इसलिए तनिक-सा भेद होते ही अर्थ में महान् भेद हो जाता है। जिस प्रकार 'डुकृञ्' और कृञ् में तनिक-सा भेद होने के कारण एक का अर्थ 'करणे' है और दूसरी का 'हिंसायाम्' है, उसी प्रकार डुकृञ् का अर्थ 'द्रव्य विनिमये', 'कृ' का अर्थ 'विक्षेपे' और 'कृ' का अर्थ 'हिंसायाम्' होता है। सबमें 'कृ' विद्यमान है, परन्तु तनिक-तनिक- सा भेद होने के कारण अर्थ में भेद हो गया है। अर्थभेद धातु के भेद को स्पष्ट करता है और धातुभेद अर्थ को। यद्यपि स्थूलदृष्टि से देखने में 'कुरु' और 'कृणु' के अर्थ में भेद नहीं दिखलाई पड़ता, परन्तु सूक्ष्मदृष्टि से एक में साधारण क्रिया है और दूसरे में विशेष। कुरु साधारण है, परन्तु कृणु विशेष है। इस सूक्ष्म अवलोकन से स्पष्ट हो जाता है कि दोनों धातुएँ भिन्न-भिन्न हैं।

चौथी शंका में आप कहते हैं कि 'कर्मन्' से कर्माणि होना तो सम्भव है, क्योंकि उसमें 'न्' है, परन्तु 'ग्रह' जिसमें 'न' है ही नहीं उससे गृहाणि कैसे बन गया? इसका उत्तर इतना ही है कि जिस प्रकार रामः में नकार का कहीं पता नहीं है, परन्तु रामाणाम् हो गया है उसी प्रकार गृह का गृहाणि और हरि का हरिणा भी बना है। इसमें अनुकरण की कोई बात नहीं है, क्योंकि अनुकरण की सम्भावना तो समता में ही होती है, परन्तु कर्मन् और हरि में कोई समता नहीं है, इसलिए ये अनुकरण नहीं, किन्तु स्वतन्त्र विभक्तियाँ हैं।

पाँचवीं शंका हंस, दुहिता और विंशति शब्दों से सम्बन्ध रखती है। डॉक्टर साहब का विचार है कि दूसरी भाषाओं में इन शब्दों के लिए जो उच्चारण प्रयुक्त हुए हैं उनमें कुछ ऐसे वर्ण हैं, जिनसे ज्ञात होता है कि ये शब्द मूल में हंस, दुहिता और विंशति न थे। अंग्रेज़ी के ट्वेंटी (twenty), डॉटर (daughter) और गूज़ (goose) आदि शब्दों से ज्ञात होता है कि विंशति के आदि में तवर्ग के और दुहिता तथा हंस में कवर्ग के वर्ण थे। यहाँ हम पहले हंस शब्द पर विचार करते हैं। डॉक्टर साहब ने 'भाषाविज्ञान' में हंस के रूप इस प्रकार लिखे हैं—

संस्कृत	**ग्रीक**	**अंग्रेज़ी**	**जर्मन**
हंस	Chen (ख़ेन)	Goose	Gans

हम पिछले पृष्ठों में लिख आये हैं कि संस्कृत का 'ह' ज़न्दभाषा में 'ज़' हो गया है, जैसे हस्त का ज़स्त और होता का ज़ोता। यह हंस शब्द पहले ज़ंस हुआ और जर्मनवाले इसे जंस कहते भी रहे, परन्तु उन्होंने जब फ्रिनीशिया की लिपि स्वीकार की तब जकार का उच्चारण कभी 'जी' अक्षर से, कभी 'ज' अक्षर से और कभी 'ज़ेड' से लिखते रहे। दैवदुर्विपाक से ज़ंस को

उन्होंने जिओमेट्री की तरह 'जी' से लिखना शुरू किया और ज़ंस के स्थान में जंस कर दिया। 'जी' का अधिकतर उच्चारण 'गकार' ही होता है, अत: 'जंस' शीघ्र ही गंस होकर गंज़ हो गया और यूरोप की अनेक भाषाओं में अनेक रूप धारण करता हुआ वही गंस से गेंस और गेंस से गूज़ तथा ख़ेंस या ख़ेन आदि भी हो गया। इसलिए हंस के मूल में किसी वर्ग के मानने की बिलकुल आवश्यकता नहीं है[१]।

अब दुहिता शब्द पर विचार करना चाहिए। डॉक्टर साहब कहते हैं कि संस्कृत दुहिता के स्थान में अंग्रेज़ी में डाघ्टर और फ़ारसी में दुख़्तर पाया जाता है। अन्य भाषाओं में भी इसी प्रकार किसी-न-किसी कवर्ग का आदेश दिखलाई पड़ता है। इससे यही प्रतीत होता है कि दुहिता के मूल में कवर्ग का कोई अक्षर था। दुहिता शब्द में जो 'ह' है उसके स्थान में घ, ग या ख अक्षर था, क्योंकि घ, ध, भ आदि से 'ह' का बनना तो स्वाभाविक है, परन्तु 'ह' से घ, भ, आदि नहीं बन सकते। किसी अंश में आप ठीक कहते हैं, परन्तु इसमें एक बहुत बड़ी भूल है। जिन भाषाओं में घ, ध, भ आदि नहीं हैं उनमें तो ये अक्षर 'ह' हो सकते हैं, परन्तु जिनमें हैं, उनके लिए यह नियम नहीं है। महाराष्ट्रवालों ने 'गृह्य' के लिए 'घ्या' और चीनवालों ने 'होम' के लिए 'घोम' आदेश किया है। गुजरात और महाराष्ट्रवाले 'ज' का 'झ' कर डालते हैं। इसका कारण यही है कि उनके पास 'घ' और 'झ' पहले से ही विद्यमान हैं। वैदिक आर्यों के पास तो पूरा कवर्ग था, ऐसी दशा में वे कवर्ग को छोड़कर 'ह' का सहारा क्यों लेते ? रहे वे लोग जिन्होंने 'ह' का 'घ' और 'ख़' किया है, उनके पास भी ये उच्चारण थे, इसीलिए घ्या और घोम की भाँति दुहिता का डाघ्टर और दुख़्तर कर लिया है। इसके अनेक नमूने विद्यमान हैं। यह सभी जानते हैं कि 'स' और 'ह' परस्पर बदल जाते हैं। सप्त का हप्त और हृष्ट का सख़्त होने में देर नहीं लगती। इसी प्रकार 'ष' का 'ख' और 'ख़' भी होते देखा जाता है, जैसे पुष्ट का पुख़्त। ऐसी अवस्था में दुहिता का दुसिता—दुषिटा—दुख़्तर और डाघ्टर होना कोई असम्भव बात नहीं है। यह नित्य का क्रम है और आर्यभाषाओं में यह क्रम भरा पड़ा है, इसलिए दुख़्तर आदि शब्द दुहिता के ही अपभ्रंश हैं।

अब अन्त में विंशति शब्द पर विचार करना चाहिए। हमारा विश्वास है कि विंशति शब्द मौलिक और अपौरुषेय है। जिस प्रकार अस्सी के लिए अष्टीति न बनाकर अशीति शब्द बनाया गया है, जिस प्रकार साठ के लिए 'षट्ति' न बनाकर 'षष्टि' शब्द बनाया गया है और जिस प्रकार सोलह के लिए षट्दश न बनाकर षोडश शब्द बनाया गया है, उसी प्रकार बीस के लिए द्विंशति न बनाकर विंशति शब्द बनाया गया है। अष्टीति में वर्णमैत्री का अभाव था। 'ट' और 'त' दोनों भिन्न-भिन्न स्थानों से उच्चरित होने के कारण पास-ही-पास अपने-अपने रूप के साथ नहीं रह सकते थे और 'ति' और 'त' दहाई के चिह्न हैं जो त्रिंशति, चत्वारिंशति, पंचाशत, षष्टि, सप्तति, अशीति और नवति में विद्यमान हैं, इसलिए हटाये नहीं जा सकते थे, अत: टकार को ही हटाना पड़ा। टकार के हटते ही उसका मित्र 'ष' आप ही आप हट गया और 'ष' के स्थान में 'श' आ गया तथा 'त' से मित्रता करके अष्टीति का अशीति बना दिया। इसी प्रकार की कठिनाई षट्ति में भी थी। इसमें भी 'ट' और 'त' एक साथ नहीं रह सकते थे। इसके दो ही उपाय थे। या तो टकार हटे या तकार हटे। अष्टीति में टकार को हटाकर एक नियम दिखला दिया गया था, परन्तु षट्ति में अष्टीति की भाँति 'अ' न था, इसलिए इसमें दूसरा नियम काम में

१. सम्भव है Chen (खेन) शब्द संस्कृत के श्येन का अपभ्रंश हो। श्येन एक पक्षी का नाम है और वेदों में उसका वर्णन आता है।

लाया गया, अर्थात् 'त' हटाने की नौबत आई, किन्तु कठिनाई यह उपस्थित हुई कि दहाई का चिह्न 'ति' निकाला नहीं जा सकता था। इसलिए 'ति' से 'इ' चिह्न ले-लिया गया और 'त' निकाल दिया गया जिससे षट्ति का षट्टि हो गया और सुखोच्चारण के लिए एक टकार के स्थान में दूसरे 'ष' का आदेश हो गया और 'षष्टि' शब्द बन गया। जो बात इनमें थी वही बात षट्दश में भी थी। इसमें भी 'ट' और 'द' दोनों हटा दिये गये, अनुकूल वर्ण का आगम कर लिया गया और सुखोच्चारणयुक्त षोडश शब्द बना लिया गया।

जिस प्रकार वर्णविरोध के कारण वैदिक सन्धिविज्ञान के अनुसार उक्त शब्द बनाये गये हैं, उसी प्रकार की कठिनाई के कारण 'द्विंशति' का 'विंशति' भी बनाया गया है। द, व, इ, श से द्विंश बना है। इन चारों वर्णों का स्थान पृथक्-पृथक् है। चारों में वर्णमैत्री का अभाव है। चारों का योग सुखोच्चारण को नष्ट करता है। गिनती के ये अङ्क शिक्षित अशिक्षित सभी मनुष्य प्रतिदिन बोलते हैं। बोलते ही नहीं, प्रत्युत इन्हीं के द्वारा लेन-देन करते हैं, इसलिए इनके नाम सरल और सुखोच्चारणयुक्त होने चाहिएँ। ऐसी दशा में भिन्न-भिन्न चार स्थानों से बोला जानेवाला 'द्विंश' शब्द क्लेशकर समझा गया, अत: उससे केवल अर्ध दकार हटा दिया गया और द्विंशति का विंशति बना लिया गया, परन्तु अंग्रेज़ी का ट्वेंटी शब्द द्विंशति से ही मिलता है। इससे स्पष्ट हो जाता है कि ट्वेंटी का मूल द्विंशति ही है, परन्तु यह द्विंशति शब्द मौलिक नहीं है। अंग्रेज़ी आदि में यह षट्दश में सिक्सटीन की भाँति ही बनाया गया है, क्योंकि यूरोप आदि में अङ्कविद्या भारत से ही गई है, इसीलिए इसे 'इल्महिन्दसा', अर्थात् हिन्द का इल्म कहते हैं। इस भारतीय अङ्कविद्या में नौ तक इकाइयाँ और दशगुनी संख्याओं के ही नाम हैं। इन्हीं से समस्त अङ्कजाल फैलता है, इसलिए विदेशियों ने अपने यहाँ जो नाम रक्खे हैं वे इन्हीं नवाङ्कों और दहाइयों के नियम के आधार से रक्खे हैं, षोडशादि अंको के नामों पर से नहीं, इसीलिए उन्होंने सन्धिविज्ञान के सुखोच्चारण की परवाह नहीं की और विंशति के लिए ट्वेंटी तथा षोडश के लिए सिक्स्टीन शब्द प्रयुक्त कर लिये हैं। सिक्स्टीन बिलकुल षट्दश का अनुवाद है, उसी प्रकार ट्वेंटी भी द्विंशति का ही अनुवाद है। इन उदाहरणों से ज्ञात होता है कि अंग्रेज़ी आदि के ये शब्द किसी मौलिक शब्दावली से नहीं लिये गये प्रत्युत नौ अंकों और दशगुनी संख्याओं का सिद्धान्त समझकर ही ये नाम रक्खे गये हैं, अर्थात् जैसे चार और दश का चतुर्दश, आठ और दश का अष्टादश होता है, उसी प्रकार दहाइयों के साथ इकाइयाँ मिला दी गई हैं और इकाइयों के ही अनुसार दहाइयों के नाम रख दिये गये हैं, किन्तु क्लिष्ट उच्चारणों की सन्धियों को सरल करने की ओर ध्यान नहीं दिया गया, इसलिए ट्वेंटी और सिक्सटीन आदि शब्दों से विंशति और षोडश आदि शब्दों की तुलना नहीं हो सकती। विंशति आदि मौलिक शब्दों में दोनों बातें—नव अंकों और दशगुनी संख्याओं का सिद्धान्त तथा सन्धि का विज्ञान भरा है, परन्तु ट्वेंटी आदि में केवल सिद्धान्त ही है शब्दशुद्धि नहीं, किन्तु जहाँ सिद्धान्त और शब्द की मौलिकता दोनों हैं, वहीं वास्तविकता है, इसलिए विंशति मूल है और ट्वेंटी कल्पित है।

'द्वा' का सरल रूप ईरान की ज़ेन्दभाषा में 'बि' और गुजराती में 'बे' अब तक प्रचलित है। ये दोनों 'द्वा' या 'द्वे' के सरल रूप हैं। 'व' सदैव 'ब' हो जाता है, जैसे 'वर्षा' का 'बर्खा', इसीलिए 'वि' या 'वे' का रूप 'बि' और 'बे' हुआ है। इस घटना से प्रतीत होता है कि 'द्व' से जान-बूझकर स्वभावत: 'द' निकाल दिया गया है और सुखोच्चारण के सिद्धान्तानुसार जिस प्रकार अष्टीति का अशीति, षट्ति का षष्टि और षट्दश का षोडश किया गया है, उसी प्रकार परमेश्वर की ओर से मनुष्यों के सुखोच्चारण के लिए द्विंशति का विंशति भी किया गया है, किन्तु

आप जो कहते हैं कि विंशति को यदि हम सृष्टि के आरम्भ में दैवीशक्ति की प्रेरणा से स्वयं बना हुआ कहें तो प्रश्न होता है कि इसके स्थान में 'द्विदशति' जैसे स्पष्ट व्युत्पत्तिवाले शब्द को ही क्यों नहीं चुना गया (पृष्ठ १८२)। हम कहते हैं कि आपके परामर्श से यदि परमात्मा द्विदशति शब्द की प्रेरणा करता तो उसकी बड़ी भद्द होती, क्योंकि परमात्मा की तो अब तक इसीलिए प्रशंसा की जाती है कि उसने अङ्कगणित को बड़ी ही वैज्ञानिक रीति से प्रकाशित किया है। उसने केवल नौ अंकों और दशगुनी संख्याओं के ही नामों से सारे अङ्कगणित का विस्तार किया है। एक, द्वि, त्रि, चत्वारि, पंच, षट्, सप्त, अष्ट और नव तथा दश, शत, सहस्र और अयुत आदि से ही समस्त अङ्कों का विस्तार हुआ है। अन्य सब संख्याएँ इन्हीं के मेल से बनी हैं। द्वादश, पंचविंश, त्रिषष्टि और नवनवति आदि तथा त्रिंशत्, चत्वारिंशत्, पंचाशत्, षष्टि, सप्तति, अशीति, और नवति आदि सब उन्हीं नौ अंकों से ही बने हैं, परन्तु आपकी सम्मति से यदि 'द्विदशति' होता तो अंकविद्या का यह वैज्ञानिक नियम भङ्ग हो जाता, इसलिए अच्छा हुआ कि परमात्मा ने आपकी सम्मति नहीं ली। जब द्वि शब्द विद्यमान है, जब त्रि से त्रिंशति आदि का अटूट नियम विद्यमान है और जब द्वि का बि, अपभ्रंश भी विद्यमान है तब कौन कह सकता है कि विंशति शब्द के पहले द्विदशति रहा होगा? वह निश्चय ही द्विंशति होता, परन्तु सरल उच्चारण के कारण विंशति किया गया है, जो सन्धिविज्ञान के अनुकूल ही है। आप जो कहते हैं कि 'जब विंशति के पूर्व भाग में तवर्ग है ही नहीं तब उससे अंग्रेज़ी का ट्वेंटी शब्द कैसे निकल सकता है? हम कहते हैं कि उसमें 'द' विद्यमान है जो कहीं बाहर से उधार नहीं आया, प्रत्युत 'द्वि' से आया है और ट्वेंटी आदि में पहुँचा है। इसलिए ट्वेंटी किसी अन्य मौलिक भाषा का अपभ्रंश नहीं है, प्रत्युत द्विंशति का ही अपभ्रंश है, इसी प्रकार विंशति भी द्विंशति का ही संस्कृत रूप है, जो वैदिक अक्षरविज्ञान और सन्धिविज्ञान के अनुकूल ही है।

यहाँ तक उक्त पाँचों शंकाओं का समाधान हुआ। इन शंकाओं की उत्पत्ति वेदों की दीर्घकालीन अवस्था से ही हुई है। यह बात डॉक्टर साहब जानते हैं कि इतने दीर्घकाल में इतने उथल-पुथलों के बाद तनिक-सा उच्चारणों में अन्तर आना सम्भव है, परन्तु उन्होंने इसकी उपेक्षा करने की उदारता भी नहीं दिखलाई। किसी वृद्ध मनुष्य की झुकी हुई कमर, सफ़ेद बाल, बिना दाँतों का मुख और सिकुड़ी हुई खाल को देखकर डॉक्टर मंगलदेव-जैसा विज्ञानवेत्ता कह सकता है कि इस पुरुष में ये चिह्न कहीं बाहर से आकर चिपक गये हैं, अत: यह अपने लड़कों का बाप नहीं हो सकता, क्योंकि लड़कों के मुँह में दाँत हैं, बाल काले हैं और कमर सीधी तथा खाल भरी हुई है, परन्तु बात सर्वथा उल्टी है, वे लड़के उसी वृद्ध पिता के ही हैं। वृद्ध के शरीर में बाहर के पदार्थ नहीं चिपके, प्रत्युत उसके शरीर से कुछ पदार्थ चले गये हैं, किन्तु वेदों की तो यह दशा भी नहीं है। वे आदि से आज तक ज्यों-के-त्यों बने हुए हैं, अत: ऐसी भ्रामक बातों से वेदों की अपौरुषेयता में बाधा नहीं पड़ सकती। वेद स्वयं कहते हैं कि—

यज्ञेन वाचः पदवीयमायन् तामन्विदन् ऋषिषु प्रविष्टाम्।
तामाभृत्या व्यदधुः पुरुत्रा सप्तरेभाः अभि सं नवन्ते॥[१]

अर्थात् परमात्मा की कृपा से जब मनुष्यों में वाणी की प्राप्ति का समय आता है तब वह अनुकूलता से ऋषियों में प्रविष्ट हुई, उस वाणी को, जिसकी सात स्वर—सात छन्द स्तुति करते हैं, पाते हैं और सब स्थानों में फैलाते हैं।

उस भाषा के विषय में शतपथब्राह्मण में कहा है कि '**सा वा एषा वाक् त्रेधा विहिता ऋचो**

१. ऋ० १०।७१।३

यजूंषि सामानि', अर्थात् वही भाषा ऋग्वेद, यजुर्वेद और सामवेद है। इस प्रकार भाषा की अपौरुषेयता सिद्ध हो जाने पर अब आदिज्ञान की अपौरुषेयता का पता लगाते हैं।

आदिज्ञान का स्वरूप

'आदिज्ञान और आदिभाषा' शीर्षक में पहले ही लिखा जा चुका है कि जिस प्रकार भाषा ईश्वरप्रदत है, उसी प्रकार उस भाषा में गर्भित ज्ञान भी ईश्वरप्रदत्त, अर्थात् अपौरुषेय है, अतएव अब यहाँ यह दिखलाने का यत्न करते हैं कि उस अपौरुषेय आदिज्ञान का स्वरूप क्या था? आदिज्ञान का स्वरूप निश्चित करने के पूर्व ज्ञान का स्वरूप समझ लेना चाहिए। ज्ञान का स्वरूप बहुत विशाल है। खाने-पीने, उठने-बैठने और शादी-विवाह से लेकर वर्त्तमान समय के भौतिक विज्ञान और प्राचीन समय के भारतीय आध्यात्मिक ज्ञान तक इसका विस्तार है। इसके स्वरूप के तीन विभाग हैं—स्वाभाविक ज्ञान, नैमित्तिक ज्ञान और काल्पनिक ज्ञान।

१. खाना-पीना, स्त्री-बच्चों का सम्बन्ध स्थापित करना और इसी उद्देश्य के लिए परस्पर थोड़ी-सी बीतचीत कर लेना, ज्ञान की पहली श्रेणी है। इस श्रेणी के लोग जंगलों में पाये जाते हैं। गाँवों में, शहरों में और ऊँची-से-ऊँची स्थिति के लोगों में भी थोड़े बहुत मनुष्य इस श्रेणी के मिल जाते हैं। इनको हम अशिक्षित श्रेणी में रखते हैं और इनके ज्ञान को स्वाभाविक ज्ञान कहते हैं।

२. अच्छे कुलों के बेपढ़े-लिखों से लेकर प्रावेशिक शिक्षा प्राप्त पुरुषों तक को हम शिक्षित श्रेणी में गिनते हैं और इनके ज्ञान को नैमित्तिक ज्ञान समझते हैं।

३. कॉलेज से प्राप्त ज्ञान अथवा बहुत ऊँचे विद्वानों की सङ्गति से बादशाह अकबर की भाँति प्राप्त ज्ञानवालों को हम उच्चशिक्षित श्रेणी के मानते हैं और इसे काल्पनिक ज्ञान समझते हैं।

इन तीन श्रेणी के ज्ञानों में से आदि सृष्टि में प्राप्त आदि अपौरुषेय ज्ञान किस श्रेणी का था, यह यहाँ समझ लेना चाहिए। हमारा विश्वास है कि वह ज्ञान प्रथम श्रेणी का—स्वाभाविक ज्ञान—नहीं हो सकता, क्योंकि प्रथम श्रेणी के स्वाभाविक ज्ञान से मनुष्य के मस्तिष्क में ऐसी शक्ति उत्पन्न नहीं हो सकती, जिससे वह अपना ज्ञान अधिक विस्तृत कर सके। समस्त बेपढ़े-लिखे और जंगली मनुष्य इस बात का प्रमाण हैं। वे बिना शिक्षा के सौ तक गिन्ती का भी विस्तार नहीं कर सकते। पढ़े-लिखे सभ्य घरों की कोई-कोई स्त्रियाँ भी, जिन्होंने कुछ भी नहीं पढ़ा सौ तक गिनती नहीं गिन सकतीं। संसार का अनुभव बतला रहा है कि बिना पढ़ाये—बिना दूसरे के निमित्त के—कोई भी मनुष्य शिक्षित नहीं हो सकता। हम संसार में विस्तृत और विशाल ज्ञान देख रहे हैं, अतएव कह सकते हैं कि यह स्वाभाविक ज्ञान का परिणाम नहीं है—प्रथम श्रेणी के ज्ञान का विकास नहीं है।

आदिज्ञान तीसरी श्रेणी का भी नहीं हो सकता, क्योंकि यदि परमात्मा सभी कुछ बतलाने बैठे तो फिर मनुष्य की मनन शक्ति ही मारी जाए। वह पढ़ा-लिखा होते हुए भी मूर्खों और जंगलियों से निकृष्ट हो जाए। संसार के परिवर्तनों के कारण आपत्ति आने पर वह कुछ भी न कर सके। इस बात का नमूना हम प्रतिदिन भारतदेश में देखते हैं। सामाजिक बन्धनों के कारण लोगों ने अपने मस्तिष्कों को बुरी तरह रूढ़ियों को सौंप दिया है। गाँव के अशिक्षित पुराने रूढ़िवादी जो कुछ कहते हैं, शिक्षित पुरुष भी वही मानते हैं और उसी के अनुसार चलकर अपनी अवनति करते हैं। तनिक भी अपने मस्तिष्क से काम नहीं लेते। यदि थोड़ा भी सोचें तो बुराई दृष्टि के सामने आ जाए और उससे बच जाएँ, किन्तु वे समय की परिस्थिति को सोचकर उसके अनुसार नवीन उपायों का आयोजन नहीं करते। उन्होंने सोचना ही बन्द कर दिया है। वे पुरानी रूढ़ियों से प्राप्त ज्ञान के ही भरोसे हैं, परन्तु देखा जाता है कि पुराने प्राप्त ज्ञान से सदैव काम नहीं चलता।

इसीलिए आदि सृष्टि में सभी कुछ नहीं बतलाया जाता। कहने का तात्पर्य यह कि आदिज्ञान ऐसा नहीं हो सकता जिसके कारण मनुष्य के विचार करने के सब दरवाज़े ही बन्द हो जाएँ, इसलिए आदिज्ञान दूसरी श्रेणी का प्रावेशिक ही था। प्रावेशिक शिक्षा दे देने पर—हर विषय में प्रेवश करा देने पर—मनुष्य धीरे-धीरे आप-ही-आप सोच-सोचकर उच्चज्ञान—विश्वविद्यालयों का ज्ञान प्राप्त कर लेता है, इसलिए आरम्भिक अपौरुषेय ज्ञान प्रावेशिक शिक्षा तक ही था। इस अपौरुषेय ज्ञान के दो विभाग हैं—लौकिक और पारलौकिक। इस ज्ञान में पारलौकिक ज्ञान विशेषरूप से और लौकिक ज्ञान साधारणरूप से रहता है। इसका कारण यही है कि मनुष्य की कल्पाना से निर्भ्रान्त पारलौकिक ज्ञान प्राप्त नहीं हो सकता और लौकिक ज्ञान में कल्पनाशक्ति से उन्नति हो जाती है, इसीलिए परमात्मा ने आदि में पारलौकिक ज्ञान विशेषरूप से और लौकिक ज्ञान साधारणरूप से दिया है। इसमें मनुष्योपयोगी समस्त आवश्यक ज्ञान बीज रूप में विद्यमान है। यही आदिज्ञान का स्वरूप है। आदिज्ञान का स्वरूप ज्ञात हो जाने पर अब हम देखना चाहते हैं कि वेदों का ज्ञान किस श्रेणी का है। उपर्युक्त ज्ञान के स्वरूप के साथ उसका मेल मिलता है या नहीं—वह आदिज्ञान के स्वरूप का सिद्ध होता है या नहीं।

वैदिक ज्ञान का स्वरूप—यज्ञ

अभी हम दिखला आये हैं कि आदि नैमित्तिक ज्ञान प्रावेशिक होता है और उसमें पारलौकिक ज्ञान विशेष तथा लौकिक ज्ञान साधारण होता है। पारलौकिक ज्ञान परमात्मा की प्राप्ति तक जाता है और लौकिक ज्ञान संसार के समस्त कार्यों को करके पारलौकिक सिद्धि में सहायता देने तक पहुँचता है। इतने ज्ञान से मनुष्य की बुद्धि विकसित हो जाती है और वह बहुत दूर तक ज्ञान-विज्ञान में उन्नति कर लेता है। परमात्मा के जान लेने पर—प्राप्त कर लेने पर तो उसे कुछ ज्ञातव्य ही नहीं रहता, प्रत्येक विषय हस्तामलक हो जाता है, अत: हम यहाँ वेदों के समस्त ज्ञानभण्डार का थोड़ा-सा नमूना दिखलाना चाहते हैं। वेदों का समस्त ज्ञानभण्डार अकेले एक 'यज्ञ' ही में चरितार्थ है। वेद में जो कुछ कहा गया है वह यज्ञ के ही लिए है। वैदिक ज्ञान यज्ञों में ही ओतप्रोत है, इसलिए हम यहाँ थोड़ा-सा यज्ञ-विषय का वर्णन करते हैं और देखते हैं कि उसका स्वरूप आदिज्ञान के स्वरूप से मिलता है या नहीं।

यज्ञशब्द 'यज्' धातु से बनता है। यज् धातु का अर्थ देवपूजा, सङ्गतीकरण और दान है। अपने से जो बड़े हैं वे देव-समान हैं, उनकी पूजा करना यज्ञ है। बराबरवालों के साथ सङ्गति करना और छोटों को कुछ देना भी यज्ञ ही है। यह छोटाई-बड़ाई केवल मनुष्यों में ही न समझनी चाहिए, प्रत्युत संसार का चाहे जो पदार्थ हो, चाहे जो शक्ति हो और चाहे जो गुण हो यदि वह बड़ा है तो पूजनीय है, यदि बराबरवाला है तो मिलने के योग्य है और यदि छोटा है तो कुछ पाने का अधिकारी है। जिस प्रकार उक्त तीनों व्यक्ति हमसे पूजा, सङ्गति और दान पाने के अधिकारी हैं, उसी प्रकार हम भी दूसरों के द्वारा योग्यतानुसार पूजा, मेल और दान पाने के अधिकारी हैं। इस प्रकार समस्त जड़ और चेतन जगत् को परस्पर एक-दूसरे से लाभ पहुँचाना ही यज्ञ है। ऐसे महान् यज्ञ को शतपथब्राह्मण १।७।४।५ में **'यज्ञो वै श्रेष्ठतमं कर्म',** अर्थात् श्रेष्ठतम कर्म कहा गया है। इसका अभिप्राय यही है कि जितने श्रेष्ठतम कर्म हैं वे सब यज्ञ ही हैं। इन यज्ञों के तीन विभाग हैं—कर्मयज्ञ, ज्ञानयज्ञ और उपासनायज्ञ। षोडश संस्कार (विवाह, सन्तान), शिक्षा, आहार, वस्त्र, गृह, समाज, राज्य, कृषि, पशुपालन, संगीत, गणित, भूगोल, ज्योतिष्, वैद्यक, रसायन, भवन, यन्त्र, शस्त्र, वाहन और युद्धविद्या आदि पदार्थ और विद्याएँ कर्मयज्ञ से सम्बन्ध रखती हैं। ईश्वर जीव, पुनर्जन्म, कर्मफल, सृष्टि, प्रलय, वर्ण, आश्रम और स्वाध्याय आदि ज्ञानयज्ञ से सम्बन्ध

रखते हैं और सदाचार, दया, प्रेम, दर्शन, भक्ति, वैराग्य, योग और समाधि आदि क्रियाएँ उपासनायज्ञ से सम्बन्ध रखती हैं। इन्हीं तीनों प्रकार के यज्ञों में वेद का लौकिक और पारलौकिक ज्ञान चरितार्थ होता है, अतः यहाँ हम पहले कर्मयज्ञ का वर्णन करते हैं।

इस यज्ञ को आर्यों ने बड़ी ही उन्नत दशा तक पहुँचाया था। इसके स्थूल और सूक्ष्म विज्ञानों को देखकर हमारी यह बात बहुत अच्छी प्रकार पुष्ट हो जाती है कि वैदिक ज्ञान से मनुष्य काल्पनिक ज्ञान की बहुत बड़ी उन्नति कर सकता है। ऋषियों ने वैदिक ज्ञान के द्वारा यज्ञ से सम्बन्ध रखनेवाले उच्च-से- उच्च भौतिक विज्ञान में अपनी गति कर ली थी। यद्यपि ब्राह्मण और सूत्रग्रन्थों में इन यज्ञों के अनेक प्रकार बहुत विस्तार से वर्णित हैं, परन्तु बीजरूप से अथर्ववेद ११।७ में कुछ यज्ञों का वर्णन इस प्रकार है—

राजसूयं वाजपेयमग्निष्टोमस्तदध्वरः। अर्काश्वमेधवुच्छिष्टे जीव बर्हिर्मदिन्तमः॥ ७॥
अगन्याधेयमथो दीक्षा कामप्रश्छन्दसा सहः॥ ८॥
अग्निहोत्रं च श्रद्धा च वषट्कारो व्रतं तपः॥ ९॥
चतुर्होतार आप्रियश्चातुर्मास्यानि नीविदः॥ १९॥[१]

इन मन्त्रों में राजसूय, वाजपेय, अग्निष्टोम, अश्वमेध, अग्निहोत्र, अग्न्याधान और चातुर्मास्य का वर्णन आता है। इस वेद का गोपथब्राह्मण इन यज्ञों का जो क्रम बतलाता है उस क्रम में अग्न्याधान, पूर्णाहुति, अग्निहोत्र, दर्शपूर्णमास, आग्रहायण (नवसस्येष्टि), चातुर्मास्य, पशुबन्ध, अग्निष्टोम, राजसूय, वाजपेय, अश्वमेध,पुरुषमेध, सर्वमेध, दक्षिणावाले, बहुत दक्षिणावाले, और असंख्य दक्षिणावाले यज्ञों का वर्णन है। वहाँ लिखा है कि जो इन यज्ञक्रमों को जानता है वह यज्ञों के साथ एक आत्मा होकर और एक निवास होकर दिव्य गुणों को पाता है[२]। इन यज्ञों का विवरण इस प्रकार है—

***अग्न्याधान*—अग्नीन् आधाय पूर्णाहुत्या यजेत्** (गोप० २।५।८), अर्थात् पूर्ण आहुतिपर्यन्त अग्न्याधान करे। यह अग्न्याधान है।

***अग्निहोत्र*—अग्नये एव सायं सूर्याय प्रातरेव ह वै अग्निहोत्रं जुहोति** (शतपथ० २।२।४।१७), अर्थात् अग्नि के लिए सन्ध्या समय और सूर्य के लिए प्रातःकाल जो हवन किया जाता है, वह अग्निहोत्र है।

***दर्शपूर्णमास*—सुवर्गाय ह वै लोकाय दर्शपूर्णमासौ इज्येते** (तैत्ति० सं० २।२।५), अर्थात् अमावास्या और पूर्णिमा के दिन के हवन को दर्शपूर्णमास कहते हैं।

***चातुर्मास्य*—फाल्गुन्यां पौर्णमास्यां चातुर्मास्यानि प्रयुञ्जीत मुखं वा एतत् संवत्सरस्य यत् फाल्गुनी पौर्णमासी** (गोप० ३।१।११), अर्थात् फाल्गुनी पूर्णमासी, आषाढ़ी पौर्णमासी और कार्त्तिकी पौर्णमासी को जो यज्ञ किये जाते हैं, वे चातुर्मास्य कहलाते हैं।

***आग्रहायण वा नवसस्येष्टि*—**उत्तरायण-दक्षिणायन के आरम्भ में जो यज्ञ होते हैं, वे

१. अथर्व० ११।७।७-९, १९

२. अथातो यज्ञ क्रमः। अग्न्याधेयमग्न्याधेयात् पूर्णाहुतिः पूर्णाहुतेऽग्निहोत्रमग्निहोत्रा दर्शपूर्णमासौ दर्शपूर्णमासाभ्यामाग्रहायणमाग्रहायणाच्चातुर्मास्यानि चातुर्मासेभ्यः पशुबन्धः पशुबन्धादग्निष्टोमः अग्निष्टोमाद्राजसूयो राजसूयाद्वाजपेय वाजपेयादश्वमेधः, अश्वमेधात्पुरुषमेधः पुरुषमेधात् सर्वमेधः सर्वमेधाद्दक्षिणावन्तो दक्षिणावद्भ्योऽदक्षिणा अदक्षिणाः सहस्रदक्षिणे प्रत्यतिष्ठंस्ते एते यज्ञक्रमाः। स य एवमेतान् यज्ञक्रमान् वेद यज्ञेन स आत्मा सलोको भूत्वा देवानप्येतीति ब्राह्मणम्। —गोप० ब्रा० १।५।७

आग्रहायण या नवसस्येष्टि कहलाते हैं।

अग्निष्टोम—**एष वै ज्येष्ठो यज्ञानां यदग्निष्टोमः (तस्मात् उह वसन्ते वसन्ते) ज्योतिष्टोमेन एव अग्निष्टोमेन यजेत्** (ताण्ड्यब्रा० ६।३।८ और शत० १०।१।२।९)।

जो प्रतिवर्ष वसन्त में वार्षिक यज्ञ होता है, उसे अग्निष्टोम कहते हैं। इसके अग्निष्टोम, उक्थ, वाजपेय, अतिरात्र आदि अनेक प्रकार हैं। यह उपर्युक्त सब यज्ञों में श्रेष्ठ कहलाता है।

पितृयज्ञ—**अथ यत् प्रजामिच्छते यत् पितृभ्यो निपृणाति** (श० ६।७।३।७)।

अर्थात् जो पुत्र चाहता है और जो पितरों को तृप्त करता है। पुत्रार्थी को पितृयज्ञ आवश्यक है। यही पुत्रकामेष्टि है।

पञ्चमहायज्ञ—**पञ्च वै एते महायज्ञाः सततिप्रतायन्ते** (तैत्ति० आ० २।१०)।

अर्थात् ये पञ्च महायज्ञ हैं, जो सदा आरम्भ किये जाते हैं।

राजसूय और अश्वमेधयज्ञ—**राज्ञ एव राजसूयः राजा वै राजसूयेन इष्ट्वा भवति** (शतपथ० ५।१।१।१२)।

अर्थात् राजसूय से ही राजा होता है। यह राजगद्दी के समय का यज्ञ है।

'**राजा वा एष यज्ञानां यदश्वमेधः** (शत० १३।२।२।१)।

सर्वा वै देवता अश्वमेधेऽन्वायत्ताः। तस्माद् अश्वमेधयाजी सर्वादिशो अभिजयति (शतपथ० १३।१।२-३।९)।

अर्थात् सब देवता अश्वमेध में आते हैं। अश्वमेध करनेवाला सब दिशाओं का जीतनेवाला होता है।

श्रीवैंराष्ट्रम्, राष्ट्रं वै अश्वमेधः। तस्माद्राष्ट्री अश्वमेधेन यजेत्।

ऐश्वर्य ही राज्य है। राष्ट्र ही अश्वमेध है, इसलिए सम्राट् अश्वमेध करे। इसे अश्वमेधयज्ञ कहते हैं।

गोमेधयज्ञ—पृथिवी को उर्वरा बनाना, नई भूमि तय्यार करना और नये-नये टापू खोजना, इस यज्ञ का प्रधान कार्य है। इसे गोमेध यज्ञ कहते हैं।

सारांशरूप से यज्ञों का यही क्रम और प्रकार है। इस सारांश में बतला दिया गया है कि किस यज्ञ के बाद कौन-सा यज्ञ करना चाहिए और कितने यज्ञ विशेषरूप से महत्त्ववाले हैं, अतः हम चाहते हैं कि इन यज्ञों से निष्पन्न होनेवाले फलों के नाम से जो आधुनिक ग्रन्थों में नाम दिये गये हैं, उन नामों के साथ कुछ यज्ञों की उपयोगिता का वर्णन भी कर दें, जिससे विषय स्पष्ट हो जाए, क्योंकि वैदिक आर्यों का यह सनातन विश्वास है कि यज्ञों से आरोग्यता, सन्तति, वर्षा का नियन्त्रण, राज्य, विद्या, सेवा और परमात्मा की प्राप्ति होती है। इन सिद्धियों के प्राप्त हो जाने पर मनुष्य-जीवन में फिर कोई ऐसी काम्य वस्तु शेष नहीं रह जाती जिसके लिए वह लालायित होता रहे। इनके द्वारा लोक-परलोक के सभी सुख प्राप्त हो जाते हैं। इन यज्ञों का विवरण इस प्रकार है—

आरोग्यता—आरोग्यता दो प्रकार की है। एक व्यक्ति की दूसरी समाज की। ज़ुकाम, बुख़ार, दस्त और शरीर-पीड़ा आदि मौसमी तथा चेचक, हैज़ा, प्लेग और इन्फ़्लूएँज़ा अथवा अन्य ऐसी ही सामयिक बीमारियाँ होती हैं जो सबपर आक्रमण करती हैं, अतः जो बीमारियाँ एक व्यक्ति को होती हैं उनके निवारण का नाम चिकित्सा, अर्थात् आयुर्वेद है और दूसरे प्रकार की सार्वजनिक बीमारियाँ जिस सामूहिक रीति से निवारण की जाती हैं उसका नाम 'भैषज्य यज्ञ'

है।

सन्तान—सन्तान न होती हो तो सन्तान उत्पन्न करनेवाले, मनचाही सन्तान उत्पन्न करनेवाले तथा सन्तान को दीर्घजीवी बनानेवाले यज्ञ का नाम 'पुत्रकामेष्टि यज्ञ' है। इस यज्ञ का कुछ भाग गर्भाधान, पुंसवन और सीमन्तोन्नयन संस्कारों में तथा कुछ भाग पितृयज्ञ में मिला हुआ है। इसका कुछ वर्णन बृहदारण्यक उपनिषद् के अन्त में दिया हुआ है।

वर्षा का नियन्त्रण—पूर्व समय में ऋषियों ने अवर्षण के समय यज्ञों द्वारा उसी प्रकार पानी भी बरसाया था जिस प्रकार यज्ञों के द्वारा पुत्र उत्पन्न कराया था। वेद का '**निकामे निकामे नः पर्जन्यो वर्षतु**'[1], अर्थात् इच्छानुसार वर्षा हो यह वाक्य इसी बात की सूचना देता है। इसको 'अवर्षण यज्ञ' कहते हैं।

सम्पत्ति—आवश्यक पदार्थों का नाम सम्पत्ति है। आजकल का अर्थशास्त्र भी सम्पत्ति का यही अर्थ करता है। रुपया तो केवल क्रय-विक्रय का साधन है। जब अधिक धन होता है तब रुपया काम नहीं देता। वहाँ नोट, चेक अथवा बदले के माल से ही काम चलता है। संसार में जितना माल है, उतने मूल्य के लिए सोना और चाँदी नहीं है, इसलिए वैदिकों ने आदिम काल ही में पशुओं, अन्नों और अन्य आवश्यक पदार्थों को ही सम्पत्ति माना था। यज्ञों में अन्न, घृत, मेवा, ओषधि और काष्ठ आदि पदार्थों की आवश्यकता होती है, इसलिए कृषि, इष्टापूर्त (जिसमें कुवाँ, ताल, बाग़-बग़ीचे सम्मिलित हैं), जंगल और अनेक प्रकार के पशुओं की आवश्यकता होती है। यही सम्पत्ति है। यज्ञानुष्ठान का मन में संस्कार होते ही सम्पत्ति की आवश्यकता होती है। इसे 'गोमेधयज्ञ' कहते हैं। देशों की बनावट, नये टापू खोजना और भूमि को उर्वरा बनाना इसका प्रधान उद्देश्य है।

राज्य—आर्यसभ्यता में अश्वमेध, अर्थात् चक्रवर्ती राज्य की अभिलाषा भी एक विशेष उपज है। सबसे बड़ा यज्ञ यही है। एक राष्ट्र में संसारभर के मनुष्यों का सुख-दुःख सम्मिलित करके 'सबसे सबको लाभ पहुँचाना' इस यज्ञ का अभिप्राय है। यज्ञ की कामना करनेवाले के मन में तुरन्त ही राज्य का अंकुर उत्पन्न होना स्वाभाविक-सी बात है। इस यज्ञ के लिए शौर्य और युद्धकौशल उत्पन्न करना प्रथम कर्त्तव्य होता है। युद्ध से मुँह छिपानेवाला आर्य नहीं समझा जाता। अर्जुन को ऐसा देखकर कृष्ण ने कहा था कि '**अनार्यजुष्टमस्वर्ग्यमकीर्तिकरमर्जुन**'[2] अर्थात् हे अर्जुन! तेरी ये कायरपने की बातें अनार्यों की हैं। इस यज्ञ का नाम 'अश्वमेधयज्ञ' है।

सेवा—पञ्चमहायज्ञों के द्वारा सौर और चान्द्र संसार को आप्यायित करके अतिथियों, वृद्धों, रोगियों, पतितों, पशु-पक्षियों और कीट-पतङ्गों तक को आहार पहुँचाने से बड़ी संसार की और क्या सेवा हो सकती है? इसी को पञ्च महायज्ञ कहते हैं।

ईश्वर—जो मनुष्य इतना सब-कुछ करके भी निःस्वार्थभाव से कहता है कि '**इदं न मम**', अर्थात् यह मेरा नहीं है, उससे बढ़कर ईश्वरार्पणबुद्धि और कहाँ हो सकती है? ऐसे कर्म करनेवाले को '**न कर्म लिप्यते**'[3] अर्थात् कभी कर्मबन्धन नहीं होता। वह मोक्ष का अधिकारी हो जाता है। यह 'उपासनायज्ञ' है।

उपर्युक्त यज्ञों के यही प्रकार और लाभ हैं। ये समस्त लाभ, भैषज्ययज्ञ, पुत्रकामेष्टियज्ञ, अवर्षणयज्ञ, गोमेधयज्ञ, अश्वमेधयज्ञ और पञ्चमहायज्ञों से प्राप्त हो जाते हैं। इनमें से पुत्रेष्टि

---

१. यजुः० २२।२२ २. यजुः० ४०।२

३. गीता २।२

और अवर्षण यज्ञों पर हम यहाँ अधिक कुछ नहीं कहना चाहते, परन्तु यदि रामायण की कथा सत्य है तो जनक ने अवर्षण दूर करने के लिए और दशरथ ने अपुत्रत्व मिटाने के लिए यज्ञ किये थे और दोनों में सफलता हुई थी। रामायण की ये दोनों घटनाएँ निकाल डालने पर रामायण का ऐतिहासिक भाग हिल जाता है, अतएव इन घटनाओं को असत्य नहीं कहा जा सकता, किन्तु अब तो वह ज़माना है कि जब सन्तान-प्रतिरोध का प्रबन्ध हो रहा है और नहरों से सिंचाई का क्रम चल रहा है। पुराने ज़माने में भी लोगों ने दत्तक पुत्र और संन्यास तथा इष्टापूर्त, अर्थात् कुवाँ, ताल, नहर बनवाकर इन दोनों बातों को सरल कर लिया था, इसलिए यदि इन दोनों यज्ञों को छोड़ भी दें तो शेष छह प्रकार के यज्ञ ही ऐसे हैं कि जिनके फलों के प्राप्त होने पर हर प्रकार की कृतकृत्यता हो जाती है।

इसीलिए समस्त संसार ने यज्ञों को स्वीकार किया था और अबतक संसार के प्राय: सब सम्प्रदायों में वे प्रचलित हैं, यह सब 'फिज़कल रिलीजन' में मैक्समूलर ने भी स्वीकार किया है। संसार में क्या नये और क्या पुराने जितने धर्म प्रचलित थे और हैं सबमें यज्ञ का कोई-न-कोई प्रकार अवश्य स्वीकार किया गया है। आर्यों की समस्त प्राचीन शाखाओं में यज्ञ प्रचिलित था। प्राचीन समय में ग्रीकों और रोम-निवासियों के यहाँ भी यज्ञ प्रचलित थे। पारसियों और वैदिक आर्यों में यज्ञ अब तक प्रचलित हैं। जैनियों में भी धूपदीप, जो यज्ञ का ही अवशिष्ट और सूक्ष्म रूप है, प्रचलित है। यह तो आर्य-शाखा की बात हुई। सेमिटिक शाखा के भी इस समय तीन धर्म—यहूदी, ईसाई और मुसलमानी—प्रचलित हैं। इनमें से यहूदियों के यहाँ यज्ञ होते थे। वे कुण्ड को 'कैर' कहते थे। ईसाई और मुसलमानों में भी ऊदबत्ती और लोबान आदि जलाने का रिवाज अबतक विद्यमान है। भले उनके रूप बिगड़े हुए हैं, परन्तु इससे इन्कार नहीं हो सकता कि वह यज्ञ का अपभ्रष्ट रूप नहीं है? इस प्रकार मनुष्यजाति की यह दूसरी सेमिटिक शाखा यज्ञ को पुराकाल से लेकर अब तक करती और मानती जाती है। तीसरी तुरानी शाखा में भी यज्ञ के ऐतिहासिक प्रमाण मिलते हैं। चीनवाले यज्ञ को 'घोम' कहते हैं, जो होम के सिवा और कुछ नहीं है। इस प्रकार से मनुष्यजाति के तीनों विभागों में यज्ञ प्रचलित थे और प्रचलित हैं। मिस्र की प्राचीन जातियों में तथा अमेरिका के रेडइण्डियनों में भी यज्ञ की प्रथा प्रचलित थी। कहने का तात्पर्य यह कि यज्ञ मनुष्य का आदिम धर्म है। यज्ञ इस बात का ऐतिहासिक प्रमाण है कि सब मनुष्य एक ही वंश की शाखा-उपशाखा हैं और यह यज्ञ उस समय उत्पन्न हुआ था जब संसार में थोड़े से मनुष्य पैदा हुए थे और वे सब एक ही स्थान में रहते थे। एक विज्ञानवेत्ता ने लिखा है कि अग्नि का उत्पन्न करना ही मनुष्य का आदिम वैज्ञानिक आविष्कार है। यहीं से उसकी बुद्धि का विकास हुआ है। लकड़ियों को घिसकर अग्नि उत्पन्न करना भौतिक विज्ञान में प्राथमिक आविष्कार है और मौलिक है। हमारा तो यह दावा है कि मनुष्य में यदि यज्ञ का ज्ञान न होता तो वह इस उन्नति को पहुँचता ही नहीं, जिसमें वह इस समय स्थित है।

गत पृष्ठों में हमने यज्ञों की व्यापकता दिखलाते हुए उनकी प्राचीनता पर भी कुछ लिख डाला है, किन्तु प्रश्न यह है कि आर्यों में इसका रिवाज कब से आरम्भ हुआ। हम देखते हैं कि आर्यजाति का कोई संस्कार, कोई धार्मिक कृत्य और कोई त्यौहार ऐसा नहीं है, जिसमें होम न होता हो। जहाँ तक लिखित प्रमाण मिलता है वहाँ तक आर्यजाति में यज्ञों का होना पाया जाता है। हम प्रथम खण्ड में दिखला आये हैं कि वेद लाखों वर्ष के प्राचीन—आदिम और अपौरुषेय हैं। विदेशी भी मानते हैं कि वेदों से प्राचीन संसार में कोई लिखित पुस्तक नहीं है। उन वेदों में यज्ञों का वर्णन है, अत: यज्ञ वेदकालीन हैं, इसमें सन्देह नहीं। ये वेद चार हैं। चारों में ऋग्वेद

प्रथम है। इस सर्वप्रथम ऋग्वेद के सर्वप्रथम मन्त्र में—**'अग्निमीळे पुरोहितं यज्ञस्य देवमृत्विजम्। होतारं रत्नधातमम्'** इस प्रकार यज्ञ, पुरोहित, ऋत्विज् और होता का स्पष्ट वर्णन है। इसलिए यज्ञ उतने ही पुराने हैं जितना पुराना ऋग्वेद का प्रथम मन्त्र है।

यज्ञों के तीन संसार और तीन प्रकार

वेदों में तीन संसारों का वर्णन है। एक आकाशीय है जिसमें सूर्य, चन्द्र, तारा, वायु, जल और विद्युत् आदि हैं। इस आकाशीय संसार में राजा, पुरोहित, सेना, नगर, ग्राम, वीथी, ब्राह्मण, वैश्य, शूद्र, नदी, समुद्र, जगंल, पशु, पक्षी आदि सभी कुछ है। वहाँ शत्रु हैं, बड़े-बड़े युद्ध हैं और जो कुछ यहाँ संसार में दिखाई पड़ता है, वह सब आकाशीय संसार में विद्यमान है। जिस प्रकार यह आकाशीय संसार है उसी प्रकार का दूसरा संसार मनुष्य का शरीर है, जिसमें नगर, द्वार, राजा, ऋषि, शत्रु, ब्राह्मण, युद्ध और उसी प्रकार के समस्त पदार्थ हैं, जिस प्रकार के आकाशीय संसार में हैं। तीसरा यह पृथिवीस्थ संसार है जिसमें उक्त सभी पदार्थ विद्यमान हैं। वेदों के ये तीनों संसार आधिदैविक, आध्यात्मिक और आधिभौतिक कहलाते हैं। इनमें से आकाशीय संसार और मनुष्य-शरीरस्थ संसार दोनों परस्पर आधाराधेय सम्बन्ध रखते हैं। आकाशीय संसार का एक-एक पदार्थ शारीरिक संसार का आधार है। आकाशीय संसार में जिस प्रकार अन्य समस्त पदार्थ विराजमान हैं उसी प्रकार वहाँ यज्ञ भी हुआ करता है और जिस प्रकार आकाश में यज्ञ हुआ करता है उसी प्रकार शरीर में भी यज्ञ हुआ करता है। ये पिण्ड और ब्रह्माण्ड के यज्ञ निरन्तर चालू रहते हैं, किन्तु परिवर्तनों के कारण कभी-कभी दोनों में वैषम्य उत्पन्न हो जाता है। इसलिए भौतिक यज्ञों से दोनों का सामञ्जस्य करना ही वैदिक यज्ञों का मुख्य उद्देश्य है। हम चाहते हैं कि यहाँ थोड़ा-सा पिण्ड-ब्रह्माण्ड के यज्ञ और उनका परस्पर सम्बन्ध वर्णन कर दें, जिससे विषय स्पष्ट हो जाए और ज्ञात हो जाए कि किस प्रकार यज्ञ वैज्ञानिक नींव पर स्थित हैं और पिण्ड-ब्रह्माण्ड से सम्बन्ध रखते हैं। पिण्ड और ब्रह्माण्ड का सम्बन्ध बताते हुए एक वेदमन्त्र कहता है कि—

सूर्यो मे चक्षुर्वातः प्राणोऽन्तरिक्षमात्मा पृथिवी शरीरम्।
अस्तृतो नामाहमयमस्मि स आत्मानं निदधे द्यावापृथिवीभ्यां गोपीथाय॥

—अथर्व० ५।९।७

अर्थात् सूर्य मेरा नेत्र है, वायु मेरा प्राण है, अन्तरिक्ष मेरा आत्मा (हृदय) है और पृथिवी मेरा शरीर है। मैं अपने आपको अपराजित समझकर द्यावा और पृथिवी के बीच में सुरक्षित रखता हूँ।

यह मन्त्र पिण्ड और ब्रह्माण्ड का स्पष्ट सम्बन्ध बतलाता है। यजुर्वेद में कहा है—**शीर्ष्णो द्यौः समवर्तत॥[1] यस्य वातः प्राणापाणौ॥[2] नाभ्याऽसीदन्तरिक्षम्॥[3] दिशः श्रोत्रात्॥[4] पद्भयां भूमिः॥[5]**

—यजुर्वेद

अर्थात् द्यौ शिर, वायु प्राण, अन्तरिक्ष नाभि, दिशा कान और भूमि उसके पैर हैं।

यहाँ भी वही सम्बन्ध वर्णित है। वेदों में इस प्रकार के बहुत वर्णन हैं। इन उद्धरणों से स्पष्ट हो जाता है कि पिण्ड के साथ ब्रह्माण्ड का घनिष्ठ सम्बन्ध है। यह बात प्रत्यक्ष भी है कि बिना सूर्य के हम देख नहीं सकते, बिना वायु के साँस नहीं ले-सकते और बिना पृथिवी के खड़े नहीं हो सकते। कहने का तात्पर्य यह कि पिण्ड ब्रह्माण्ड के साथ नत्थी है। जैसे इन दोनों का आधार

---

१. यजुः० ३१।१३
२. अथर्व० १०।७।३४
३. यजुः० ३१।१३
४. यजुः० ३१।१३
५. यजुः० ३१।१५

आधेय सम्बन्ध वर्णित है वैसे ही वेदों में दोनों स्थानों के यज्ञों का भी वर्णन है। ब्रह्माण्डयज्ञ के विषय में लिखा है कि—

सप्तास्यासन् परिधयस्त्रि सप्त समिधः कृताः। देवा यद्यज्ञं तन्वानाऽअबध्नन्पुरुषं पशुम्॥
यत्पुरुषेण हविषा देवा यज्ञमतन्वत। वसन्तोऽस्यासीदाज्यं ग्रीष्म इध्मः शरद्धविः॥

—यजुर्वेद ३१।१५,१४

अर्थात् यज्ञवेदी की सात परिधियाँ हैं। उसमें इक्कीस समिधा हैं। ऐसे यज्ञ को देवताओं ने फैला रक्खा है, जिसमें पुरुष पशु बँधा हुआ है। पुरुष के द्वारा हवि से देवता जिस यज्ञ को फैलाते हैं उस यज्ञ में वसन्तऋतु घी है, ग्रीष्मऋतु ईंधन है और शरद्ऋतु हवि है।

गोपथब्राह्मण में लिखा है कि—

तमाहरत् येनायजत तस्याग्निर्होताऽऽसीद् वायुरध्वर्युः
सूर्य उद्गाता चन्द्रमा ब्रह्मा पर्जन्यः सदस्यः॥ —गोपथ० १।१।१३

अर्थात् अग्नि होता, वायु अध्वर्यु, सूर्य उद्गाता, चन्द्रमा ब्रह्मा, और वर्षा सदस्य है। यह ब्रह्माण्ड यज्ञ है।

पिण्डयज्ञ के लिए वेद में लिखा है कि—

अस्थि कृत्वा समिधं तदष्टापो असादयन्। रेतः कृत्वाऽऽज्यं देवाः पुरुषमाविशन्।

—अथ० ११।८।२९

अर्थात् हड्डियों की समिधा बनाकर, रेत का घी करके और आठ प्रकार के रसों को लेकर सब देवताओं ने पुरुष में प्रवेश किया।

शतपथब्राह्मण में लिखा है कि—

पुरुषो वै यज्ञः। पुरुषस्तेन यज्ञो यदेनं पुरुषस्तनुत एष वै
तायमानो यावानेव पुरुषस्तावान् विधीयते तस्मात् पुरुषो यज्ञः॥ [१।३।२।१]

अर्थात् पुरुष ही यज्ञ है, क्योंकि वही यज्ञ करता है। वह उतना ही सत्कर्म करता है जितना वह स्वयं होता है, इसलिए पुरुष ही यज्ञ है।

इसी प्रकार छान्दोग्य उपनिषद् में भी पुरुष को यज्ञ कहा है। वहाँ लिखा है कि—

पुरुषो वाव यज्ञस्तस्य यानि चतुर्विंशतिवर्षाणि तत्प्रातःसवनम्॥ १॥
यानि चतुश्चत्वारिंशद् वर्षाणि तन्माध्यन्दिनंसवनम्॥ २॥
यान्यष्टाचत्वारिंशद्वर्षाणि तृत्ततीयसवनम्॥ ४॥ —छान्दो० ३।[१६।१-२,४]

अर्थात् पुरुष ही यज्ञ है। इसके जो चौबीस वर्ष हैं वह प्रातःसवन है, जो चवालीस वर्ष हैं वह माध्यन्दिनसवन है और जो अड़तालीस वर्ष हैं, वह तृतीय सवन है।

इन प्रमाणों से स्पष्ट होता है कि ऊपर जिन सूर्य आदि देवताओं का ब्रह्माण्डयज्ञ के नाम से वर्णन हुआ है वही देवता मनुष्यशरीर में प्रवेश कर गये और मनुष्यशरीर के पदार्थों को यज्ञ की सामग्री बनाकर वहाँ भी यज्ञ करने लगे, मानो पिण्ड-ब्रह्माण्ड के यज्ञ और उन दोनों का सम्बन्ध दृढ़ हो गया और इस प्रकार यह नित्य सम्बन्ध स्थापित हो गया। इसी सम्बन्ध के अनुसार पिण्ड और ब्रह्माण्ड के दोनों यज्ञ, यज्ञ के तीनों धर्म—देवपूजा, सङ्गतीकरण और दान निरन्तर कर रहे हैं। गर्मी, सर्दी, जल, हवा, प्रकाश और अन्धकार से ब्रह्माण्ड सदैव हमारी सबकी पूजा, सङ्गति और दान किया करता है। मनुष्यशरीर भी सर्दी, गर्मी, प्रकाश आदि से सङ्गति करता है। इन्द्रियाँ परस्पर पूजा करती हैं और दान देती हैं। इसी प्रकार मनुष्यशरीर भी अन्य प्राणियों के साथ पूजा,

सङ्गति और दान का व्यवहार करता है। इस प्रकार पिण्ड और ब्रह्माण्ड दोनों यज्ञ का कार्य बराबर सम्पादन करते हैं। हम कह आये हैं कि ब्रह्माण्ड पिण्ड का आधार है। शरीर सर्वथा ब्रह्माण्ड के अधीन है। आँख सूर्य के, श्वास वायु के और पैर पृथिवी के अधीन हैं, परन्तु जब सूर्य चला जाता है, वायु का चलना बन्द हो जाता है और पृथिवी ठण्डी या गर्म हो जाती है, अर्थात् जब दोनों संसारों में विषमता उत्पन्न हो जाती है तब हम तीसरे भौतिक यज्ञ से दोनों में सामञ्जस्य उत्पन्न करते हैं। हम दीपक जलाकर सूर्य का काम लेते हैं, पंखा झलकर वायु का काम लेते हैं और जूता पहनकर या ऊँचे मञ्च पर खड़े होकर पृथिवी की सर्दी-गर्मी का अनुकूलन कर लेते हैं। यह अनुकूलन ही यज्ञ का सङ्गतीकरण, पूजा और दान है, अर्थात् विषमता उपस्थित होने पर पृथिवीस्थ पदार्थों को लेकर वैज्ञानिक सिद्धान्त से पिण्ड-ब्रह्माण्ड में सामञ्जस्य उत्पन्न कर देना ही यज्ञ का प्रधान कार्य है, इसीलिए वेद में कहा गया है कि **'यज्ञो यज्ञेन कल्पताम्,**[१] **यज्ञने यज्ञमयजन्त देवा:'**[२], अर्थात् यज्ञ से यज्ञ कल्पित हुए हैं। देवता भी यज्ञ से यज्ञ कर रहे हैं। शतपथब्राह्मण में भी लिखा है कि **'यज्ञाद्यज्ञं निर्मिमा इति'**[३], अर्थात् मैं यज्ञ से यज्ञ का निर्माण करता हूँ। इस सब वर्णन का यही तात्पर्य है कि पिण्ड-ब्रह्माण्ड के यज्ञों की विषमता का भौतिक यज्ञों से सामञ्जस्य करते रहना चाहिए।

यद्यपि सत्कर्ममात्र यज्ञ के नाम से कहा गया है, परन्तु भैषज्ययज्ञ, पुत्रेष्टियज्ञ, अवर्षणयज्ञ, गोमेधयज्ञ, अश्वमेधयज्ञ और पञ्चमहायज्ञ आदि स्थूल और व्यावहारिक यज्ञ प्रधान हैं। ये सभी यज्ञ अपने-अपने ढंग के निराले हैं, अतएव इन सबके साधन भी निराले हैं। अपने-अपने यज्ञ के अनुकूल साधन अलग-अलग होने पर भी अग्न्याधान, हवनीय पदार्थ, समयनिरूपण और यज्ञदेश का विचार आदि सबमें हैं। सबमें यज्ञकर्ता, यज्ञमण्डप आदि एक समान ही होते हैं, परन्तु कुण्डों की बनावट, पात्र, हवनीय पदार्थ और अन्य विधियाँ अलग-अलग हैं। इसी प्रकार और भी बहुत-सी बातों में अन्तर है। जैसे अश्वमेध में अमुक प्रकार का घोड़ा, युद्धसामग्री, सेना आदि विशेषरूप से आवश्यक होते हैं, किन्तु पुत्रेष्टि में इनकी बिलकुल आवश्यकता नहीं होती। तात्पर्य यह कि यज्ञों में सामान्य-विशेषभाव सदैव बना रहता है, इसीलिए सबके उपकरण भी सामान्य-विशेषरूप से पृथक्-पृथक् और एक-समान भी होते हैं। आगे हम यज्ञों का वर्णन करते हुए यह भी बतलाते जाएँगे कि किन-किन यज्ञों में कौन-कौन-सी वस्तुएँ विशेषरूप से आवश्यक होती हैं। यज्ञों को सफल बनाने के लिए बहुत-से पदार्थों के साथ अनेक प्रकार की विद्याओं की भी आवश्यकता होती है। मनुष्य से सम्बन्ध रखनेवाली ऐसी एक भी आवश्यक विद्या नहीं है जिसकी यज्ञ में आवश्यकता न होती हो। आर्यलोग इसीलिए यज्ञों को धर्म का मूल बतलाते हैं और थीबो साहब कहते हैं कि 'आर्यों' के पुरातन धर्म से सम्बन्ध रखनेवाली जितनी विद्याएँ हैं, सब उनकी निज की उपज हैं[४]। भैषज्ययज्ञ आर्यों का पुरातन धर्म है और उसका सम्बन्ध आयुर्वेद से है, अत: आयुर्वेद भी आर्यों की ही उपज है।

हम पहले ही बता आये हैं कि यज्ञ के लाभों में सबसे बड़ा लाभ सार्वजनीन आरोग्यता है। सफ़ाई, सड़क, रोशनी, अस्पताल आदि जिस प्रकार सार्वजनीन आरोग्यता के साधन हैं, उसी प्रकार यज्ञ भी हैं। आरोग्यता का सम्बन्ध जीवन से है। संसार में जीवन सबसे अधिक मूल्यवान्

१. यजु:० ९।२१
२. यजु:० ३१।१६
३. शतपथ० १।१।२।७
४. Science is closely connected with the ancient Indian Religion and must be considered as having sprung up among the Indians themselves.

है, अतः सार्वजनीन जीवन-रक्षा का श्रेय होने के कारण यज्ञ का आरोग्य-सम्बन्धी विषय प्रथम और प्रधान है, क्योंकि आरोग्यता नष्ट होने पर शरीर रोगी हो जाता है और रोग से मृत्यु का भय रहता है। मृत्यु कोई पसन्द नहीं करता। एक व्यक्ति का जीवन चाहे सबके लिए मूल्यवान् न हो, परन्तु सबका जीवन तो सबके लिए ही मूल्यवान् है, इसलिए जिसमें सार्वजनीन आरोग्यता का विधान हो, वही यज्ञ सब यज्ञों में अधिक उपयोगी, आवश्यक और वर्णन करने योग्य है, अतएव हम यहाँ आयुर्वेद से सम्बन्ध रखनेवाले भैषज्ययज्ञ का वर्णन करते हैं।

यज्ञों में आयुर्वेद

भैषज्ययज्ञ आयुर्वेद से सम्बन्ध रखते हैं। इनमें देशकाल और पदार्थों के गुणों का ज्ञान होना आवश्यक होता है। गोपथब्राह्मण में लिखा है कि—

'भैषज्ययज्ञा वा एते। ऋतुसन्धिषु व्याधिर्जायते तस्मादृतुसन्धिषु प्रयुज्यन्ते'[१]।

अर्थात् ये भैषज्ययज्ञ कहलाते हैं। ऋतुओं की सन्धि में व्याधियाँ पैदा होती हैं, इसलिए इनका प्रयोग ऋतुसन्धियों में होता है।

छान्दोग्य ४।१७।८ में भी लिखा है कि—

'भेषजकृतो ह वा एष यज्ञो यत्रैवंविद् ब्रह्मा भवति'।

अर्थात् जिनमें वैद्यकशास्त्रज्ञ ब्रह्मा होता है, वे भैषज्ययज्ञ हैं।

इन दोनों प्रमाणों में ऋतुसन्धि और भैषज्ययज्ञ का स्पष्ट वर्णन है, इसलिए वनस्पतियों के गुण और समय का ज्ञान होना आवश्यक है। ओषधियों के लिए स्पष्ट लिखा है कि **'यस्य देशस्य यो जन्तुस्तज्जातस्यौषधं हितम्'।**

अर्थात् जो प्राणी जिस देश का होता है उसके लिए वहाँ की ही उत्पन्न ओषधियाँ हितकर होती हैं। इसके अतिरिक्त ओषधियों पर ऋतुओं का प्रभाव देशभेद से अलग-अलग होता है, इसलिए देश का भी ज्ञान बहुत आवश्यक होता है। देश, काल और पदार्थों के गुणों का ज्ञान आयुर्वेद से ही सम्बन्ध रखता है। इसमें शारीरिक ज्ञान और निदान मिला देने से ही पूरा आयुर्वेद बन जाता है। शारीरिक निदान, त्रिदोष, नाडीज्ञान और अन्य ऐसी ही अनेक बातें हैं जो व्यक्तिव्याधि से सम्बन्ध रखती हैं और वेदों में विस्तार से वर्णित हैं, किन्तु हम यहाँ सार्वजनीन व्याधियों के सार्वजनीन उपचार का ही वर्णन कर रहे हैं, इसलिए उन विषयों का वर्णन करना उचित नहीं समझते। सफ़ाई, प्रकाश, सड़क और अस्पताल आदि म्युनिसिपेलिटी के काम जिस प्रकार सार्वजनिक हैं, उसी प्रकार ये यज्ञ भी है। होली ऐसा ही सार्वजनिक भैषज्ययज्ञ है, जो संवत्सर के अन्त में किया जाता है। यह नवसस्येष्टि भी कहलाता है। 'नवसस्य' का नाम ही होला है। हरे चनों को भूनकर लोग होला खाते हैं, इसलिए होली में भुने हुए हरे चने ही होला कहलाते हैं। यह होली एक प्रकार का भैषज्ययज्ञ ही है।

संसार में सर्दी और गर्मी दो ही हैं। सर्दी की दवा गर्मी और गर्मा की दवा सर्दी है। यजुर्वेद २३।१० में स्पष्ट कहा है कि **'अग्निर्हिमस्य भेषजम्',** अर्थात् अग्नि शीत की दवा है, अर्थापत्ति से समझ लेना चाहिए कि सर्दी भी गर्मी की दवा है। शतपथब्राह्मण में लिखा है—

द्वयं वा इदं न तृतीयमस्ति। आर्द्रं चैव शुष्कं च। यच्छुष्कं तदाग्नेयं यदार्द्रं तत्सौम्यम्। अग्नीषोमयोर्हैवैतावती विभूतः प्रजातिः। सूर्य एवाग्नेयः चन्द्रमा सौम्यः॥[२]

१. गोपथ० २.१.१९
२. शतपथ० १.६.३.२३-२४

अर्थात् सूखा और गीला दो ही हैं, तीसरा नहीं। अग्नि ही सूखा है और सौम्य ही गीला है। इस प्रकार अग्नि और सौम्य की उत्पादकशक्ति विविध प्रकार की है। सूर्य ही अग्नि है और चन्द्रमा ही सौम्य है। अग्नि और जल से ही पित्त और कफ की उत्पत्ति हुई है। तीसरी वस्तु वायु है, जो न शीत है न उष्ण। वायु धूप के संयोग से उष्ण और जल के संयोग से ठण्डी हो जाती है और दोनों के प्रभाव को प्रबल कर देती है। यही सिद्धान्त आयुर्वेद में भी वर्णित है। वेदों में **'अग्निषोमौ'** का विस्तारपूर्वक वर्णन है, जो अग्नि और जल के अतिरिक्त और कुछ नहीं है, अर्थात् संसार में सर्दी और गर्मी दो ही प्रभाव हैं। यही दो प्रभाव संसार के समस्त पदार्थों में हैं। किसी पदार्थ में गर्मी अधिक है और किसी में सर्दी, इसीलिए कोई पित्तकर है और कोई कफकर, परन्तु बादी करनेवाले पदार्थों का कोई लक्षण नहीं किया जा सकता। गर्म पदार्थ भी बादी होते हैं, परन्तु जिन पदार्थों में गर्मी-सर्दी बराबर होती है वे बादी नहीं होते। उन्हीं का नाम समशीतोष्ण और त्रिदोषघ्न है। इस सबका कारण स्पष्ट है कि वायु निज में कुछ भी प्रभाव करनेवाली नहीं है। वह प्रबल गुण के साथ मैत्री करके उसके बल को बेहद बलवान् कर देता है। संसार के सर्द और गर्म पदार्थ वायु के सहचार से अधिक बलवान् हो जाते हैं, इसीलिए कहा है कि कफ़ और पित्त पंगु हैं। वायु जहाँ उनको ले-जाता है वहाँ वे उसी प्रकार जाते हैं जैसे हवा पाकर मेघ भागते हैं, परन्तु यह न समझना चाहिए कि वायु उनका कारण भी है। इस सर्दी-गर्मी का कारण तो ऋतुएँ हैं। ऋतुओं के योग से पदार्थों में प्रायः ऋतुओं के गुण आया करते हैं। इन ऋतुओं का जन्म सूर्य और पृथिवी की चाल पर है, इसलिए देशभेद से ऋतुओं में और ऋतुभेद से पदार्थों के गुणों में अन्तर पड़ जाता है। इस सब वैज्ञानिक भेद को जाननेवाले को भिषक् कहते हैं। छान्दोग्य के अनुसार भैषज्ययज्ञों में जो ब्रह्मा होता है, वह इस विद्या का जाननेवाला होता है। उसके पास वे ओषधियाँ जो भैषज्ययज्ञ में काम आती हैं प्रचुरता से तैयार रहती है। ऋग्वेद में लिखा है—

यत्रौषधीः समग्मतः राजानः समिताामिव। विप्रः स उच्यते भिषग्रक्षोहामीवचातनः॥

—ऋग्वेद [१०।९७।६]

अर्थात् जिसके पास नाना प्रकार की अनेक ओषधियाँ राजा की सभा की भाँति ख़ूब सजी हुई क्रम से इकट्ठी रक्खी हों वह रक्षोह, अर्थात् रोग का नाशक और अमीवचातन, अर्थात् रोगबीजों का दूर करनेवाला भिषक् है।

अथर्व० ५।२९।१ में लिखा है कि **'त्वं भिषग् भेषजस्यासि कर्ता'**, अर्थात् ओषधियों का बनानेवाला तू वैद्य है। बात स्पष्ट हो गई कि भैषज्ययज्ञों के लिए ऐसे वैद्य की आवश्यकता है जो देश, काल और पदार्थों के गुण जानता हो तथा हवनीय ओषधियाँ अपने पास रखता हो। भैषज्ययज्ञों में जिन ओषधियों की आवश्यकता होती है वे बहुत हैं। उनकी एक सूची स्वामी दयानन्द ने रोगनाशक, पुष्टिकारक, बलवर्धक और मिष्ठ तथा सुगन्धित पदार्थों के नाम से दी है। वेदों में बहुत-सी ओषधियों का वर्णन है, जो अमुक-अमुक यज्ञों में काम आती हैं, परन्तु यहाँ हम कुछ ऐसी ओषधियों का वर्णन करते हैं, जिनका अब पता नहीं लगता। यजुर्वेद में हवनीय ओषधियों को अम्ब कहा गया है। वहाँ लिखा है—

शतं वो अम्ब धामानि सहस्रमुत वो रुहः। अधा शतक्रत्वो यूयमिमं मे अगदं कृत॥

—यजुः० १२।७६

हे अम्ब! तुम्हारे सैकड़ों स्थान हैं और तुम हज़ारों प्रकार से उगती हो। तुम मेरे यज्ञ में आओ और सबको आरोग्य करो।

दूसरे स्थान में कहा गया है कि '**एष ते रुद्र भागः सह स्वस्त्रांबिकया तं जुषस्व**'[1], अर्थात् यह तेरा रुद्रभाग है, उसका अम्बिका की बहिनों के साथ होम कर। यहाँ अम्बा की भाँति अम्बिाका का भी वर्णन आया है और तीनों बहिनों की चर्चा भी है। अन्य मन्त्र में कहा है कि—

प्राणाय स्वाहापानाय स्वाहा व्यानाय स्वाहा।
अम्बे अम्बिकेऽम्बालिके न मा नयति कश्चन॥[2]

अर्थात् हे अम्बे, अम्बिके, अम्बालिके! तुम्हारा प्राण, अपान, व्यान के लिए हवन करते हैं। इनके लिए निम्नलिखित प्रसिद्ध मन्त्र में कहा गया है कि—

त्र्यम्बकं यजामहे सुगन्धिम्पुष्टिवर्द्धनम्। उर्वारुकमिव बन्धनान्मृत्योर्मुक्षीय मामृतात्॥
—यजुर्वेद ३।६०

अर्थात् सुगन्धि और पुष्टि को बढ़ानेवाली तीनों अम्बिकाओं का हवन करता हूँ, जिससे मृत्यु के दुःख से उसी प्रकार छूट जाऊँ जिस प्रकार पका हुआ फल अनायास अपने बन्धन से छूट जाता है, परन्तु मोक्ष से न छूटूँ।

इस वर्णन से ज्ञात हो गया कि अम्बा, अम्बिका और अम्बालिका, अर्थात् तीनों बहिनों को रोगनाश करने और जीवन-रक्षा के लिए हवन करने को कहा गया है। ये ओषधियाँ हैं, मनुष्य नहीं, किन्तु दुःख से कहना पड़ता है कि इनकी पहचान किसी को नहीं है। बहुत कुछ अन्वेषण करने पर यह तो पता लग गया है कि ये ओषधियाँ हैं और इनके पर्याय नाम अमुक-अमुक हैं, परन्तु इनका पहचाननेवाला आज कोई नहीं है। इनका आज यदि पता मिलता तो बड़ा काम निकलता, क्योंकि यजुर्वेद ३।५७ में जहाँ इन तीनों बहिनों का हवन करना लिखा है, वहाँ चूहे का भी वर्णन है[3]। सम्भव है ये प्लेग की दवाएँ हों और सार्वजनिक रोगों को दूर करने के लिए भैषज्ययज्ञ में प्रयुक्त होती हों, परन्तु आज तो लोग इन्हें भूल गये हैं। भूल जाएँ, इस बात की यहाँ चर्चा नहीं है। यहाँ तो केवल इतना ही कहना है कि यज्ञों में वैद्यक के ज्ञान की आवश्यकता है। कोई यह नहीं कह सकता कि यज्ञों के लिए आयुर्वेद के ज्ञान की आवश्यकता नहीं है और वैदिक काल के आर्य बिना वैद्यक ज्ञान के ही यज्ञ किया करते थे अथवा केवल कार्बन फैलाते थे। हम देखते हैं कि आजकल चेपी बीमारियों के लिए बड़े-बड़े डॉक्टरों ने भी आग जलाना, शक्कर जलाना और नीम की पत्ती जलाना आरम्भ कर दिया है। यह उनमें भैषज्ययज्ञ का आरम्भ है। इस आरम्भ से हम आशा करते हैं कि वर्त्तमान विज्ञान भी कभी यज्ञों की सार्थकता पर प्रकाश डालेगा। यहाँ तक के वर्णन से देखा गया कि ऋतु-सन्धियों में व्याधियाँ होती हैं तभी भैषज्य यज्ञों का प्रयोग होता है, अतः प्रश्न होता है कि क्या यज्ञों में ऋतुसन्धियों को जानने के लिए ज्योतिष् का ज्ञान आवश्यक है?

यज्ञों में ज्योतिष्

यज्ञों में ज्योतिष् की आवश्यकता अनिवार्य है। आर्यों के दो विश्वास ऐसे हैं, जिनके कारण ज्योतिष् का सूक्ष्म ज्ञान आवश्यक है। एक तो भैषद्ययज्ञ के लिए ऋतुओं की सन्धियाँ जानना दूसरे दक्षिणायन और उत्तरायण में मरने से दो प्रकार की गतियाँ मानना। वे मानते थे कि उत्तरायण में मरने से मोक्ष होता है और दक्षिणायन में मरने से पुनर्जन्म होता है। जिसका यह

१. यजुः० ३।५७
२. यजुः० २३।१८
३. एष ते रुद्र भाग आखुस्ते पशुः (यजुः० ३।५७), अर्थात् यह तेरा रुद्रभाग है, तेरा पशु चूहा है।

विश्वास हो कि उत्तरायण में मरने से मोक्ष होता है वह भला उसके सूक्ष्म ज्ञान के बिना कैसे रह सकता है ? देशी और विदेशी विद्वान् एक स्वर से कहते हैं कि आर्यों में ज्योतिष् का प्रादुर्भाव यज्ञों का समय देखने के लिए ही हुआ है। भास्कराचार्य सिद्धान्तशिरोमणि में कहते हैं कि वेदों में यज्ञों का वर्णन है और यज्ञ काल के आश्रित हैं, इसलिए जिसमें काल का वर्णन हो वह ज्योतिश्शास्त्र वेद का अङ्ग कहलाता है[१]। ज्योतिष् वेद का नेत्र इसी कारण कहलाता है कि ज्योतिष् से समय दिखलाई पड़ता है, इसीलिए जर्मन का प्रसिद्ध विद्वान् थीबो कहता है कि यज्ञों का ठीक समय जानने के लिए ही आर्यों में सबसे पहले ज्योतिश्शास्त्र के सूक्ष्म अवलोकनों की आवश्यकता हुई[२]। यह बात बिलकुल सत्य है कि यज्ञ, चाहे छोटे हों या बड़े, सन्धियों में ही होते हैं। सन्धि के लिए दूसरा शब्द पर्व है। गाँठ, जोड़, अथवा सन्धि को पर्व भी कहते हैं। प्रातः-सायं की सन्धि में हवन होता है[३]। पक्ष की सन्धि, मास की सन्धि, ऋतु की सन्धि[४] चातुर्मास्य की सन्धि, दोनों अयनों की सन्धि और वर्ष की सन्धि पर ही यज्ञ (हवन) होते हैं। यही सब सन्धियाँ पर्व भी कहलाती हैं। इनका सूक्ष्म ज्ञान ज्योतिष् से ही होता है। पक्ष और मास की सन्धि चाहे चन्द्रमा के स्थूल अवलोकन से अमावास्या और पूर्णिमा के दिन ज्ञात हो जाएँ, परन्तु ऋतु, अयन, संवत्सर का सन्धिज्ञान जब तक सायन गणनानुसार ज्योतिष् का ठीक-ठीक ज्ञान न हो तब तक नहीं हो सकता।

वेदों में ऋतुओं के हिसाब से १२ महीनों के नाम दिये हुए हैं[५], अतः प्रश्न है कि इन महीनों की सन्धियों को वे कैसे जानते थे ? वे कैसे जानते थे कि मधुमास आज बीत गया और माधव लगा तथा आज माधव बीतने पर वसन्तऋतु समाप्त हुई। वेदों में इसी प्रकार दोनों अयनों का भी वर्णन है[६]। यह भी कैसे जाना जाता था कि आज उत्तरायण समाप्त हुआ और दक्षिणायन लगा। इसके लिए तो उनको अयनों का बहुत ही सूक्ष्म ज्ञान होना चाहिए। अयनों का सूक्ष्म ज्ञान इसलिए भी होना चाहिए कि वे उत्तरायण को मोक्षदाता मानते थे। वे हमेशा कहते थे कि **'नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय'**[७] अर्थात् उत्तरायण के लिए परमेश्वर की भक्ति के सिवा और कोई दूसरा पन्थ नहीं है। दोनों पन्थ शास्त्रों में कहे गये हैं। दक्षिण अयनवाले चन्द्रलोक को जाकर फिर जन्म-मरण के फेर में पड़ते हैं, परन्तु उत्तरायणवाले सूर्यलोक को जाते हैं और फिर नहीं आते। ऐसे बड़े काम के मुहूर्त (क्षण) को जिसमें दोनों अयन पृथक् होते हैं, उन्होंने न जाना हो यह नहीं कहा जा सकता।

---

१. वेदास्तावद्यज्ञकर्मप्रवृत्ता यज्ञाप्रोक्तास्ते कालाश्रयेण।
शास्त्रादस्मात् कालबोधो यतः स्याद्वेदाङ्गत्वं ज्योतिषस्योक्तमस्मात्॥ —[सिद्धान्त० ग्रह० मध्य० १।९]

२. The want of some rule by which to fix right time for the sacrifices gave the first impulse to astronomical observation.

३. **प्रातःप्रातर्गृहपतिर्नो। सायंसायं गृहपतिर्नो।** ये प्रातःसायं के सवन कहलाते हैं। इन्हीं के कारण उदय से उदय तक के समय को सावनदिन कहते हैं।

४. ऋतुओं में ही यज्ञ करने से यज्ञकर्ता का नान ऋत्विज्, अर्थात् ऋतुओं में यजन करनेवाला है।

५. मधुश्च माधवश्च वासन्तिकावृतू। शुक्रश्च शुचिश्च ग्रैष्मावृतू।
नभश्च नभस्यश्च वार्षिकावृतू। तपश्च तपस्यश्च शैशिरावृतू। —यजुः० अ० १३[२५]

६. द्वे सृती अशृण्वं पितृणामहं देवानामुत॥ —यजुः० १९।४७
षडाहुः शीतान् षडु मास उष्णानृतुं नो ब्रूत॥ —अथ० ८।९।१७

७. यजुः० ३१।१८

ऐतरेयब्राह्मण की भूमिका में मार्टिन हाग कहते हैं कि 'जो यज्ञ सालभर चलता है वह सौरजगत् की वार्षिक परिक्रमा का रूप ही है। यह यज्ञ दो बराबर भागों में बाँट दिया जाता है। जिसका प्रत्येक भाग तीस अंशों में छह-छह मास का होता है। दोनों के बीच में जो दोनों अयनों को काटता है वह 'विषुवान्' नामी दिन है'[१]। इससे ज्ञात होता है कि आर्यों को दोनों अयनों का और वर्ष समाप्त होनेवाले दिन का सूक्ष्म ज्ञान था। इसी से उन्होंने उसका नाम विषुवान् रक्खा था, क्योंकि यज्ञ सौरजगत् की आकृति के ही होते हैं। कहा भी है कि **'यज्ञो वै संवत्सरः'**, अर्थात् यज्ञ संवत्सर ही है। यज्ञों में स्थापित इन्द्र, वरुण, कुबेर, गणेश और गौरी क्रम से अग्नि, जल, वायु, आकाश और पृथिवी के रूप ही हैं। इनके प्रतिनिधि दीपक, कलश, अन्न, नवग्रह और गौरी आदि हैं। यह गौरी पृथिवी की प्रतिमा ही है। इसकी बनावट में अब तक पृथिवी के ध्रुवप्रदेश दबे हुए होते हैं। यज्ञों में अन्य ग्रह भी बनाये जाते हैं, जिनके स्थान में मन्थिन आदि पात्र रक्खे जाते हैं जो ग्रहों के ही रूपक हैं। इस प्रकार यज्ञ जगद्रूपी वर्ष का रूप ही है। वर्ष को अनुकूल बनाने के लिए ही यज्ञ होता है, अतः हम बलपूर्वक कह सकते हैं कि आर्यों को ज्योतिष् का सूक्ष्म ज्ञान था और उसका उपयोग यज्ञों में होता था।

पाश्चात्य विद्वान् और कुछ एतद्देशीय विद्वान् कहते हैं कि सायन-गणना आर्यों की उपज नहीं है, क्योंकि आर्यों के प्राचीन साहित्य में राशियों के नाम नहीं है। बारह राशियाँ, उनके मेष वृषादि रूप और ३६५ दिन ६ घण्टे का वर्ष आदि आर्यों के नहीं है। आर्यलोग चान्द्रवर्ष और नाक्षत्रवर्ष जानते थे। नाक्षत्रवर्ष सायनवर्ष से कुछ मिनट बड़ा है, इसलिए २००० वर्ष में एक महीना आर्यों को पीछे खिसकाना पड़ता था। उनको विषुववृत्त और क्रान्तिवृत्त में जो 'नति' या तिर्यक्त्व है, उसका ज्ञान नहीं था। यहाँ के प्राचीन साहित्य में बारह राशियों के नाम नहीं मिलते। इसलिए मेष, वृष आदि गणना ग्रीकों की है।

इन बातों में से केवल इतना तो हमें भी स्वीकार है कि मेष, वृष आदि नाम हमारे पुराने ग्रन्थों में नहीं मिलते, परन्तु इतने से क्या यह सिद्ध हो गया कि हमको बारह राशियों के रूपों और उनके द्वारा उत्पन्न हुए वर्ष का ज्ञान नहीं था? वेदों में बारह राशियों के रूपों का वर्णन आया है[२]। अभी हमने बारह सायन महीनों के नाम दो-दो ऋतुओं के साथ फुटनोट में लिखे हैं। वेदों में बारह आदित्यों के नाम प्रसिद्ध हैं। शतपथ में आया है कि बारह आदित्य हैं, ये सबको देते हैं, इसलिए आदित्य कहलाते हैं[३]। पं० सत्यव्रत सामश्रमी इन बारह आदित्यों के नाम सविता, भग, सूर्य, पूषा, विष्णु, विश्वानर, वरुण, केशी, वृषाकपि, यम, अजएकपात् और समुद्र बतलाते हैं। यही बारह राशियों के नाम हैं। इस प्रकार राशियों के नाम, उनके रूप और उनके मधु-माधव आदि महीनों के नाम वेदों में लिखे हुए हैं, जिससे स्पष्ट हो जाता है कि वैदिक आर्य सायन वर्ष जानते थे। अयनज्ञान जब उनको था तो सायन का ज्ञान अवश्य ही था, क्योंकि सायन का अर्थ

---

१. The satrās which lasted for one year were nothing but an imitation of the sun's yearly course. They were divided into two distinct parts, each consisting of six months of 30 days each. In the midst of both was the Vishuvān i.e., the equator or the central day, cutting the whole satra into two halves. —Ait. Brah, Intro., p. 48.

२. **'पञ्चपादं पितरं द्वादशाकृतिम्'**। [ऋ० १।१६४।१२] यह मेष-वृषादि १२ आकृतियों का वर्णन है। इससे अनुमान होता है कि मेष, वृष आदि नाम यहाँवालों ने ही रक्खा होगा और यहाँ से ही ग्रीकों ने लिया होगा।

३. **कतम आदित्या इति। द्वादश मासाः संवत्सरस्यैत आदित्या, एते हीदꣳ सर्वमाददाना यन्ति तद्यदिदꣳ सर्वमाददाना यन्ति, तस्मादादित्या इति।** —शतपथब्राह्मण १४।६।९।६

ही अयन के साथ होता है। अयनज्ञान के लिए पृथिवी का घूमना, राशिपथ, उसके बारह भाग, अधिमास, ग्रहण, ध्रुवों में छह मास की रात और दिन, क्रान्तिवृत्त, विषुववृत्त, नति और विषुवान् आदि का ज्ञान होना ही चाहिए। यदि इतनी बातें वेदों में हों तो समझना चाहिए कि वैदिकों को सायन गणना याद थी, अत: हम दिखलाना चाहते हैं कि ये बातें वेदों में हैं। सबसे पहले हम वेदों से पृथिवी के गोल होने और घूमने का वर्णन दिखलाते हैं। ऋग्वेद में लिखा है—

चक्राणासः परीणहं पृथिव्या हिरण्येन मणिना शुम्भमानाः।
न हिन्वानासस्तितिरुस्त इन्द्रं परि स्पशो अदधात् सूर्येण॥

—ऋ० १।३३।८

अर्थात् पृथिवी गोलाकार है। इसका आधा भाग सूर्य से प्रकाशित होता है और आधा भाग अन्धकारावृत रहता है। यह सूर्य के ही आकर्षण से ठहरी है। पृथिवी सूर्य के ही आधार पर है।

इसी बात का वर्णन ऋग्वेद में दूसरे स्थान पर इस प्रकार है '**उक्षा स द्यावापृथिवी बिभर्ति**'[१], अर्थात् पृथिवी सूर्य के आधार पर ठहरी है।

वेद में दूसरे स्थान पर स्पष्ट ही लिखा है कि '**दाधार्त्थ पृथिवीमभितो मयूखैः**'[२] अर्थात् किरणों से सूर्य पृथिवी को धारण किये हुए है।

तीसरे स्थान पर ऋग्वेद १०।१४९।१ में है कि '**सविता यन्त्रैः पृथिवीमरम्णादस्कम्भने सविता द्यामदृंहत**', अर्थात् निराधार प्रदेश में सूर्ययन्त्र द्वारा पृथिवी घूम रही है और उसी ने ग्रहों को दृढ़ किया है। अथर्ववेद में पृथिवी के घूमने के विषय में कहा है—

यस्यां कृष्णमरुणं च संहिते अहोरात्रे विहिते भूम्यामधि।
वर्षेण भूमिः पृथिवी वृतावृता सा नो दधातु भद्रया प्रिये धामनिधामनि॥

—अथर्व० १२।१।५२

अर्थात् जो पृथिवी के दैनिक एवं वार्षिक वृत्तावृत्ता होते हैं और जिसके ३० दिन और १२ महीने=धाम हैं, वे हमारी रक्षा करें।।

यहाँ स्पष्ट ही भूमि और पृथिवी के साथ वृत्तावृत्ता दो बार आया है, जिससे दैनिक और वार्षिक गतियाँ स्पष्ट होती हैं। यहाँ इस वृत्त शब्द का अर्थ चक्कर ही है। जिस मार्ग से होकर पृथिवी वर्षभर में घूम आती है, वही राशिपथ है। उसको वैश्वानर कहते हैं। वेद में लिखा है—

वैश्वानरस्य प्रतिमोपरि द्यौर्यावद्रोदसी विबबाधे अग्निः।
ततः षष्ठादामुतो यन्ति स्तोमा उदितो यन्त्यभि षष्ठमह्नः॥ —अथर्ववेद ८।९।६

अर्थात् वैश्वानर राशिपथ के ऊपर जो स्थान है, उससे सूर्य छह भाग एक ओर और छह भाग दूसरी ओर रहता है। इसी से ध्रुवों में छह मास की रात और छह मास का दिन होता है।

इस वैश्वानर नामी राशिचक्र का वर्णन वाल्मीकि रामायण में भी आया है—

गगने तान्यनेकानि वैश्वानरपथाद्बहिः।
नक्षत्राणि मुनिश्रेष्ठ ते तु ज्योतिषु जाज्वलन्॥ —बाल० सर्ग ६०

अर्थात् गगन में वैश्वानर-पथ के बाहर बहुत-से चमकीले नक्षत्र हैं।

इसपर राम नामक टीकाकार कहता है कि ज्योतिश्चक्रमार्ग से बाहर सब नक्षत्र प्रकाशित

---

१. ऋ० १०।३१।७
२. यजुः० ५।१६

हैं। यह ज्योतिश्चक्रमार्ग राशिचक्र ही है। इस राशिपथ के १२ भाग हैं।

ऋग्वेद [१।१६४।४८] में कहा है कि—

द्वादश प्रधयश्चक्रमेकं त्रीणि नाभ्यानि क उ तच्चिकेत।
तस्मिन् साकं त्रिंशता न शङ्क्वोऽर्पिताः षष्टिर्न चलाचलासः॥

अर्थात् १२ भागों में विभक्त ३६० अंश का एक चक्र (संवत्सर का क्षेत्र) होता है, जिसमें सर्दी, गर्मी, वर्षा तीन नाभियाँ है।

मन्त्र कहता है कि इस चक्र के ३६० अंश अचल हैं। इससे ये सावनदिन नहीं प्रत्युत सायनदिन प्रतीत होते हैं। यही मन्त्र अथर्व में पाठभेद से इस प्रकार आता है—

'तत्राहतास्त्रीणि शतानि शङ्क्वः षष्टिश्च खीला अविचाचला ये'।[1]

इसमें शङ्कु और खीला बताकर स्पष्ट कर दिया गया है कि यह ज्योतिष् का चक्र बिलकुल सायन है। इस चक्र का वर्णन महाभारत में भी इस प्रकार है—

चतुर्विंशतिपर्व त्वां षण्णाभि द्वादशप्रधि। तत्त्रिषष्टिशतारं वै चक्रं पातु सदा गतिः।
—वनपर्व अ० १३३[२५]

अर्थात् हे राजन्! वह चक्र तुम्हारा कल्याण करे, जिसमें २४ पर्व, ६ नाभियाँ, १२ घेरे और ३६० आरे हैं।

यह वही चक्र है जिसका वर्णन वेद में किया गया है। इसके विषय में प्रसिद्ध विद्वान् रायबहादुर चिन्तामणि विनायक वैद्य कहते हैं कि 'यह चक्र बहुत पुराना है और वैदिक साहित्य में पाया जाता है। इस चक्र से आकशस्थ ग्रहों के वेधने का चक्र उत्पन्न होना असम्भव नहीं है। ऐसे एकाध चक्र के बिना सूर्य की प्रदक्षिणा और उत्तरगति का सूक्ष्म ज्ञान एवं दिशाओं का भी सूक्ष्म ज्ञान होना सम्भव नहीं है। इतिहास से सिद्ध है कि भारतकाल में आर्यों को इन दोनों बातों का सूक्ष्म ज्ञान हो गया था'। इसी चक्र से चान्द्रवर्ष का अन्तर ज्ञात होता था और तेरहवें महीने की योजना हुई थी, क्योंकि राशिचक्र का यदि सूक्ष्म ज्ञान न हो जाता तो वैदिक आर्यों को अधिक मास या १३वें मास का ज्ञान न होता। ऋग्वेद में लिखा है **'वेद मासो धृतव्रतः'**,[2] और अथर्व १३।३।८ में कहा है **'अहोरात्रैर्विमितं त्रिंशदङ्गं त्रयोदशं मासं यो निर्मिमीते'**, अर्थात् ३० दिन का महीना मानने से १३वाँ महीना मानना पड़ता है। इस वर्णन से ऊपरवाले चक्र को नहीं कहा जा सकता कि वह चान्द्र है। ऋग्वेद और अथर्ववेद में सूर्य को बारह दिन और बारह रात्रि तक ठहरकर साल पूरा करने की विधि लिखी है[3]। इसलिए वैदिक आर्य सायनगणना जानते थे। यदि वे सायनगति न जानते तो ग्रहण न जान सकते, परन्तु वेदों में ग्रहण का वर्णन है। ऋग्वेद में लिखा है कि—

यत्त्वा सूर्य स्वर्भानुस्तमसाविध्यदासुरः। अक्षेत्रविद्यथा मुग्धो भुवनान्यदीधयुः॥
स्वर्भानोरध यदिन्द्र माया अवो दिवो वर्तमाना अवाहन्।
गूळ्हं सूर्यं तमसापव्रतेन तुरीयेण ब्रह्मणाविन्ददत्रिः। —ऋ० ५।४०।५-६

अर्थात् हे सूर्य! तुम्हें चन्द्रमा नो जो अन्धकार से घेर लिया है, इससे ज्योतिष् और रेखागणित न जाननेवाले मुग्ध हो रहे हैं। द्युलोक में तुम्हारा प्रकाश है उसको चन्द्रमा ने आच्छादित कर दिया है, इसलिए विद्वान् लोग सूर्य को तुरीययन्त्र से देखते हैं।

१. अथर्व० १०।८।४ २. ऋ० १।२५।८
३. द्वादश द्यून्यदगोह्यस्य।—ऋ० ४।३३।७

यहाँ स्पष्ट कह दिया गया है कि जो रेखागणित नहीं जानता वह अक्षेत्रविद् है और ग्रहण से मुग्ध हो जाता है, परन्तु जो विद्वान् है वह गणित करके देख लेता है कि किस दिन चन्द्र सूर्य के ऊपर आ जाएगा और यह घटना पृथिवी के किस स्थान से दिखेगी। ग्रहण का समय किसी प्रकार नहीं ज्ञात हो सकता जब तक पृथिवी और चन्द्रमा की चालें ठीक ज्ञात न हों और जब तक अक्षांशज्ञान न हो। इस ऋग्वेद की घटना का वर्णन समस्त प्राचीन ग्रन्थों में आया है। यहाँ हम उनमें से नमूने के लिए कुछ प्रमाण लिखते हैं—

स्वर्भानुर्ह वाऽआसुरः। सूर्यं तमसा विव्याध। —शतपथ० ५।३।२।२
स्वर्भानुर्वा आसुरः सूर्यं तमसा विध्यत। —गोपथ० २।३।१९
स्वर्भानुर्वा आसुरः। आदित्यन्तमसोऽविध्यत्। —ताण्ड्य० ४।५।२
यं वै सूर्यं स्वर्भानुस्तमसा विध्यदासुरः। —आश्वलायनशाखा अष्टक ४
अभ्यधावत काकुत्स्थं स्वर्भानुरिव भास्करम्। —वाल्मी० यु० स० १०२।३

ये पाँचों वाक्य उपर्युक्त ऋग्वेद के मन्त्रों का ही आशय कह रहे हैं। इन सबका तात्पर्य यही होता है कि सूर्य को स्वर्भानु (चन्द्रमा) अपने अन्धकार से छिपा देता है।

सारांश यह कि वैदिकों को ग्रहण का पूर्ण ज्ञान था। ज्ञान ही नहीं था, किन्तु जिस प्रकार उन्होंने सायनगणना के लिए वेधशाला के राशिचक्र का निर्माण किया था उसी प्रकार ग्रहण देखने के लिए तुरीययन्त्र का भी आविष्कार कर लिया था। इस तुरीययन्त्र का वर्णन भास्कराचार्य ने सिद्धान्तशिरोमणि में किया है[1] और शिल्पसंहिता में तो दूरबीन बनाने का भी विस्तार से वर्णन है। वहाँ लिखा है कि—

मनोर्वाक्यं समाधाय ते च शिल्पीन्द्र शाश्वतः। यन्त्रं चकार सहसा दृष्ट्यर्थे दूरदर्शनम्॥
पलालाग्नौ दग्धमृदा कृत्वा काचमनश्वरम्। शोधयत्विा तु शिल्पीन्द्रो नैर्मल्यं क्रियते च।
चकार बलवत्स्वच्छं पातनं सूपविष्कृतम्। वंशपर्व समाकारं धातुदण्डप्रकल्पितम्।
तत्पश्चादग्रमध्येषु मुकुरं च विवेश सः। —शिल्पसंहिता

अर्थात् दूर तक देखने के लिए इस प्रकार का यन्त्र बनाना चाहिए कि पहले मिट्टी को जलाकर काच तैयार करे। फिर उसको साफ़ करके उस स्वच्छ काच को बाँस या धातु की नली में (आदि, मध्य और अन्त में) लगाकर देखे। यह तुरीययन्त्र की भाँति ही ग्रहों के देखने में काम आता है।

इस तमाम वर्णन से स्पष्ट हो जाता है कि वैदिकों को ग्रहण जानने का ज्ञान था। यदि ग्रहण न जान सकते होते तो उन्हें कैसे ज्ञात होता कि सूर्य को चन्द्रमा ढकता है, क्योंकि सूर्यग्रहण सदा अमावास्या को ही होता है, जिस दिन चन्द्रमा का कहीं पता ही नहीं रहता, वह भी दिन के समय और प्रत्येक अमावास्या को नहीं, किन्तु कभी-कभी। कभी किसी अमावास्या को दिन के समय सूर्य को चन्द्र से ढकनेवाले सूर्यग्रहण की कल्पाना, वह भी तुरीययन्त्र के द्वारा, क्या कभी आकस्मिक हो सकती है? कभी नहीं।

इसके सिवा वेदों में ध्रुवप्रदेश में होनेवाले छह-छह मास के दिन-रात का भी वर्णन है जिससे प्रकट हो जाता है कि याज्ञिक ज्योतिषियों को सायनगणना का पूरा ज्ञान था। अभी हमने दिखलाया था कि अथर्ववेद ८।७।६ के **'वैश्वानरस्य प्रतिमा'** मन्त्र में बतलाया गया है कि

१. दृगुच्च मूलं नलकं निवेश्य वंशद्वयाधारमथास्य रन्ध्रे। विलोकयेत्खेचरं किलैवं जले विलोमं तदपि प्रवक्ष्ये। —सिद्धान्तशिरोमणि

वैश्वानर राशिपथ पर घूमती हुई पृथिवी में छह मास की रात और छह मास के दिन होते हैं। इसी विषय का स्पष्ट वर्णन तैत्तिरीयसंहिता में आया है कि **'एकं वा एतद्देवानामहः। यत्संवत्सरः'**[१] अर्थात् मनुष्यों का संवत्सर देवताओं के एक दिन के बराबर है। यह देवताओं का दिन ध्रुवप्रदेशों में ही होता है। वैदिक काल में ही आर्यों को इसका ज्ञान था, किन्तु ४५० ईस्वी सन् पूर्व तक ग्रीकों को इस बात का ज्ञान नहीं था। 'आर्यों का उत्तरध्रुवनिवास' में लोकमान्य तिलक कहते हैं कि 'हिराडोटस नामक ग्रीक इतिहासज्ञ के समय (४५० ई० पूर्व) में लोगों को यह बात असत्य प्रतीत होती थी कि इस पृथिवी पर लोग छह मास की भी रात मानते हैं'। इससे ज्ञात होता है कि ध्रुवों में छह मास की रात और छह मास का दिन ज्ञात करना ज्योतिष् और भूगोल के महान् सूक्ष्म ज्ञान पर ही अवलम्बित है। जब तक क्रान्तिवृत्त और विषुववृत्त के चलाचल का ज्ञान न हो तब तक ध्रुव का हाल ज्ञात ही नहीं होता। क्रान्तिवृत्त राशिचक्र है, जो अचल है, परन्तु विषुववृत्त पृथिवी की गोलाई की रेखा है जो नति, अर्थात् पृथिवी के झुकाव के कारण चला करती है। इन्हीं दोनों से रात-दिन का घटाव-बढ़ाव, रात-दिन की बराबरी और सायनवर्ष होता है। वैदिक आर्यों को ध्रुव का ज्ञान होने से इन सब बातों का ज्ञान होना पाया जाता है, अतएव सिद्ध है कि वैदिक आर्य सायनगणना अच्छी प्रकार जानते थे।

उनको नति का भी ज्ञान था। विषुववृत्त और क्रान्तिवृत्त के बीच में लगभग २२$^{१}/_{२}$ अंश का जो कोण है उसे नति कहते हैं। लोकमान्य तिलक कहते हैं कि 'प्रोफ़ेसर लुडविग के कथनानुसार ऋग्वेद में क्रान्तिवृत्त और विषुववृत्त की नति, अर्थात् तिर्यक्त्व का उल्लेख है'[२]। नति का सूक्ष्म ज्ञान होने पर ही ध्रुवों का वृत्तान्त ज्ञात हो सकता है और तभी सायनगणना ठीक हो सकती है। ग्रीक लोगों को ध्रुव का ज्ञान नहीं था। इससे पाया जाता है कि वे क्रान्तिवृत्त का रहस्य नहीं जानते थे, किन्तु आर्यलोग जानते थे। ऐसी दशा में कैसे कहा जाता है कि आर्यों ने सायनगणना ग्रीकों से सीखी?

वैदिक आर्यों का वर्ष हमेशा सायन था और वसन्त ऋतु से ही आरम्भ होता था। तैत्तिरीयब्राह्मण में लिखा है कि **'मुखं वा एतदृतूनां यद्वसन्तः'**,[३] अर्थात् वसन्तऋतु सब ऋतुओं का मुख है। इसके विषय में 'ओरायन' में लोकमान्य तिलक कहते हैं कि 'यह मानने में लेशमात्र हानि नहीं है कि प्राचीन वैदिक काल में जब सूर्य वसन्तसम्पात में होता था तभी वर्ष का आरम्भ होता था'। इससे सिद्ध है कि वैदिक आर्यों का वर्ष सायन था, क्योंकि सायनगणना में ही वर्ष ऋतुओंवाला होता है और ऋतुएँ अयनोंवाली होती हैं। हम पहले ही कह आये हैं कि ऋतुओं की सन्धियों में यज्ञ करने के लिए और उत्तरायण को मोक्षसाधक मानकर उसकी प्रतीक्षा करने के लिए उनको अयन-चलन का सूक्ष्म ज्ञान प्राप्त हो गया था। सूक्ष्म ज्ञान से ही वे वर्ष के मध्य का दिन निकाल सकते थे और उसी दिन से वसन्तऋतु का आरम्भ मानकर वर्ष का आरम्भ करते थे। यह सब-कुछ बिना अयनगति और राशिचक्र के ठीक-ठीक ज्ञान के हो ही नहीं सकता। ग्रीकों को इतना सूक्ष्म ज्ञान नहीं था। उनके विषय में लोकमान्य तिलक 'ओरायन' में कहते हैं कि 'दूसरे सर्व राष्ट्रों से पूर्व और विशेष सूक्ष्मता से अयनगति को भारतवासियों ने ही जाना था। ग्रीक ज्योतिश्शास्त्र हिपार्कस ने इस अयनगति को प्रतिवर्ष कम-से-कम ३६ विकला माना है, परन्तु इस समय वह

---

१. तै० ३।९।२२।१

२. Prof. Ludwig goes further and holds that the Rigveda mentions the inclination of the ecliptic with the equator (1.110.12) and the axis of the Earth (10.89.4). —*Orion*, p. 158.

३. तै० १।१।२।६-७

ठीक ५०$^{1}/_{4}$ विकला है और भारतीय ज्योतिर्विदों के हिसाब से वह ५४ विकला है। इससे स्पष्ट प्रतीत होता है कि भारतीयों ने अयनगति ग्रीकों से नहीं ली। इस अयनगति को भारतीय ज्योतिषियों ने स्वयं ढूँढ निकाला है, इसमें तनिक भी सन्देह नहीं'। हमारा तो विश्वास है कि यह ज्ञान ग्रीकों ने भारत से ही सीखा है। भारतवासी '**पंचपादं पितरं द्वादशाकृतिम्**'[१] के अनुसार बारह राशियों की आकृति को जानते थे। वे उन्हें प्रतिमा, अर्थात् नाप बतलाते हैं। इससे हम कह सकते हैं कि निस्सन्देह मेष-वृष आदि राशियों के नाम भी यहाँवालों ने ही रक्खा है और पीछे से उन आकृतियों के नामों का ग्रीकों ने अनुवाद कर लिया है। जो हो, इसमें सन्देह नहीं कि यहाँवाले राशिचक्र, अयनगति और सायनवर्ष वैदिक काल से ही जानते थे, क्योंकि उनको यज्ञ में ज्योतिष् के सूक्ष्म विचारों की आवश्यकता होती थी।

इस वैदिक ज्ञान से ऋषियों ने अपनी कल्पनाशक्ति के द्वारा ज्योतिष्-सम्बन्धी जो सूक्ष्म ज्ञान आविष्कृत किया था, वह समय की अस्थिरता है। समय जिसे काल कहते हैं वह पानी की धारा की भाँति अटूट बहता है। उसमें भूत, भविष्य और वर्त्तमान की रेखा नहीं खींची जा सकती। कोई नहीं कह सकता कि इतने बजकर इतने मिनट और इतने सेकिण्ड पर वर्ष समाप्त हुआ और नया लगा, क्योंकि काल का प्रवाह अबाधित गति से बह रहा है। यज्ञों के लिए ऋषियों को वर्ष का कोई एक ऐसा दिन निश्चित करना पड़ता था जिससे वे छह-छह महीने के दोनों अयनों को बाँट दें। उन्होंने उस दिन का नाम विषुवान् रक्खा था और उसको निश्चित भी कर दिया था, परन्तु कालप्रवाह अस्थिर है यह सोचकर उन्होंने गोपथब्राह्मण में लिखा है कि विषुवान् संवत्सर का आत्मा है और दो महीने अङ्ग हैं। जहाँ आत्मा वहाँ अङ्ग और जहाँ अङ्ग वहाँ आत्मा है। आत्मा अङ्गों से अलग नहीं और अङ्ग आत्मा से अलग नहीं। इसी प्रकार इधरवाले दिनों का वह पसीना है जो उधरवाला है और उधरवाले दिनों का यह पसीना है जो इधरवाला है। यही संवत्सर है[२]। कितना सूक्ष्म विज्ञान है! वे यह मानते हैं कि दो महीनों के बीच में कोई स्थान है जो दोनों का आत्मा है, परन्तु उसका नियन्त्रण नहीं हो सकता, इसलिए कभी तनिक-सा इस ओर और कभी तनिक-सा उस ओर हो जाता है, क्योंकि दोनों खण्ड एक-दूसरे का पसीना हैं। राय बहादुर चिन्तामणि विनायक वैद्य कहते हैं कि 'यज्ञों में प्राची दिशा का साधना आवश्यक है और वर्षसत्र करते समय विषुवदिवस जानने का बड़ा माहात्म्य है। उस दिन सूर्य ठीक पूर्व में उदय होता है'। इस प्रकार जहाँ वर्ष स्थिर करने के लिए, विषुवान् दिन नियत करने के लिए, वसन्तसम्पात स्थिर करने के लिए और मोक्षदायक उत्तरायण जानने के लिए इतना सूक्ष्म विचार हो, वहाँ कौन कह सकता है कि वेदों की पूर्ण शिक्षा से आगे बढ़ने, विचार सकने और सूक्ष्मातिसूक्ष्म विषयों के निश्चित करने का ज्ञान नहीं होता?

दूसरी सूक्ष्मता है सूर्य के उदय-अस्त की। आधुनिक विद्वान् मानते हैं कि सूर्य का उदयास्त वैदिक काल में आजकल की भाँति ज्ञात नहीं था, परन्तु यह बात सत्य नहीं है। ऐतरेय और गोपथब्राह्मण में लिखा है कि न सूर्य कभी अस्त होता है और न उदय होता है। वह सदैव बना रहता है, परन्तु जब पृथिवी से छिप जाता है तब रात्रि हो जाती है और जब पृथिवी उसकी आड़ से हट जाती है तब दिन हो जाता है। यही बात डॉक्टर हाग ने ऐतरेयब्राह्मण के अनुवाद में

१. ऋ० १।१६४।१२

२. आत्मा वै संवत्सरस्य विषुवानङ्गानि मासौ यत्र वा आत्मा तदङ्गानि यत्राङ्गानि तदात्मा। न वा आत्माऽङ्गान्यतिरिच्येते नोऽङ्गान्यात्मानमतिरिच्यन्त इत्येवमु हैव तदपरेषां स्विदितमह्नां परेषामित्यपरेषां चैव परेषां चेति ब्रूयात्स वा एष संवत्सरः।
—गोपथ० १।४।१९

स्वीकार की है[१]। ऐसी दशा में कौन कह सकता है कि खगोलिक भूगोल का सूक्ष्म ज्ञान उन्होंने आविष्कृत नहीं किया था। इसी प्रकार पृथिवी का आकर्षण भी उन्होंने ज्ञात कर लिया था। भास्कराचार्य स्पष्ट शब्दों में कहते हैं कि कोई भी भारी पदार्थ ऊपर की ओर फेंकने से वह नीचे गिर जाता है, इससे सिद्ध है कि पृथिवी में आकर्षण है[२]। लोग इस आकर्षण के आविष्कार का श्रेय न्यूटन को देते हैं, परन्तु न्यूटन से सैकड़ों वर्ष पूर्व यह ज्ञान यहाँ उत्पन्न हो चुका था। इसी प्रकार ग्रहों के आकर्षण की जो दूसरी बात समुद्र में ज्वारभाटे की है वह भी आर्यों को ज्ञात थी। विष्णुपुराण में लिखा है कि यथार्थ में ज्वारभाटे से समुद्र का जल कम और अधिक नहीं हो जाता, प्रत्युत अग्नि पर थाली में जल रखने से जिस प्रकार वह उमड़ पड़ता है, उसी प्रकार चन्द्रमा के आकषर्ण से ज्वारभाटा होता है[३]। ज्योतिष का सूक्ष्म गणित बीजगणित के बिना सरलता से नहीं हो सकता, अतः आर्यों ने याज्ञिक ज्योतिष के लिए उसका भी आविष्कार किया था। मोनियर विलियम लिखते हैं कि बीजगणित और रेखागणित का आविष्कार तथा ज्योतिष् के साथ उनका उपयोग सबसे प्रथम हिन्दुओं के द्वारा ही हुआ है[४]।

यज्ञों में प्रयुक्त होनेवाले ज्योतिष्ज्ञान के कारण ऋषियों को सूक्ष्म और सूक्ष्मतर ज्ञान प्राप्त हुआ था। यज्ञों में जिस प्रकार पदार्थों के गुण और समय के प्रभाव के ज्ञान की आवश्यकता होती थी उसी प्रकार यज्ञ के लिए दशा और देश के ज्ञान की भी आवश्यकता होती थी, अतः हम चाहते हैं यहाँ थोड़ा-सा भौगोलिक ज्ञान के विषय में भी लिख दें, जिससे ज्ञात हो जाए कि यज्ञप्रकरण में उसका क्या उपयोग है।

यज्ञों में भौगोलिक ज्ञान

देश और काल का जोड़ा है। कालज्ञान के साथ यदि देश का ज्ञान न हो तो पदार्थों का उपयोग ठीक-ठीक नहीं हो सकता, इसलिए यज्ञ के प्रकरण में देश का ज्ञान भी परमावश्यक है। मनुस्मृति में लिखा है कि—

कृष्णसारस्तु चरति मृगो यत्र स्वभावतः। स ज्ञेयो यज्ञियो देशो म्लेच्छदेशस्त्वतः परः॥

—मनु० २। २३

अर्थात् जहाँ काले मृग स्वभाव से विचरते हों, वही यज्ञ करने योग्य भूमि है, शेष म्लेच्छदेश हैं। इस श्लोक में यज्ञदेश स्थिर करने के लिए दो बातें बताई गई हैं—

१. जहाँ कृष्णमृग स्वभाव से चरते-फिरते हों, अर्थात् जहाँ उनकी जीविका के लिए यथेष्ट

---

१. स वा एष न कदाचनास्तमोति नोदेति... ... ...अथ यदेनं प्रातरुदेतीति मन्यन्ते रात्रिरेव तदन्तमित्वा अथात्मानं विपर्यस्यतेऽहरेवावस्तात् कुरुते रात्रिं परस्तात्। स वा एष न कदाचन निम्रोचति न ह वै कदाचन निम्रोचति।

—ऐतरे० ३। १४। ६

The Aitareya Brahmana explains that the sun neither sets nor rises, that when the Earth, owing to the rotation on its axis is lighted up, it is called, and so on.

—*Hang's Aitereya Brahnana,* Vol. 11, p. 243.

२. आकृष्टशक्तिश्च महीतया यत् स्वस्थं गुरुः स्वाभिमुखं स्वशक्तया।
आकृष्यते तत् पततीवि भाति समे समन्तात् क्व पतत्वियं खे॥ —गोलाध्याय [२। ६]

३. स्थालीस्थमग्निसंयोगादुद्रेकिसलिले यथा। तथेन्दुवृद्धौ सलिलमम्बोधौ मुनिसत्तम॥

—विष्णुपुराण [२। ४। ८९]

४. To the Hindus is due the invention of Algebra and Geometry and their application to Astronomy.

—*Indian Wisdom,* p. 185.

चरभूमि हो—जंगल हों और

२. जहाँ म्लेच्छ, अर्थात् दस्यु न हों।

ज्ञात हुआ कि यज्ञ वहाँ हो सकते हैं जहाँ चरभूमि हो—जंगल हो—और जहाँ म्लेच्छ न हों—अनार्य न हों—शत्रु न हों। जंगलों में यज्ञोपयोगी ओषधियाँ और काष्ठ आदि मिलते हैं। यज्ञों में पुष्कल घृत की आवश्यकता होती है, वह पशुओं से प्राप्त होता है और पशु बिना गोचरभूमियों के रह नहीं सकते। व्रज, अर्व, गान्धार आदि देश गाय, घोड़े और बकरी आदि गोचर चारागाह होने से ही प्रसिद्ध हैं, इसलिए जंगली भूमि होना सबसे पहली शर्त है, क्योंकि चरभूमि, अर्थात् जंगलों के बिना यज्ञ नहीं हो सकते। ये याज्ञिक जंगल पर्वतों से घिरे हुए होने चाहिएँ। वेद में लिखा है कि **'गिरयस्ते पर्वता हिमवन्तोऽरण्यं पृथिवि स्योनमस्तु'**[1], अर्थात् हिमाच्छादित बड़े-बड़े गिरि और छोटे-छोटे पर्वत तथा अरण्ययुक्त पृथिवी कल्याणकारी हो। इन पहाड़युक्त जंगलों में ही यज्ञ करने से वास्तविक लाभ होता है, क्योंकि यज्ञों से उत्पन्न होनेवाले रोगनाशक बाष्प वायु में मिलकर वायु को तभी शुद्ध करते हैं जब पहाड़ों से घिरे रहें और कहीं दूसरे देश को न उड़ जाएँ। इसी प्रकार जल बरसानेवाले, यज्ञों के जल बनानेवाले हुत पदार्थ भी वायु में मिलकर तभी काम दे सकते हैं जब यज्ञदेश जंगलों और पहाड़ों से घिरा हो। हमें यह उपदेश देवयज्ञों से—प्राकृत यज्ञों से ग्रहण करना चाहिए। आकाशीय देवयज्ञ उन देशों में पानी नहीं बरसाते, जहाँ न तो जंगल हैं और न पहाड़, क्योंकि पहाड़ों और जंगलों में पानी बरसाने का भी गुण होता है। भारत में यदि हिमालय न होता तो बादलों को कौन रोककर पानी बरसाता? यहाँ के सब बादल ऊपर-ही-ऊपर उत्तर को चले जाते और दक्षिण का मानसून कुछ भी काम न करता। अरब, राजपूताना और कच्छ आदि में पानी न बरसने का कारण जंगलों और पहाड़ों का अभाव ही है। इसी प्रकार बिना पहाड़ों की दीवार के यज्ञों के गुणदायक तत्त्व भी उड़ जाते हैं, इसीलिए वेद में यज्ञोपयोगी देश का प्रथम लक्षण यही बतलाया गया कि वह जंगलयुक्त और पहाड़ी हो। वेदों में भूगोल के ज्ञान का वर्णन इसीलिए किया गया है और इसीलिए संसार के टापू, द्वीप और देशों का ज्ञान प्राप्त करना भी लिखा है। अथर्ववेद में कहा है कि—

नवभूमीः समुद्रा उच्छिष्टेऽधि। —अथर्व० ११।७।१४

मर्मृज्यन्ते द्वीपिनमप्स्वन्तः। —अथर्व० ४।८।७

यहाँ समुद्र से नई भूमि निकलने और समुद्रों के बीच में अन्य द्वीपनिवासियों का ज्ञान प्राप्त करने के लिए कहा गया है। यह ज्ञान गोमेधयज्ञ से सम्बन्ध रखता है, इसलिए इसका वर्णन आगे करेंगे। यहाँ तो यही दिखलाना अभीष्ट है कि यज्ञ के प्रकरण में भूगोल का ज्ञान, अर्थात् यज्ञोपयोगी देश के जानने की आवश्यकता पड़ती है। देशज्ञान से वायु के चलने और उसके अनुकूल-प्रतिकूल होने का भी सम्बन्ध है। किस देश में कब कौन-सी वायु चलेगी, बिना यह जाने पहाड़ों से भी काम नहीं चल सकता। यही अच्छे मुहूर्त का प्राथमिक बीज है। कहने का तात्पर्य इतना ही है कि यज्ञ के प्रकरण में भूगोलज्ञान बहुत ही आवश्यक है। जहाँ यज्ञमण्डप और यज्ञकुण्ड बनाया जाता है, वहाँ सबसे पहले भूमि का संशोधन किया जाता है। यज्ञविधियों में कहा गया है कि अमुक-अमुक कुण्डों के लिए इतने-इतने पुरुष[2] भूमि खोदनी चाहिए। भूमि में गड़े हुए मृतक शरीर निकालकर फेंक देने चाहिएँ। किसी धातु या पुराने नगर के भग्नावशेष वहाँ

---

१. अथर्व० १२।१।११

२. एक पुरुष=१२० अंगुल

नहीं होना चाहिएँ और न वहाँ किसी प्रकार की दुर्गन्धि या खारी जल के कुएँ होने चाहिएँ। इस प्रकार पृथिवी की ऊपरी सतह से लेकर पानी की तह तक भूमि के संशोधन का विधान है, इसलिए याज्ञिकों को जहाँ भूगोल का ज्ञान होना आवश्यक है वहाँ थोड़ा बहुत ज्ञान भूगर्भ का भी होना ही चाहिए।

अब रही दूसरी शर्त जिसमें कहा गया है कि वह देश म्लेच्छदेश न हो, अर्थात् जिसमें अनार्य न रहते हों। यज्ञ न करनेवाले अथवा यज्ञों में विघ्न करनेवालों को ही म्लेच्छ=अनार्य कहा गया है। यही आर्यों के शत्रु हैं। इन्हीं के निवारण के लिए अश्वमेधयज्ञ का विधान किया गया है, परन्तु यहाँ उसका वर्णन नहीं करेंगे। उसका वर्णन आगे किया जाएगा। यहाँ तो यज्ञदेश से सम्बन्ध रखनेवाले केवल भूगोल और भूगर्भज्ञान का ही वर्णन किया गया है। यज्ञों में जिस प्रकार भूगोल और भूगर्भज्ञान की आवश्यकता होती है उसी प्रकार भवन-निर्माण के ज्ञान की भी आवश्यकता होती है, इसलिए यहाँ थोड़ा-सा वास्तुशास्त्र का भी वर्णन करते हैं।

यज्ञों में वास्तुशास्त्र

आर्य लोगों के रहने के मकान तो बहुत ही सादे, मिट्टी और फूस के ही होते थे, परन्तु यज्ञमण्डप को वे बहुत दृढ़ और सुन्दर बनवाते थे। साधारण यज्ञशालाएँ तो फूस की ही होती थीं, परन्तु जहाँ हमेशा यज्ञ हुआ करते थे ऐसी यज्ञशालाएँ प्रत्येक ग्राम में ईंटों की पक्की बनती थीं। आजकल शिवालय को भी गाँववाले मण्डप ही कहते हैं। यह मण्डप वास्तव में यज्ञमण्डप ही है। इसमें आठ दरवाज़े अब तक होते हैं, परन्तु सात बन्द कर दिये जाते हैं और एक निकलने के लिए रक्खा जाता है। जहाँ शङ्कर की मूर्त्ति स्थापित होती है वही हवनकुण्ड का स्थान है। शिव की पूजा आरम्भ होने के समय से ही यज्ञकुण्ड के स्थान में शिवलिङ्ग की स्थापना हुई है। यह रिवाज मद्रास से ही आरम्भ हुआ होगा। चाहे जहाँ से आरम्भ हुआ हो, परन्तु शिवालय यज्ञमण्डप ही हैं, इसमें सन्देह करने की आवश्यकता नहीं है।

वैदिक काल के लोग ईंटें बनाना और उनको आग में पकाना जानते थे। इन ईंटों से कहीं कहीं राजमहल भी बनाये जाते थे, परन्तु सर्वसाधारण के मकान तो बहुत ही सादे होते थे, क्योंकि आर्यसभ्यता में ऐश्वर्ययुक्त महलों का समावेश नहीं है, परन्तु यज्ञमण्डपों के बनने का पता मिलता है, अतएव यज्ञप्रकरण में वास्तुशास्त्र के लिए पर्याप्त स्थान है। यह वास्तुशास्त्र गणितशास्त्र से सम्बन्ध रखता है, क्योंकि उसमें नापने की आवश्यकता होती है। जहाँ नापना है वहीं गणित है, अतएव यहाँ हम गणित का थोड़ा-सा वर्णन करके दिखलाना चाहते हैं कि यज्ञ के साथ अङ्क और रेखागणित का कैसा घनिष्ठ सम्बन्ध है।

यज्ञों में गणित

जिस सूक्ष्म ज्योतिश्शास्त्र का हम वर्णन कर चुके हैं वह बिना गणितज्ञान के पूर्ण नहीं हो सकता। उस गणित का वर्णन यज्ञ-प्रकरण में भी किया गया है, जिसका दिग्दर्शन हम यहाँ कराते हैं। यज्ञ में अङ्कगणित और रेखागणित दोनों का काम पड़ता है। यज्ञ में अङ्कगणित से सम्बन्ध रखनेवाला एक मन्त्र यह है—

इमा मे अग्न इष्टका धेनवः सन्त्वेका च दश च दश च शतं च शतं च सहस्रं च सहस्रं चायुतं चायुतं च नियुतं च नियुतं च प्रयुतं चार्बुदं न्यर्बुदं च समुद्रश्च मध्यं चान्तश्च परार्द्धश्चैता मे अग्न इष्टका धेनवः सन्त्वमुत्रामुष्मिँल्लोके। —यजुर्वेद १७।२

इसमें इकाई से लेकर परार्द्ध तक की संख्या बताई गई है। इस मन्त्र में लम्बी संख्या का

वर्णन तो है ही, परन्तु इसमें एक बात यह भी कही गई है कि '**इमा मे अग्न इष्टका धेनवः सन्तु**' अर्थात् ये मेरी ईंटें यज्ञ में गौ के तुल्य लाभदायक हों। यहाँ यह संख्या ईंटों की गिन्ती के लिए है। ईंटें हवनकुण्ड के लिए बनाई जाती थीं, इसलिए उनको धेनुरूप होकर फल देनेवाली कहा गया है। ये ईंटें नपी-तुली होती थीं, इसलिए गणित के द्वारा यह सूचित करा दिया जाता था कि अमुक प्रकार के इतने बड़े कुण्ड के लिए ये इतनी ईंटें लगेंगी। ये 'अग्न इष्टका' कही गई हैं, जिसका तात्पर्य यज्ञ की ईंटें है। यज्ञ में ईंटें पक्की लगाई जाती हैं, इसलिए भी उन्हें '**अग्न इष्टका**' अर्थात् पकी हुई ईंटें कहा गया है। कुण्ड की ईंटों के लिए एक लम्बा गणित बतलाकर दर्शा दिया गया है कि यज्ञ में लम्बे अङ्कोंवाले गणित की आवश्यकता होती है। आहुतियों की इयत्ता निर्धारित करने में भी गणित करने का काम पड़ता है और ओषधियों के ख़रीदने, अर्थात् 'सोमक्रय' करने में भी गणित काम आता है। इस वर्णन से ज्ञात होता है कि अङ्कगणित यज्ञ में अपना विशेष स्थान रखता है। अङ्कगणित ही नहीं, किन्तु रेखागणित भी काम आता है। ज्योतिष् का वर्णन करते हुए हमने ग्रहणों के प्रकरण में ऋग्वेद का एक मन्त्र दिया है, उसमें लिखा है कि '**अक्षेत्रविद्यथा मुग्धः**'[1] अर्थात् ग्रहण को देखकर रेखागणित के ज्ञान से शून्य पुरुष मुग्ध हो जाता है। ज्योतिष् में रेखागणित का काम पड़ता है। जितने ग्रह-उपग्रह हैं उनकी परिधि, व्यास, नति, कोण, लम्ब आदि से ही दूरी और मिलाप आदि बताया जाता है। रेखागणित के बिना ज्योतिष् बन ही नहीं सकता, इसलिए 'अक्षेत्रवित्' शब्द बतला रहा है कि वैदिक आर्य रेखागणित जानते थे। ज्योतिष् के अतिरिक्त यज्ञप्रकरण में तो बिना रेखागणित के काम ही नहीं चल सकता। यजुर्वेद में लिखा है—

को अस्य वेद भुवनस्य नाभिम्। —[यजुः० २३।५९]
पृच्छामि त्वा परमन्तं पृथिव्याः पृच्छामि यत्र भुवनस्य नाभिः। —[यजुः० २३।६१]
इयं वेदिः परो अन्तः पृथिव्या अयं यज्ञो भुवनस्य नाभिः॥ —[यजुः० २३।६२]

अर्थात् भुवन का मध्य कौन जानता है?

मैं पृथिवी का अन्त और भुवन का मध्य पूछता हूँ। इस प्रश्न का उत्तर देते हुए कहा गया है कि यह यज्ञ ही भुवन का बीच है और यह यज्ञवेदी ही पृथिवी का अन्त है।

इन प्रश्नोत्तरों में संसार की गोलाई और पृथिवी की गोलाई का वर्णन कर दिया गया है और बतला दिया गया है कि गोल वस्तु का मध्य उसके प्रत्येक स्थान में है। भुवन गोल है, इसलिए जहाँ पर यह यज्ञ हो रहा है, वही स्थान उसका मध्य है। इसी प्रकार पृथिवी गोल है, इसलिए यज्ञवेदी ही उसका अन्त है, क्योंकि गोल वस्तु का अन्त भी उसके प्रत्येक स्थान में होता है। वेद में गोल क्षेत्र का यह सिद्धान्त कहकर नापने के साधनों को भी बताया गया है कि '**मा असि, प्रमा असि, प्रतिमा असि**'[2] अर्थात् तू मा=माप (लट्ठा) है, पैमाना है और मानचित्र है। यहाँ *'प्रमा' शब्द 'पैमानों' का आदिम रूप है। अपभ्रंश के कारण ही रकार का लोप हो गया है और* प्रतिमा तो नक़शा=मानचित्र है ही। इस प्रकार से नाप, पैमाना और नक़शे के वर्णन से पता लगता है कि याज्ञिकों के पास रेखागणित के साधन थे। इस विषय पर विनयकुमार सरकार कहते हैं कि वैदिक काल में, हिन्दुओं ने π (पाई) को खोज लिया था और उसका मूल्य ३.००४४ निकाला था। अब वही ३.१४१६ के बराबर निकाला गया है। अतुल्य लम्बक (Trampizium) के

---

१. ऋ० ५.४०.५
२. ये वाक्य किसी भी वेद में नहीं हैं। —जगदीश्वरानन्द

इसलिए ज्योतिष् के द्वारा ग्रहों की चालों से ऋतुओं को स्थिर करके यज्ञ किये जाते हैं, परन्तु जंगलों में बाहर की हवा का प्रवेश नहीं होता, इसलिए वहाँ आँधी नहीं चलती। वहाँ बहुत ही धीमी हवा चलती है। विशेषकर वे जंगल जो पहाड़ों से घिरे हैं, उनमें तो वायु का वेग बहुत ही कम रहता है, इसलिए पर्वतों से घिरी हुई जंगली भूमि यज्ञों के लिए अधिक उपयोगी बतलाई गई है। इन सब बातों से पता लगता है कि वैदिककाल में वायु का ज्ञान बहुत ही ऊँचे दर्जे का था। **'वायोर्यजुर्वेदः'** के अनुसार वायुज्ञान से सम्बन्ध रखनेवाला एक यजुर्वेद ही अलग कर दिया गया था। इसका कारण यही है कि अन्तरिक्षलोक का देवता वायु ही है। अथर्ववेद ५।२४।८ में लिखा है कि **'वायुरन्तरिक्षस्याधिपतिः'**, अर्थात् वायु अन्तरिक्ष का राजा है।

वैदिकों को वायु की दो प्रकार की सूक्ष्मताएँ ज्ञात थीं, एक पिण्ड की और दूसरी ब्रह्माण्ड की। प्राण, अपान, व्यान, उदान, समान, नाग, कूर्म, कृकल, देवदत्त और धनञ्जय नामी वायु के सूक्ष्म भेद पिण्ड से सम्बन्ध रखते हैं और उनञ्चास प्रकार के सूक्ष्म भेद ब्रह्माण्ड से सम्बन्ध रखते हैं। इन उनञ्चास प्रकार के भेदों का वर्णन यजुर्वेद (अध्याय १७ के मन्त्र ८० से ८५ और अध्याय ३९ के मन्त्र ७) में विस्तारपूर्वक किया गया है। शतपथब्राह्मण ९।११।१।२६ में लिखा है कि ये उनञ्चासों नाम मरुतों के हैं। लंका जलते समय तुलसीदास ने इन्हीं उनञ्चास पवनों के लिए लिखा है कि **'पवन चले उनञ्चास'**। इन उनञ्चास पवनों के भेद जानकर उनके अनुसार यज्ञ करने से ही सफलता होती है। पानी बरसानेवाले यज्ञों में इनका अधिक विचार किया जाता है। इस विचारविधि का वर्णन ऋग्वेद मण्डल १० के **शान्तनुसूक्त** में बहुत ही विशद रूप से किया गया है।

यज्ञों में जिस प्रकार वायु के सूक्ष्म ज्ञान की आवश्यकता होती है उसी प्रकार पानी के सूक्ष्म ज्ञान की भी आवश्यकता होती है। वेदों में इन्द्र और वृत्र के अलंकारों से पानी से सम्बन्ध रखनेवाली अनेक सूक्ष्म बातें बतलाई गई हैं। वही बातें वैशेषिक दर्शन में दोहराई गई हैं। कणादमुनि कहते हैं कि **'द्रवत्वात् स्यन्दनम्'**[1], अर्थात् तरल होने से पानी बहता है। बहने का कारण नीची भूमि है। जहाँ नीची भूमि होगी वहीं पानी जाएगा और जहाँ नीची भूमि न होगी वहाँ नहीं जाएगा। यदि किसी ओर भी नीची न होगी तो कहीं नहीं जाएगा। आकाश की ओर निचाई-ऊँचाई नहीं है, इसलिए वहाँ पानी अपनी सतह (Level) को बराबर कर लेता है। इस समान सतह से पानी में हलचल उत्पन्न करने की पहली विधि यह है कि **'नाड्यो वायुसंयोगादारोहणम्'**[2], अर्थात् नली से वायु के निकाल लेने पर पानी ऊपर चढ़ता है। वायु निकालते जाइए पानी ऊपर चढ़ता जाएगा। आजकल के पानी के पम्प इसी सिद्धान्त पर काम करते हैं। पानी को ऊपर चढ़ाने की एक दूसरी विधि भी है। कणादमुनि कहते हैं कि **'नोदनापीडनात् संयुक्तसंयोगाच्च'**[3] अर्थात् ढकेलने और दबाने से भी वह ऊपर चढ़ता है। पिचकारी में पानी भरकर जब डण्डी से दबाते हैं तब ऊपर जाता है और कोई चीज़ छानते समय जब हाथ से निचोड़ते हैं तब भी वह बाहर निकल पड़ता है। अथवा दोनों प्रयोगों से उसमें गति होती है। इन तीनों सूत्रों में पानी का लेवल और उसमें गति पैदा करने की विधि बतलाई गई है। साथ ही यह भी बतलाया गया है कि यह सारी क्रिया वायु के ही प्रयोग से हो सकती है। अन्त के सूत्र में कहा है कि **'वैदिकञ्च'**[4] अर्थात् वैदिकों—याज्ञिकों का यही मत है। ज्ञात हुआ कि वायु के सूक्ष्म ज्ञान के द्वारा याज्ञिक लोग पानी में क्रिया उत्पन्न करने का ज्ञान रखते थे। जिस सिद्धान्त से वे लोक के

---

१. वै० द० ५।२।४
२. वै० द० ५।२।५
३. वै० द० ५।२।६
४. वै० द० ५।२।१०

पानी को वायु की सहायता से अनायास ही ऊपर चढ़ा देते थे, उसी सिद्धान्त से वे जब चाहते थे तब वायुविद्या से पानी को नीचे भी उतार लेते थे—बरसा भी लेते थे। वेद में लिखा है कि **'निकामेनिकामे नः पर्जन्यो वर्षतु'**[१] अर्थात् इच्छानुसार पानी बरसे। इच्छानुसार पानी बरसने का यही कारण है कि वैदिक आर्य वायुविद्या के द्वारा मनचाहे समय पर पानी बरसा लेते थे।

यज्ञों के द्वारा वायुचक्र में गति उत्पन्न करके पानी बरसाना तब तक नहीं हो सकता जब तक अग्निविद्या का ज्ञान न हो। याज्ञिकों को अग्निविद्या का ज्ञान बहुत ऊँचे दर्जे का था। अग्नि के द्वारा सूर्यताप उत्पन्न करके वायुचक्र में अनुकूल गति उत्पन्न कर देना ही अग्निविद्या का सबसे बड़ा चमत्कार है। यज्ञकर्त्ताओं को ज्ञात था कि अग्नि सर्वत्र है। उन्होंने ज्ञात कर लिया था कि जो अग्नि लकड़ियों को जला देता है वह इन लकड़ियों में भी भरा हुआ है। यही कारण है कि वे दो लकड़ियों को मथकर यज्ञ के लिए अग्नि निकालते थे। वेद में कहा गया है कि **'अग्निदूतं वृणीमहे'**[२], अर्थात् हम अग्नि को दूत नियत करते हैं। दूसरी जगह कहा गया है कि **'अग्निमीळे पुरोहितम्'**[३], अर्थात् अग्नि पुरोहित है। दोनों का तात्पर्य है कि हम पुरोहित अग्नि को दूत निश्चित करते हैं। इसका तात्पर्य यह है कि राजदूत=पुरोहित—ब्राह्मण ही होता है, अतः पुरोहितरूपी अग्निदूत वायु आदि देवताओं के पास भेजा जाए, किन्तु इस सूक्ष्म विज्ञान को न समझकर सेमिटिक धर्मप्रचारकों ने बड़ा ही अनर्थ कर डाला है। उन्होंने इस पुरोहित शब्द को 'फ़रिश्ता' बना डाला है। जिस प्रकार 'प' का 'फ़' करके कौपीन का कफ़न बनाया गया है और 'ह' का 'ज़' करके बाहु का बाज़ु किया गया है उसी प्रकार पुरोहित का पहले 'पुरिज़्ता' किया गया है और फिर 'ज़' का 'श' करके फ़रिश्ता कर दिया गया है।

वेद में कहा गया है कि अग्निरूपी पुरोहित ही दूत है। उसी को सेमिटिक कहते हैं कि फ़रिश्ता आतशी, अर्थात् आग्नेय होते हैं। वेद में अग्नि और सूर्य की किरणों का नाम 'सुपर्ण' भी है और सुपर्ण पक्षी को भी कहते हैं। उसी को सेमिटिक कहते हैं कि फ़रिश्तों के पर होते हैं। पारसियों के मन्दिरों में सूर्य का चित्र पक्षी की शकल का ही बनाया गया है। हमारे यहाँ भी विष्णु (सूर्य) का वाहन गुरुड़ पक्षी ही है। कहने का भाव यह कि याज्ञिकों ने जो अग्नि को दूत बनाकर और अन्तरिक्ष के राजा वायु के पास भेजकर पानी बरसाने का सूक्ष्म विज्ञान निकाला था, उसका ऐतिहासिक प्रमाण भी मिलता है।

वेदों में आकाश की सबसे बड़ी शक्ति को इन्द्र कहा गया है। उसी के अधीन वर्षा है। उस इन्द्र को मरुत्सखा कहा गया है। अग्निदूत जब मरुत में प्रेरणा करता है तब वह इन्द्र के द्वारा वृष्टि करता है। इस प्रकार की सूक्ष्म साइंस जो वायु, जल और अग्नि से सम्बन्ध रखती है, वेदों में विस्तार से वर्णित है, इसलिए यह नहीं कहा जा सकता कि याज्ञिक लोग पदार्थविद्या नहीं जानते थे अथवा यज्ञों में पदार्थविज्ञान की आवश्यकता नहीं होती थी। यहाँ इस विषय का इतना ही दिग्दर्शन कराकर अब हम उन यन्त्रों का भी वर्णन कर देना चाहते हैं जो उन्होंने ग्रहों के वेध और वायुचक्र की गति जानने के लिए तैयार किये थे।

हम पहले ही वेद के प्रमाण से लिख चुके हैं कि ग्रहों की चाल जानने के लिए याज्ञिकों के पास वेधचक्र और तुरीययन्त्र (दूरबीन) था। इसी प्रकार उनके पास कम्पास भी था। कम्पास का सिद्धान्त चुम्बक की सुई पर अवलम्बित है। हम देखते हैं कि वैशेषिक ५।१।१५ में कणाद

१. यजुः० २२।२२ २. साम० २
३. ऋ० १।१।१

मुनि लिखते हैं कि '**मणिगमनं सूच्याभिसर्पणमित्यदृष्टकारणम्**', अर्थात् लोहे के चुम्बक की सुई की ओर दौड़ने का कारण अदृष्ट है। यह लोहचुम्बक सुई के अस्तित्व का प्राचीनतम प्रमाण है। इसी प्रकार हस्तलिखित शिल्पसंहिता जो गुजरात अणहिलपुर के जैनपुस्तकालय में है, उसमें ध्रुवमत्स्य यन्त्र बनाने की विधि स्पष्ट रूप से लिखी मिलती है। इसके साथ ही उसी शिल्पसंहिता में थर्मामीटर और बारोमीटर बनाने की भी विधि लिखी हुई है। वहाँ लिखा है कि '**पारदाम्बुज-सूत्राणि शुक्लतैलजलानि च बीजानि पांसवस्तेषु०**' अर्थात् पारा, सूत, तेल और जल के योग से यह यन्त्र बनता है। शिल्पसंहिताकार कहते हैं कि इस यन्त्र से ग्रीष्म आदि ऋतुओं का निर्णय होता है और जाना जाता है कि कितनी सर्दी और गर्मी है। इसका वर्णन सिद्धान्तशिरोमणि में भी है। इसके अतिरिक्त याज्ञिकों ने वैदिक काल में समय जानने के लिए धूपघड़ी, जलघड़ी और बालुकाघड़ी का भी निर्माण कर लिया था। ज्योतिषग्रन्थों में लिखा है कि—

तोययन्त्रकपालाद्यैर्मयूरनरवानरैः। ससूत्ररेणुगर्भैश्च सम्यक्कालं प्रसाधयेत्॥

अर्थात् जलयन्त्र से समय जाना जाता है अथवा मयूर, नर और वानर आकृति के यन्त्र बनाकर उनमें बालू भरने और एक ओर का रेणुसूत्र दूसरे में गिरने से भी समय जानने का यन्त्र बन जाता है। इस प्रकार के दूरबीन, कम्पास, बारोमीटर और घड़ी आदि यन्त्रों के बन जाने से आदिम याज्ञिकों को ग्रहों की चाल, उनसे उत्पन्न हुए वायुवेग की दिशा, गर्मी का पारा और समय आदि का ज्ञान सम्पादन करने में सुविधा होती थी। इतना ही नहीं, किन्तु उन्होंने एक 'स्वयंवह' नामी यन्त्र भी बना लिया था जो गर्मी या सर्दी पाकर अमुक वेग से आप-ही-आप चलने लगता था। इसका वर्णन सिद्धान्तशिरोमणि में इस प्रकार आया है—

तुंगबीजसमायुक्तं गोलयन्त्रं प्रसाधयेत्। गोप्यमेतत् प्रकाशोक्तं सर्वगम्यं भवेदिह।

अर्थात् पारा भरकर इस गोलयन्त्र को बनावे। यह यन्त्र थोड़ी-सी भी हवा चलने से, गर्मी पाकर आप-ही-आप चल पड़ता था।

तूफ़ान जानने या मोनसून जानने के लिए आज तक जितने यन्त्र बनें हैं, इसकी विशेषता को एक भी नहीं पहुँचा। इन सब यन्त्रों का आविष्कार केवल पानी बरसानेवाले यज्ञों के लिए ही नहीं हुआ था, प्रत्युत भैषज्ययज्ञ में भी इनका प्रयोग होता था। इस वर्णन से यहाँ इतना ही दिखलाने का प्रयोजन है कि यज्ञों में वैज्ञानिक सूक्ष्म ज्ञान की आवश्यकता थी, जिसकी पूर्ति वैदिक याज्ञिकों ने कर ली थी। अब आगे हम देखना चाहते हैं कि यज्ञों में कला-कौशल की भी आवश्यकता है या नहीं।

यज्ञों में कला-कौशल, कृषि और पाकशास्त्र

आजकल जिसको 'इण्डस्ट्री' कहते हैं, वैदिक काल में उसी को शिल्पशास्त्र अथवा कलाज्ञान कहते थे। इसके जाननेवाले विश्वकर्मा या शिल्पी कहलाते थे। यज्ञमण्डप, कुण्ड, यज्ञपात्र, शस्त्रास्त्र, शकट और रथ आदि जितने कारीगरी से सम्बन्ध रखनेवाले याज्ञिक पदार्थ हैं सबका समावेश उक्त शास्त्र में किया जा सकता है। यज्ञपात्र मिट्टी, काष्ठ, पत्थर, कांस्य, लकड़ी, तांबा, पीतल, सोने और चाँदी आदि के होते थे। यज्ञों में अनेक प्रकार के अन्नों और ओषधियों की भी आवश्यकता होती थी, इसलिए उनके उत्पन्न करने में जिन औज़ारों की आवश्यकता होती थी वे भी बनाये जाते थे। हल, फाल आदि जोतने के, चक्र आदि पानी निकालने के और

भूमि खोदने, काटने, पीटने, पीसने, कूटने आदि के सभी यन्त्र बनाये जाते थे। इसी प्रकार यज्ञरक्षा के लिए बाणों से लदी हुई गाड़ियाँ और रथ भी होते थे। उनके बनाने के भी सब साधन थे। पञ्चमहायज्ञों के स्रुवा, प्रणीता से लेकर अश्वमेध यज्ञ के युद्ध उपकरणों तक सभी कारीगरी के पदार्थ बनाये जाते थे। वीणा, मृदङ्ग आदि संगीत के, शङ्ख-घण्टा आदि उत्सव के और रणभेरी आदि युद्धों के वाद्य भी बनाये जाते थे। कहने का तात्पर्य यह कि वैदिक काल के याज्ञिक पदार्थ संख्या में बहुत थे। एक चक्रवर्ती राजा से लेकर एक साधारण किसान तक के आवश्यक यन्त्र और शास्त्रास्त्र तैयार होते थे। कपास और ऊर्ण-वस्त्रों की भी यज्ञों में आवश्यकता होती थी, क्योंकि पुरुषों और स्त्रियों को अधो और उत्तरीय वस्त्र पहनकर यज्ञ में आना पड़ता था। इसी प्रकार सत्तू छानने के लिए ऊर्णसूत्र से मढ़ी हुई तितउ (छाननी) और शूर्प की भी आवश्यकता होती थी। वस्त्रों के बुनने और सूत कातने के औज़ार भी बनाये जाते थे। कहाँ तक गिनावें, सभ्यता से सम्बन्ध रखनेवाले सभी पदार्थ उपस्थित थे और सब यज्ञों के लिए ही थे, शौक़ के लिए नहीं।

उन दिनों में कारीगरी का मान भी बहुत था। यजुर्वेद में '**कुलालेभ्यः कर्मारेभ्यश्च वो नमः**'* के अनुसार कुम्हार और बढ़इयों से लेकर जितने कारीगर हैं सबके लिए आदर और अन्न की व्यवस्था बतलाई गई है। शिल्पियों और रथकारों को यज्ञ में सम्मिलित होने का भी आदेश है और इनका दर्जा ब्राह्मणों के बराबर दिया गया है, इसीलिए उस समय के आर्य कला-कौशल के द्वारा विश्वविजयी होकर 'अश्वमेध' कर सकते थे, क्योंकि कला-कौशल की महिमा महान् है। इस कला-कौशल में यज्ञों के पात्रों की बड़ी महिमा है। उनके बनाने में बड़ी कारीगरी है। वे पदार्थों के रखने और यज्ञ का काम चलाने के लिए बनाये जाते थे, इसलिए इस बात का पूर्ण ध्यान रक्खा जाता था कि उनका अच्छी प्रकार उपयोग हो सके। इन पात्रों में बहुत-से खाद्य द्रव्य भी रक्खे जाते थे, क्योंकि यज्ञों में पाकशास्त्र का भी विशेष स्थान है। पाक का सम्बन्ध कृषि से है, इसलिए यहाँ कृषि और पाक का वर्णन भी होना आवश्यक है।

यज्ञों में ओषधियों के अतिरिक्त जौ, चावल, तिल, सत्तू, हवि, करम्भ, मालपुवा और भात आदि का भी हवन होता है। बग़ीचों के अनेक मेवों और जंगलों की अनेक जड़ी-बूटियों का भी हवन होता है। दोनों का कृषि से सम्बन्ध है, इसलिए यज्ञों के प्रकरण में कृषि का स्थान बहुत विशेष है। वेदों में खेती का वर्णन विस्तार से आया है तथा अनेक प्रकार के अन्नों के नाम भी आते हैं। वहाँ लिखा है कि '**सीरा युञ्जन्ति कवयः,**[१] **सीते......अर्वाची सुभगे भव,**[२] **युनक्त सीरा,**[३] **शुनं वाहाः,**[४] **शुनं सुफालाः**'[५], अर्थात् बड़े-बड़े विद्वान् हलों को जोड़ते हैं। हे हल की फाल! हमारे लिए कल्याणदायक हो। हल को चलाओ। बैलों और हल की फाल को चलाओ। इसी प्रकार शतपथब्राह्मण में कहा है कि '**यत्र वा अस्यै बहुलतया ओषधयस्तदास्या उपजीवनी-यतमम्**',[६] अर्थात् जहाँ ओषधियों की बहुलता होती है, वहीं जीवन का साधन—अन्न उत्पन्न होता है। कृषि के अतिरिक्त बाग़-बग़ीचे लगाना भी एक प्रकार का यज्ञ ही कहा गया है। इस यज्ञ का नाम 'इष्टापूर्त' है। इष्टापूर्त में कुवाँ और तालाब बनवाना तथा बाग़-बग़ीचे लगाना सम्मिलित है। बाग़ों से ही काष्ठ और यज्ञोपयोगी फल मिलते हैं। रहे जंगल, वे तो यज्ञों की जान ही हैं।

---

१. अथर्व० ३।१७।१ — २. अथर्व० ३।१७।८
३. अथर्व० ३।१७।२ — ४. अथर्व० ३।१७।६
५. अथर्व० ३।१७।५ — ६. शत० १।३।३।१०
* यजुः० १६।२७

वेदों में जंगलों का विस्तृत वर्णन है। ऋग्वेद में अरण्यानी सूक्त[1] बड़े महत्त्व का है। आर्यों का एक आश्रम ही जिसका नाम वानप्रस्थ आश्रम है, जंगलों के आधार पर ही स्थित है। वनस्थों के लिए नित्य फल-मूल से यज्ञ करने का विधान किया गया है। अरण्यानी सूक्त में लिखा है कि—**स्वादोः फलस्य जग्ध्वाय,[2] बह्वन्नामकृषीवलाम्[3]**, अर्थात् जंगलों से सुस्वादु फलों की और बिना खेती के ही बहुत-से अन्नों की प्राप्ति होती है। इसलिए यज्ञ के साधनों में खेती, जहाँ से हवनीय अन्न मिलते हैं, बग़ीचे जहाँ से समिधा मिलती हैं और अरण्य जहाँ से ओषधियाँ और नाना प्रकार की मेवा प्राप्त होती हैं, बहुत आवश्यक हैं। अन्न, समिधा और मेवों से ही पाक बनते हैं, अतः यज्ञों में पाकशास्त्र का भी महत्त्व कम नहीं है।

यज्ञों के लिए वेदों में हवि, करम्भ, सत्तू और मालपुए तथा ओदन बनाने का वर्णन आता है। यजुर्वेद २०। २९ में '**धानावन्तं करम्भिणम्**' मन्त्र आया है, जिसका अर्थ यह है कि हे इन्द्र! प्रातःकाल हमारे धानवाले पदार्थ, दहीमिश्रित सत्तूवाले करम्भ और मालपुएवाले उक्थ के पुरोडाश का सेवन कीजिए। अथर्ववेद में ओदन तथा यजुर्वेद में हवियों का वर्णन भी आता है, इसलिए वैदिक याज्ञिक पाकशास्त्र में बहुत ही कुशल प्रतीत होते हैं। इसका कारण यही है कि आर्यों के धर्मानुसार और उनकी प्रवृत्ति के अनुसार तो जो कुछ पकाया जाए वह यज्ञ के ही लिए पकाया जाए, अपने लिए नहीं, क्योंकि लिखा है कि जो केवल अपने लिए पकाता है वह निरा पाप खाता है*, अतः यज्ञशिष्ट ही खाना चाहिए। यज्ञ का प्रसाद ही अपना भोजन है। यह भी इसलिए कि यदि इसमें इतना भी मनुष्य का स्वार्थ न होगा तो वह हवनीय पदार्थों को उत्तमत्ता के साथ न पकाएगा, अर्थात् जैसे-तैसे बना डालेगा, परन्तु पुरोडाश—प्रसाद पाने के लोभ से उत्तम बनाएगा। पाक की उत्तमता खाने से ही ज्ञात होगी और यदि त्रुटि होगी तो वह दूसरे दिन दूर की जा सकेगी, इसलिए प्रसाद के तौर पर यज्ञान्न खाया जाता है, अन्यथा वैदिकों का वास्तविक भोजन तो फल और दूध ही है। दूध के बिना घृत और दधि प्राप्त नहीं हो सकता, और बिना दूध-घृत के हवि, अपूप, करम्भ आदि नहीं बन सकते। दूध-घृत आदि पशुओं से प्राप्त होते हैं, अतः यज्ञ में पशुपालन भी एक प्रधान कार्य है, अतएव पाकशास्त्र के साथ ही पशुपालन पर भी प्रकाश डालना प्रकरणान्तर न होगा।

यज्ञों में पशुपालन और चरभूमि

यज्ञों में अनेक प्रकार के पशुओं की आवश्यकता होती है। इन पशुओं का नाम वेद में ग्राम्यपशु है। इन ग्राम्यपशुओं में गाय, भैंस, बकरी, भेड़ी, घोड़ा, कुत्ता और सुवर यज्ञपशु हैं। यज्ञ में इन पशुओं का उपयोग होता है। शतपथब्राह्मण में लिखा है कि '**कतमः प्रजापतिरिति, यज्ञः प्रजापतिरिति, कतमो यज्ञ इति पशव्र इति**'[4], अर्थात् प्रजापति क्या है? प्रजापति यज्ञ है। यज्ञ क्या है? पशु ही यज्ञ है। यहाँ पशु को यज्ञ और प्रजापति कहा गया है। मनुष्य उन्हीं से पालित होते हैं और यज्ञ भी उन्हीं से सम्पन्न होते हैं, इसलिए वही प्रजापति और यज्ञ हैं। इन यज्ञीय पशुओं में गाय का स्थान सर्वश्रेष्ठ है, क्योंकि यज्ञ की प्रधान वस्तु घी और अन्न गाय और बैलों से ही प्राप्त होता है। भैंस और बकरी भी दूध-घृत से सहायता पहुँचाती हैं। भेड़ी दूध और रोम से यज्ञ को लाभ पहुँचाती है। बैल हल में तथा बाणों से लदे हुए छकड़ों में काम आते हैं। घोड़ा

---

१. ऋ० १०। १४६
२. ऋ० १०। १४६। ५
३. ऋ० १०। १६४। ६
४. शत० ११। ६। ३। ९
* केवलाघो भवति केवलादी। —ऋ० १०। ११७। ६

अश्वमेध में काम आता है और घुड़सवार सेना में भी काम आता है तथा रथों को भी खींचता है। कुत्ता रखवाली करता है और सुवर सफ़ाई करता है। सफ़ाई के प्रकरण में सुवर का बहुत बड़ा माहात्म्य है। जितने यज्ञीय पशु हैं उनमें सुवर की भी गिनती है। भागवत में इसे स्पष्ट ही 'यज्ञ' कहा गया है। वहाँ लिखा है कि **'छान्दांसि यस्य त्वचि बर्हिरोमस्वाज्यं दृशि त्वंघ्रिषु चातुर्होत्रम्',**[१] अर्थात् शूकर यज्ञरूप है, गायत्र्यादि उसकी त्वचा हैं, रोम कुश हैं, दृष्टि घृत और चारों पैर यज्ञ के चारों ऋत्विज हैं। यही बात पद्मपुराण में इस प्रकार लिखी है कि **'अग्निजिह्वा दर्भलोमा ब्रह्मशीर्षो महातपः'**[२], अर्थात् उसकी जिह्वा अग्नि है[३], रोम कुश हैं और शिर ब्रह्म है। निस्सन्देह शूकर इतना ही उपकारी है। यह यज्ञरूप ही है। जो सार्वजनिक स्वास्थ्य की रक्षा करता हो वह यज्ञ ही है। शतपथ में लिखा है कि **'यज्ञो वै विष्णुः'**[४], अर्थात् यज्ञ ही विष्णु है। यहाँ शूकर यज्ञ कहा गया है, इसीलिए उसे विष्णु का अवतार कहते हैं। विष्णु का अर्थ पालनकर्त्ता है। निस्सन्देह मनुष्यों के पालन करने से शूकर विष्णु ही है, क्योंकि यज्ञ में सुवर के द्वारा सफ़ाई-सम्बन्धी जो लाभ होता है वह तो अत्यन्त ही उपयोगी है, परन्तु उसके सिवा उसके बालों का यज्ञ में 'दर्भकूर्च' भी बनाया जाता है। अभी आप पढ़ चुके हैं कि उसके रोम कुश हैं। यज्ञ में झाड़ने-माँजने के लिए इन्हीं बालों का कूर्च बनाया जाता है। कपड़ा बुननेवाले अब तक इसके बालों का कूर्च बनवाते हैं, जिसको वे कूँची कहते हैं। उसी के बालों से बनी हुई छोटी ब्रुश को सभी लोग कूँची कहते हैं। इस प्रकार यह सुवर यज्ञ में अपना विशेष स्थान रखता है, इसलिए वह यज्ञपशु है।

यज्ञ के समय दूध-दही देनेवाले और घोड़े आदि पशु वहाँ विद्यमान रहते हैं। उनके बड़े-बड़े झुण्ड लाकर यज्ञ के पास बाँध दिये जाते हैं। जहाँ बाँधे जाते हैं, वह स्तम्भ 'यूप' कहलाता है। इनके वहाँ बाँधने के दो प्रयोजन हैं। एक तो यह कि समय पर दूध की आवश्यकता पड़े तो तुरन्त ताज़ा दूध निकाल लिया जाए। दूसरा यह कि दान में देने के लिए शीघ्र ही गाय-घोड़े मिल जाएँ। उस समय लोग पशुओं को ही प्रायः धन मानते थे। धातु के सिक्के का उतना आदर न था। सोना गायों के सींगों में लगाने और चाँदी यज्ञपात्रों के काम आती थी। वैदिकों में धातु के आभरण पहनने का रिवाज बहुत ही कम था, इसलिए सोने का मूल्य भी बहुत कम था। उस समय पशु ही धन थे। दक्षिणी लोग अब तक पशुओं को धन ही कहते हैं, अतः वे लोग दक्षिणा में इन पशुओं को ही देते थे, अर्थात् गोदान, अश्वदान, अजादान करते थे। इसी से 'अश्वालम्भ', 'गवालम्भ' आदि कहा जाता था। कहने का तात्पर्य यह कि यज्ञ के प्रकरण में पशुओं का विशेष स्थान है। वेदों में गोप, अश्वप आदि शब्द आते हैं, जिससे ज्ञात होता है कि वैदिक लोगों के पास पशुओं की अत्यधिकता थी और उनके चरने का पर्याप्त प्रबन्ध था।

यह मानी हुई बात है कि चर-भूमि के बिना पशु रह ही नहीं सकते। जिस प्रकार पशुओं को प्रजापति कहा गया है उसी प्रकार वृक्षों को 'पशुपति' कहा गया है। तृण और वृक्षादि ही पशुओं का पालन करते हैं, इसीलिए वेदों में पशुओं के चरने की भूमि के अनेक नाम दिये हुए हैं। जहाँ

---

१. भागवत ३।१३।३६
२. पद्मपु० सृष्टि १६।५६
३. जिस प्रकार अग्नि मल को जला देता है और वायु को शुद्ध कर देता है उसी प्रकार शूकर भी मल को नष्ट कर देता है, इसीलिए शूकर 'अग्निजिह्वा' कहलाता है।
४. शत० १।१।२।१३

गाएँ चरती हों उसका नाम 'व्रज' है। युक्तप्रान्त[१] में मथुरा के आसपास व्रंज की मर्यादा ८४ कोस की थी। वहाँ ८४ कोस तक गोचर भूमि थी। इसी प्रकार वेद में घोड़ों के चरागाह को 'अर्व' कहते थे। हाल का अर्वस्तान घोड़ों के चरने का ही स्थान था। जैसे ये स्थान थे वैसा ही भेड़ों के चरने का स्थान 'गान्धार' कहलाता था। याज्ञिक काल में इतने-इतने बड़े भूभागों में एक-एक जाति के पशुओं के लिए चरागाह नियत होते थे। वैदिक काल के बाद इन चरागाहों का नाम बदल गया। मध्यम काल में इनका नाम वनचर और पशुचर हो गया। फ़ारसी का 'बनजर' शब्द (जो आजकल पटवारियों के काग़जों में पड़ती भूमि के लिए लिखा जाता है) 'वनचर' का और अंग्रेज़ी का 'पाश्चर' शब्द 'पशुचर' का ही अपभ्रंश है। शतपथब्राह्मण और बौद्धकालिक ग्रन्थों के हवाले से टी०डबलू० रिस डेविड्स एलएल०डी०, पीएच०डी० ने अपनी पुस्तक में लिखा है कि—

'चरागाहों और जंगलों के अधिकारों की ओर अधिक ध्यान दिया जाता था। पुरोहित सर्वदा इस बात की इच्छा करते थे कि किसी यज्ञादि करने के बदले उन्हें ऐसी ही भूमि की प्राप्ति हो। दानपत्र लिखने में इस बात का विशेष ध्यान रहता था कि इसमें इस प्रकार के एकाध चरागाह या जंगल ही रहें'[२]। इस प्रकार के इन वैदिक और ब्राह्मणकालिक प्रमाणों से सिद्ध है कि प्राचीन याज्ञिक आर्य किस प्रकार पशुचर भूमि का ध्यान रखते थे। यही कारण है कि उनके चरागाहों में आज व्रज, अर्व और गान्धार जैसे प्रदेश बसे हुए हैं। उस समय यह एक बहुत बड़ा कार्य समझा जाता था कि पृथिवी के किन-किन भागों में कौन-सौन से पशु उन्नत हो सकते हैं। अथवा किस भूमि को किस पशु के योग्य बनाना चाहिए। उनका यह भौगोलिक ज्ञान और प्रयत्न उस समय 'गोमेधयज्ञ' के नाम से प्रसिद्ध था, परन्तु कुछ लोग गोमेध का अर्थ गोवध ही करते हैं और बहुत-से पाश्चात्य विद्वान् कहते हैं कि प्राचीन आर्य गाय का वध करके उसी के मांस से यज्ञ किया करते थे, परन्तु पारसियों की पवित्र पुस्तकों के स्वाध्याय से डॉक्टर मार्टिन हाग (जो ज़न्द भाषा के प्रकाण्ड पण्डित हैं) कहते हैं कि गोमेध का अर्थ गोवध नहीं, प्रत्युत उसका अर्थ भूमि को उर्वरा बनाकर वनस्पति उगने योग्य कर देना है। उन्होंने इस प्रकार की केवल कल्पना ही नहीं की, किन्तु ज़न्दभाषा से गोमेध का अपभ्रंश 'गोमेज़' शब्द भी निकालकर रख दिया है। इस शब्द के प्राप्त हो जाने से गोमेध शब्द पर अपूर्व प्रकाश पड़ा है। गोमेज़ शब्द पर लिखते हुए हाग साहब कहते हैं कि 'पारसी धर्म में खेती करना धर्म समझा जाता है, अत: खेतीधर्म से सम्बन्ध रखनेवाले समस्त क्रियाकलाप का नाम गोमेज़ है'[३]। इस खोज को शतपथब्राह्मण के प्रमाण से स्वामी दयानन्द ने ६० वर्ष पूर्व लिखा था कि **'अन्न ँ हि गौ'**[४] अर्थात् अन्न ही का नाम गौ है। रहा 'मेध' शब्द, वह तो मेधा और मेधावी अर्थ में आता ही है। मेधा का अंग्रेज़ी अनुवाद 'कलचर' है। कलचर शब्द कृषि के लिए आता ही है, अत: अन्न के योग्य—उत्तम खेती के योग्य भूमि तैयार करने का ही नाम 'गोमेध' सिद्ध होता है।

---

१. अब उत्तरप्रदेश

२. Great importance was attached to these rights of pastures and forestry. These priests claimed to be able, as one result of performing a particular sacrifice, to ensure that a wide tract of such land should be provided (Sat. B. 13.3.7). And it is often made a special point, in describing the grant of a village to a priest, that it contains such common lands. (Dialogue of Buddha, p. 48)—The Story of the Nations, Buddhist India, by T.W. Rhys Davids, LL.D., Ph.D.

३. The Pārsi religion enjoins agriculture as religious duty and this is the whole meaning of 'Gomez'.
—*Essays on the Sacred Language,* Writings and Religion.

४. शत० ४।३।४।२५

इसका तात्पर्य यही है कि जहाँ की भूमि, गौएँ और अन्न क्रम से उर्वरा, बलवान् और स्वादिष्ट हों उस स्थान को 'गोमेध' कहते हैं और ऐसी भूमि बनाने को या नई भूमि खोजकर उसको इस योग्य बनाने के पुण्यकार्य को 'गोमेधयज्ञ' कहते हैं। इसी गोमेधयज्ञ के कारण आर्यलोग पृथिवी के अनेक भागों में व्रज, अर्व और गान्धार आदि स्थापित करते थे और वनचर तथा पशुचर भूमियों का विस्तार करते थे। चरभूमि का देना अथवा ऐसी भूमि मोल लेकर चरने के निमित्त छोड़ना अथवा ऊबड़-खाबड़ भूमि को इस योग्य बना देना कि उसमें हर प्रकार के अन्न, घास, बाग़ और जंगल हो सकें आर्यसभ्यता का विशेष गुण था। इस काम के लिए उनको सुदूर भूभागों का भौगोलिक ज्ञान रखना आवश्यक होता था। हम भौगोलिक ज्ञान के वर्णन में लिख आये हैं कि वेदों में समुद्र से नई भूमियों के निकलने और समुद्रों के बीच में बड़े-बड़े द्वीपों की ख़बर रखने का आदेश है, अतएव आर्यलोग इस चरभूमि के उद्देश्य से नई-नई भूमि खोजते थे और उनको गोमेधयज्ञ के द्वारा ठीक करके जिसको जिस पशुसमूह के योग्य समझते थे वहाँ वही पशुसमूह रखकर मनुष्यों की जनसंख्या को बढ़ाते थे और यज्ञों का प्रचार करते थे। इस कार्य के लिए उनमें शासनव्यवस्था, राज्यसङ्गठन, सेना और अन्य बड़ी-बड़ी राष्ट्रीय भावनाओं का उदय हुआ था। उन्होंने इस तत्त्व को हल कर लिया था कि जब तक संसारभर एक ही शासन के नीचे न हो जाए तब तक न तो मनुष्यों को ही सुख हो सकता है और न पशुओं को ही, अतः उन्होंने अश्वमेध यज्ञ का आविष्कार किया। यहाँ थोड़ा-सा हम इस अश्वमेध के विषय में भी प्रकाश डालते हैं।

यज्ञों में सार्वभौम राज्य

शतपथब्राह्मण में लिखा है कि '**राष्ट्रं वा अश्वमेधः......तस्माद्राष्ट्र्यश्वमेधेन यजेत।**[१] **अश्वमेधयाजी सर्वा दिशोऽभिजयन्ति**'[२], अर्थात् राष्ट्र ही अश्वमेध है, इसलिए राष्ट्रवादी को अश्वमेध करना चाहिए, क्योंकि अश्वमेध करनेवाला समस्त पृथिवी को जीत लेता है।

इस वर्णन से पाया जाता है कि आर्यों के समस्त बड़े-बड़े याज्ञिक आविष्कारों में अश्वमेधयज्ञ भी एक विशेष स्थान रखता है। जहाँ गोमेधयज्ञ के लिए समस्त पृथिवी की आवश्यकता है वहाँ अश्वमेध के भीतर सार्वभौम चक्रवर्ती राज्य का मन्त्र भरा हुआ है। पहला, बिना इस दूसरे के पूर्ण ही नहीं हो सकता। आर्यों की अभिलाषा थी कि—

एतद्देशप्रसूतस्य सकाशादग्रजन्मनः। स्वं स्वं चरित्रं शिक्षेरन् पृथिव्यां सर्वमानवाः॥

—मनुस्मृति [२।२०]

अर्थात् इस ब्रह्मावर्त देश के आदि ब्राह्मणों से समस्त भूमण्डल के मनुष्य गुण-कर्मानुसार अपना-अपना चरित्र सीखें।

इसका यही तात्पर्य था कि समस्त संसार के लोग एक जाति, एक धर्म, एक भाषा, एक आचारण और एक राष्ट्र में आबद्ध होकर रहें, जिससे मनुष्य, पशु-पक्षी, तृण-पल्लव, कीट-पतङ्ग किसी को भी दुःख न हो, इसीलिए पूर्वकाल में बड़े-बड़े नरेश जब शक्तिसम्पन्न होते थे तब एक बार अपना प्रभुत्व स्थापित करके वैदिक धर्म और वैदिक यज्ञों का प्रचार करने के लिए अश्वमेधयज्ञ अवश्य करते थे और यज्ञ विद्वेषी अनार्यों—म्लेच्छों को दण्ड देकर उस देश को यज्ञोपयोगी बनाते थे। इस यज्ञ में एक श्यामकर्ण घोड़ा छोड़ दिया जाता था। उसके पीछे बड़े-

---

१. शत० १३।१।६।३
२. शत० १३।१।२।३

बड़े योद्धा बड़ी सेना और युद्ध के समस्त उपकरण लेकर चलते थे। जिस देश से वह निकलता था वहाँ का राजा या तो उस घोड़े के स्वामी की अधीनता स्वीकार कर लेता या उसे बाँधता था। यदि बाँधता था तो उसके साथ युद्ध होता था। युद्ध में यदि घोड़ेवाला राजा जीतता था तो बाँधनेवाला उसके अधीन हो जाता था और यदि हार जाता था तो वह अश्वमेधयज्ञ का अधिकारी नहीं रहता था। उस यज्ञ का अधिकारी वही होता था जो सब देशों से या तो अधीनता स्वीकार करा ले या उन्हें युद्धों में हरा दे। जब सब देश अधीन और परास्त हो जाते थे तब इसे 'चक्रवर्ती राजा' का पद मिलता था। वैदिक काल में इस प्रकार की भावना थी। ब्राह्मणों, महाभारत और पुराणों में ऐसे अनेक चक्रवर्ती राजाओं और अनेक अश्वमेधयज्ञों का वर्णन है। अश्वमेधयज्ञ करने का कारण सब मनुष्यों को एक समान सुख-दुःख में सम्मिलित करना, दुष्ट राजाओं और यज्ञद्वेषी म्लेच्छों से प्रजा और याज्ञिकों का दुःख दूर करना, गोमेधयज्ञ के द्वारा पृथिवी को उर्वरा बनाना और मनुष्यों तथा पशु-पक्षियों को सुख पहुँचाना ही था, क्योंकि यज्ञों का अभिप्राय सार्वजनिक सुखों की वृद्धि ही है। सार्वजनिक सुख तब तक नहीं हो सकते जब तक समस्त मानवसमुदाय समान सुख-दुःख का भागी न हो जाए, अनेक जातीयता की भावना नष्ट न हो जाए और साम्यभाव न आ जाए। हम देखते हैं कि वेदों में साम्यभाव के सैकड़ों मन्त्र विद्यमान हैं। वेद संसार में साम्यभाव फैलाते हैं और वेद के यज्ञ सबको एक समान लाभ पहुँचाने के लिए ही किये जाते हैं, इसलिए पृथिवी में बसे हुए समस्त मनुष्यों को समान लाभ पहुँचाने की स्वाभाविक प्रेरणा से प्रेरित होकर ही अश्वमेध यज्ञ किया जाता था।

इस समय 'लीग आफ दी नेशन्स' के अन्दर, अर्थात् सब जातियों की महासभा के भीतर भी यही तत्त्व काम कर रहा है। यद्यपि उसके भीतर अभी शुद्ध भाव नहीं है, परन्तु विवश होकर संसार का यह पवित्र स्वाँग करना पड़ा है। इस बनावटी नाटक से ही सार्वभौम सिद्धान्त की सत्यता प्रकट होती है। विलायत के बड़े-बड़े राजनीतिविशारद अब इस चक्रवर्ती राज्य का स्वप्न देख रहे हैं। स्वामी दयानन्दजी सदैव ईश्वर से चक्रवर्ती राज्य की प्रार्थना करते थे। आज पश्चिम के विद्वान् भी वही बातें करने लगे हैं। वर्त्तमान 'लीग आफ़ नेशन्स' के विरुद्ध लिखता हुआ एक विद्वान् कहता है कि 'यदि मनुष्य को तबाही से बचना है तो सार्वभौमिक अध्यक्षता होनी चाहिए। उसके पास इतनी सेना होनी चाहिए कि वह ब्रिटिश और फ्रेंच सेनाओं से अधिक हो। हवाई तथा समुद्री जहाज़ इतने हों कि वे तमाम दुनिया से अधिक हों तथा समस्त राजकीय झण्डों के स्थान में एक ही सार्वभौम झण्डा लहराता हो'[१]।

ये चक्रवर्ती राज्य के आधुनिक स्वप्न हैं, परन्तु वैदिक याज्ञिकों को तो आदिम काल ही में यह सब सूझ चुका था। उन्होंने तो इसे यज्ञ स्वीकार करके धर्म में सम्मिलित कर लिया था, क्योंकि बिना इस यज्ञ के दूसरे यज्ञ निर्विघ्नता से हो ही नहीं सकते। बिना इसकी सहायता के गोमेधयज्ञ कैसे होगा? कैसे जंगलों और पशुओं की रक्षा होगी और कैसे मनुष्यजाति परस्पर प्रीति से रहेगी? धन्य हैं वे वेद और धन्य हैं वे यज्ञ जिनमें इतनी महान् भावना गर्भित है। इससे सहज ही ज्ञान करना चाहिए कि जिस यज्ञ में इतने बड़े सौर्वभौमिक राज्य का समावेश है, वहाँ खण्ड राज्यों का वर्णन क्या मूल्य रखता है, अर्थात् कुछ भी नहीं। सार्वभौम राज्य के प्रबन्ध

---

१. A league from which large sections of the world are excluded is no contribution to that need. It may be worse than nothing. If man is to be saved form destruction there must be a world control—such a world Goverment that should have might to supersede the British artillery, to surpass the French artillery and air-force superseding all navy and air forces. For many flags there must be one sovereign flag.
—*Salvaging of Civilisation* by H.C. Wells.

करनेवाले, सेना, शस्त्र, युद्ध और रसद का प्रबन्ध जानते ही होंगे। यह कभी कहा ही नहीं जा सकता कि सार्वभौम चक्रवर्ती राज्य बिना सेना और युद्धों के प्राप्त हो जाता है। ऋग्वेद का बड़ा भाग सेना और युद्धों के वर्णन से भरा हुआ है, क्योंकि युद्ध आर्यसभ्यता का एक आवश्यक अङ्ग है। अर्जुन को युद्ध से हटते हुए देखकर भगवान् श्रीकृष्ण ने स्पष्ट ही कहा था कि अर्जुन! तेरा यह मोह अनार्यभावयुक्त है, अर्थात् यह आर्यभावना नहीं है। कहने का तात्पर्य यह कि यज्ञों के प्रकरण में सार्वभौम राज्य बहुत ही प्रभावशाली और ऐश्वर्यसम्पन्न अभिलाषा है, परन्तु इससे यह न समझ लेना चाहिए कि यज्ञों में इसी प्रकार के रूखे-सूखे और जान को जोखिम में डालनेवाले विषयों का ही समावेश है अथवा याज्ञिक लोग ज्योतिष् आदि वैज्ञानिक और शुष्क विषयों में ही माथा मारा करते थे, प्रत्युत यह समझना चाहिए कि यज्ञ बड़े ही मनोरञ्जक होते थे। यहाँ हम उनकी मनोरञ्जकता का कुछ वर्णन करते हैं।

यज्ञों में ललित कला

ललित कला में काव्य, सङ्गीत और चित्रकला का समावेश होता है। इसे अंग्रेज़ी में 'फ़ाइन आर्ट्स' कहते हैं। हर्बर्ट स्पेंसर ने अपने एजुकेशन नामी ग्रन्थ में लिखा है कि 'ललित कलाएँ उन्नति के फूल हैं'। सत्य है, जब सब प्रकार की उन्नति हो जाती है तभी कविता की सामग्री उत्पन्न होती है और उसी का सङ्गीत और चित्र में अङ्कन होता है। यज्ञ में ललित कलाओं का पूर्णरूप से समावेश है, इसलिए यज्ञ ललित कला के द्वारा मनुष्यों का रञ्जन भी करते हैं, क्योंकि यज्ञों में काव्य, सङ्गीत, चित्रण और सजावट का पूर्ण प्रबन्ध होता है। इससे मनुष्य का हृदय सदैव प्रफुल्लित रहता है। यह सभी जानते हैं कि मनोरञ्जन का सबसे उत्तम साधन सङ्गीत है। यज्ञों में सामगायन के लिए उद्गाताओं की नियुक्ति होती है जो सदैव वीणा के द्वारा सामगायन किया करते हैं। वीणा और मृदङ्ग स्वर और ताल के साथ बजते हैं। सात स्वरों के उदात्त, अनुदात्त और स्वरित भेद से तीन ग्रामों के साथ श्रुति, मूर्च्छन और तानों को साममन्त्रों के द्वारा प्रकट किया जाता है, जिससे अलौकिक आनन्द प्राप्त होता है। सङ्गीत के आदि प्रचारक वैदिक याज्ञिक ही हैं। उनके निकाले हुए सात स्वरों के अतिरिक्त आज तक किसी ने आठवाँ स्वर नहीं ढूँढ निकाला। वीणा से उत्तम बाजा आज तक पृथिवीमण्डल में कोई नहीं बना पाया। वीणा का वर्णन वेदों में है, जिससे ज्ञात होता है कि सङ्गीत के मूल—सात स्वरों—के आदि प्रचारक याज्ञिक ही हैं। जर्मन का प्रसिद्ध विद्वान् 'वेबर' अपनी भारतीय साहित्य सम्बन्धी पुस्तक के पृ० २९७ पर लिखते हैं कि 'हिन्दुओं के सात स्वर—सा, रे, ग, म, प, ध, नी—की नक़ल ईरानियों ने की और दो, रे, मि, फ़, सो, ल, सि के रूप में परिवर्तित किया। फ़ारसवालों से लेकर 'गिडो' नामक अंग्रेज़ ने इनको दो, रे, मि, फ, सोल, लो, टी कर दिया। इस प्रकार फ्रांसीसियों का 'ग्राम' और अंग्रेज़ों का 'गेमट' शब्द भी संस्कृत के 'ग्राम' और प्राकृत के 'गम' का ही रूपान्तर है'[१], अतः यह विद्या याज्ञिकों की ही है।

ललित कला का दूसरा मनमोहक विषय काव्य है। वेद स्वयं काव्यरूप हैं। वेदों से अच्छी कविता आज तक संसार में कहीं नहीं हुई। पहले लोग कहा करते थे कि वेदों के भाव बड़े गूढ़ हैं, परन्तु जब से पश्चिम में छायावाद, रहस्यवाद और भाववाद की कविता का प्रचार हुआ है तब

१. The Hindu scale, sa, re, ga, ma, pa, dha, ni, has been borrowed also by the Persians, where we find it in the form do, re, me, fa, so, la, ci. It came to the west and was introduced by Guido of Arezzo in Europe in the form do, re, mi, fa, sol, lo, ti.

I have, moreover, hazarded the conjecture that even the *gamma* of Guido (French *Gramma* English *Gamut*), goes back on the Sanskrit *Grama* and Prakrita *Gama* and is thus a direct testimony of the Indian origin of our European Scale of seven notes.

बड़ा ही लाभदायक हो सकता है। कहने का तात्पर्य यह कि मनुष्यमात्र को यज्ञ करने का कठोर आदेश है, क्योंकि यज्ञ एक बहुत बड़ा सङ्गठन है। यज्ञों में बड़े समारोह के साथ सब श्रेणी के मनुष्य एक ही सार्वजनिक लाभ के उद्देश्य से एकत्र होते हैं, इसलिए उससे बढ़कर और दूसरा सङ्गठन नहीं हो सकता। हम देखते हैं कि आजकल हिन्दुओं के बड़े-बड़े समारोह होते हैं, परन्तु यज्ञ और सर्ववर्णसम्मेलन नहीं होते। यदि हम भूलते नहीं हैं तो कह सकते हैं कि यज्ञों के स्थान में किसी बुद्धिमान् नेता ने सत्यनारायण की कथा का प्रचार किया था। इसमें यज्ञ से सम्बन्ध रखनेवाली प्राय: सभी वस्तुएँ हैं। मण्डप, वेदी, कलश, नवग्रह, धूप, दीप, सर्ववर्णसम्मेलन, पुरोडाश (प्रसाद) और गीत-वाद्य आदि सभी कुछ उपस्थित है। सत्यनारायण की कथा में ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र और अनार्य तक के यहाँ जाने और प्रसाद लेने का विधान है। इस बात पर बड़ा बल दिया गया है कि जो प्रसाद का अनादर करता है उसका नाश हो जाता है। गोपों की कथा में यह भाव स्पष्ट रूप से दिखलाया गया है। प्रसाद भी अन्न का ही कहा गया है, गेंहू या चावल का आटा घी, शक्कर, मेवा से सुस्वादु बनाकर देना लिखा है। यज्ञ के 'मधुपर्क' को पञ्चामृत का रूप देकर बड़ी ही योग्यता दिखलाई गई है। इतना सब-कुछ होने पर भी आज हिन्दुओं के पाँचों विभागों में स्पर्शास्पर्श और खान-पान का मिथ्या प्रपञ्च बना हुआ है। यह सत्यनारायण की कथा वैज्ञानिक नियम पर स्थित नहीं है, इसलिए पढ़े-लिखे समुदाय में अब उसपर प्रकाश नहीं डाला जा सकता, परन्तु यज्ञों की बात वैसी नहीं है। यज्ञ तो आरम्भ से अन्त तक बहुत बड़े वैज्ञानिक सिद्धान्तों पर स्थित हैं, इसलिए अब समय आ गया है कि हम उन्हें अच्छे रूप में उपस्थित करें और उन्हीं को हिन्दूसङ्गठन का केन्द्र बनाएँ। पुराने समय में यज्ञ करना आवश्यक समझा जाता था। वह ऋणमुक्ति का साधन माना गया है। यहाँ हम थोड़ी-सी इस विषय की भी चर्चा करना चाहते हैं।

यज्ञों से ऋण-मुक्ति

ब्राह्मणग्रन्थों में लिखा है कि '**जायमानो ह वै पुरुषस्त्रिभिर्ऋणैर्ऋणवान् जायते**', अर्थात् प्रत्येक मनुष्य तीन प्रकार के ऋणों से ऋणी उत्पन्न होता है। ये तीनों ऋण देवऋण, ऋषिऋण और पितृऋण कहलाते हैं। कर्मयज्ञ करने से देवऋण, ज्ञानयज्ञ करने से ऋषि-ऋण और पुत्रेष्टियज्ञ करने से पितृऋण चुकते हैं। कर्मयज्ञ का हम विस्तारपूर्वक वर्णन करते हुए आ रहे हैं। इस यज्ञ में अग्निहोत्र की प्रधानता रहती है। जल, वायु आदि प्राकृतिक देवता हमारा नित्य कल्याण करते रहते हैं। यही इनका हमपर ऋण होता है। इस ऋण से हम तभी छूटते हैं जब हम जल, वायु आदि को हवन के द्वारा शुद्ध कर दें। यही ऋण से अनृण होना है। इसी प्रकार ऋषिलोग वेदविद्या पढ़ाकर हमें ऋणी करते हैं। इस ऋण से हम तब छूटते हैं जब ऋषि-सन्तान=मनुष्य को विद्या का दान दें। जिस प्रकार के ये दो ऋण हैं उसी प्रकार का पितृऋण भी है। पिता, पितामह और प्रपितामह आदि हमें जन्म देकर लालन-पालन और शिक्षण से योग्य बनाते हैं। यही हमपर उनका ऋण होता है। इस ऋण से हम केवल भोजन-वस्त्र देकर और सेवा टहल करके ही अनृण नहीं हो सकते। इस ऋण से हम तभी अनृण हो सकते हैं जब हम भी उन्हें अपनी स्त्री से उत्पन्न करें और लालन, पालन, शिक्षण से योग्य बनावें, परन्तु यह तभी हो सकता है जब हम उनको अपने वीर्य में आकर्षित करके अपनी स्त्री के गर्भ से उत्पन्न कर सकें। जिस क्रिया से यह सब-कुछ किया जा सकता है उस कर्म का नाम पुत्रेष्टियज्ञ है। पुत्रेष्टियज्ञ का बहुत-सा भाग पुंसवन आदि संस्कारों में और पितृश्राद्ध आदि कर्मों में सम्मिलित है, अतएव हम यहाँ थोड़ा-सा भाग केवल पितृश्राद्ध का लेकर पुत्रेष्टियज्ञ का दिग्दर्शन कराते हैं।

यह सभी जानते हैं कि जितने मनुष्य मरते हैं वे या तो सूर्यलोक को जाते हैं या चन्द्रलोक को। जो मोक्ष को जाते हैं और आवागमन के चक्कर से छूट जाते हैं वे सूर्यलोक को जाते हैं, परन्तु जो कर्मवश फिर लौटने के लिए जाते हैं, वे चन्द्रलोक को जाते हैं[१]। चन्द्रमा वीर्य का देवता है। चन्द्रलोक से जीव मनुष्यलोक को आते हैं[२] और किरणों के द्वारा मनुष्य के वीर्य में प्रवेश कर जाते हैं[३]। मनुष्यवीर्य से स्त्री के गर्भ में जाते हैं और गर्भ से बाहर निकलकर संसार में विचरते हैं। इस प्रकार से पुनर्जन्म का क्रम चालू रहता है, परन्तु कारणवश जब मनुष्य के वीर्य में अथवा स्त्री के गर्भाशय में किसी प्रकार का दोष उत्पन्न हो जाता है और सन्तान नहीं होती अथवा लड़की-ही-लड़की होती हैं तो पुत्रेष्टियज्ञ अथवा पुंसवन के द्वारा वह दोष दूर कर दिया जाता है और पुत्र उत्पन्न होता है। जिसके लड़की-ही-लड़की उत्पन्न होती हों वह पुंसवन संस्कार के दिन से दो महीने तक अथर्ववेद के अनुसार शमीवृक्ष पर उगे हुए वटवृक्ष की जड़ को लाकर और पानी में पीसकर गर्भवती स्त्री को पिलावे तो पुत्र उत्पन्न होगा[४], परन्तु दम्पती के योग्य होते हुए जिनके सन्तान ही न होती हो वे पुत्रेष्टियज्ञ के द्वारा ही पुत्रोत्पन्न करें।

हम लिख आये हैं कि मनुष्य पुत्रोत्पन्न करके ही पितृऋण से अनृण होता है, इसलिए पुत्रकामा मनुष्य पितृपिण्डयज्ञ, अर्थात् पुत्रेष्टियज्ञ के द्वारा अपने पितरों को हविष्यान्न में आकर्षित करके वह हवि स्त्री को खाने के लिए देवे, किन्तु प्रश्न यह है कि चान्द्रलोक से जीवों को किस प्रकार खींचा जाए? जीवों के खींचने की वही विधि है जो सूर्यकान्तमणि के द्वारा सूर्यताप के खींचने में और चन्द्रकान्तमणि के द्वारा चान्द्रजल के खींचने में प्रयुक्त की जाती है। जिस प्रकार चन्द्रकान्त के प्रयोग से चान्द्रजल की प्राप्ति होती है उसी प्रकार चान्द्रपदार्थों को एकत्र करने से चान्द्रवीर्य भी आकर्षित होता है। चान्द्रवीर्य ही में जीव रहते हैं, इसलिए वे उन पदार्थों में खिंच आते हैं जो चन्द्राकर्षण के लिए विधि से एकत्र किये जाते हैं। वे पदार्थ दूध, घृत, चावल, मधु, तिल, रजतपात्र, कुश और जल हैं। ये सभी पदार्थ वीर्यवर्द्धक हैं, इसलिए आकर्षणानुकर्षण के सिद्धान्तानुसार चान्द्रवीर्य का इनके साथ सम्बन्ध हो जाता है और चान्द्रवीर्य खिंच आता है। यह प्रक्रिया लोग शरद्पूर्णिमा के दिन करते हैं, परन्तु विधिपूर्वक क्रिया तो पितृश्राद्ध के ही समय होती है। पितृश्राद्ध अपराह्न के समय होता है। उसमें घृत, दूध, मधु, कुश आदि सभी पदार्थ रक्खे जाते हैं। पितरों का प्रतिनिधि पुत्र अथवा पौत्र भी उन पदार्थों को छूता हुआ वहीं पर बैठता है, इसलिए यह सब हवि आदि सामग्री उसी प्रकार का यन्त्र बन जाती है जिस प्रकार चन्द्रकान्त मणि। इसी में पितर खिंचकर आते हैं[५] और हविपिण्ड सूँघने अथवा खाने से वीर्य और गर्भ में जाते हैं। शतपथब्राह्मण १४।४।२।२९ में लिखा है कि **'अथ यत् प्रजाममिच्छते, यत् पितृभ्यो निपृणाति तेन पितृणाम्'**, अर्थात् जो प्रज़ा की इच्छा रखता हो वह पितृयज्ञ करे। यजुर्वेद २।२३ में लिखा है कि—

'आधत्त पितरो गर्भं कुमारं पुष्करसृजम्। यथेह पुरुषोऽसत्'॥

अर्थात् इस पुरुष की भाँति के आकाशस्थ कुमार पितर गर्भ को धारण करें।

---

१. ये वै चास्माल्लोकात्प्रयान्ति चन्द्रमसमेव ते सर्वे गच्छन्ति। —कौषीतकी उपनिषद्

२. तथा च तत्पितृलोकाज्जवीलोकमभ्यायन्ति। —शतपथब्रा० १३।४।७।९

३. अस्मिंश्चन्द्रे अधि यद्धिरण्यं तेनायं कृणवद् वीर्याणि। —अथर्व० ९।२७।१०

४. शमीमश्वत्थ आरूढस्तत्र पुंसवनं कृतम्। तद्वै पुत्रस्य वेदनं तत्स्त्रीष्वा भरामसि। —अथर्व० ६।११।१

५. परा यात पितरः सोम्यासो गम्भीरैः पथिभिः पूर्याणैः।
अधा मासि पुनरा यात नो गृहान् हविरत्तुं सुप्रजसः सुवीराः॥ —अथर्ववेद [१८।४।६३]

ज्ञात हुआ कि आकाशस्थ पितर पितृयज्ञ या पुत्रयज्ञ के द्वारा गर्भ धारण करते हैं। गृह्यसूत्र में इसी मन्त्र के लिए लिखा है कि 'आधत्त पितरो गर्भामिति मध्यमं पिण्डं पत्नी प्राश्नीयात्', अर्थात् इस 'आधत्त' मन्त्र को कहकर बीच के पिण्ड को पत्नी खा जाए। यही बात मनुस्मृति में भी लिखी है कि—

पतिव्रता धर्मपत्नी पितृपूजनतत्परा। मध्यमं तु ततः पिण्डमद्यात्सम्यक् सुखार्थिनी।

—मनुस्मृति [३। २६२]

अर्थात् पितृपूजन में रत पुत्र की इच्छा रखनेवाली पतिव्रता स्त्री बीच का पिण्ड खावे।

इस प्रकार से यह पुत्रेष्टियज्ञ की क्रिया पितृपिण्डश्राद्ध में घुसी हुई पाई जाती है। कहने का भाव यह कि जहाँ देवऋण और ऋषिऋण कर्मयज्ञ और ज्ञानयज्ञ से चुकते हैं वहाँ पितृऋण पुत्रेष्टियज्ञ से चुकता है, अर्थात् सब प्रकार के ऋण यज्ञों से ही चुकते हैं।

जिन यज्ञों का इतना बड़ा माहात्म्य है, जिनमें इतनी बड़ी-बड़ी विद्याओं की आवश्यकता होती है और जो बड़ी-बड़ी राष्ट्रीय भावनाओं को बल देनेवाली हैं उनका ज्ञान देकर वेदों ने आदिज्ञान के स्वरूप का पूरा दिग्दर्शन करा दिया है। हमने यहाँ तक अभी केवल कर्मयज्ञों का ही वर्णन किया है। हम देख रहे हैं कि लोक से सम्बन्ध रखनेवाली जितनी विभूतियाँ—सुख और विज्ञान आदि हैं, वे सब कूट-कूटकर इन्हीं में भर दी गई हैं। वेदों के द्वारा इस प्रकार का मौलिक ज्ञान प्राप्त कर लेने पर प्राचीन आर्यों ने इसी ज्ञान के सहारे बहुत विशाल और सूक्ष्म काल्पनिक ज्ञान में उन्नति की थी, परन्तु यह सब-कुछ होते हुए भी लोग कहते हैं कि यहाँवालों में सूक्ष्म ज्ञान तक पहुँचने की योग्यता नहीं थी। वे कहते हैं कि वैदिक आर्य आजकल की भाँति सूक्ष्म साइंस, सूक्ष्म यन्त्र और सूक्ष्म विद्याओं को नहीं जानते थे। मोटर, रेल, हवाई जहाज़, घड़ी, टेलीफ़ोन, वायरलेस और फ़ोनोग्राफ़ जैसे यन्त्र उनके पास नहीं थे, परन्तु हम कहते हैं कि यदि भारतदेश का दीर्घकालीन इतिहास सूक्ष्मता से देखा जाए तो पता लगेगा कि उसके भूत-भवन में इसी प्रकार के पदार्थ एकत्र थे। वर्त्तमान यूरोप की ही भाँति यहाँ भी भौतिक उन्नति थी और ऐसे ही भौतिक साधन उपस्थित थे, किन्तु हमें उनका अभिमान नहीं है। हम जानते हैं कि उन्हीं के कारण हमारा पतन हुआ है। हमारा ही नहीं, प्रत्युत मिस्र, यूनान और रोम तथा चीन का भी इन्हीं भौतिक उन्नतियों के कारण ही पतन हुआ है और यह निर्विवाद है कि यदि यूरोप और अमेरिका शीघ्र ही इसका अन्त न कर देंगे तो उनका भी पतन अनिवार्य है, क्योंकि इसमें दो दोष हैं।

एक तो यह भौतिक विज्ञान-जात भौतिक उन्नति अनिश्चित होती है, दूसरा यह कि इससे विलास उत्पन्न होता है। वह ज्ञान जिसे बड़े-बड़े विद्वान् सोचकर अपने मस्तिष्क से निकालते हैं, प्रायः अनिश्चित होता है। इसका कारण यह है कि जिन सूक्ष्म पदार्थों से हमारा मस्तिष्क बना है उनसे भी अधिक सूक्ष्म पदार्थ संसार में विद्यमान हैं। जिस प्रकार नेत्र की दर्शनशक्ति से दृश्य पदार्थ सूक्ष्म पाये जाते हैं, उसी प्रकार सोचनेवाले यन्त्र मस्तिष्क से भी अधिक सूक्ष्म पदार्थ हैं, जो सोचे और समझे नहीं जा सकते। आधुनिक विज्ञान का प्रसिद्ध विद्वान् थामसन कहता है कि 'जब संसार के छोटे रहस्य खुल जाते हैं तब आगे बड़े रहस्य आ उपस्थित होते हैं। संसार के आश्चर्यों को विज्ञान कभी मिटा नहीं सकता, प्रत्युत उन्हें अथाह और अगाध बना देता है'[१]। मनोविज्ञान का एक दूसरा विद्वान् कहता है कि 'किसी भी जीवन-कार्य की संगति भौतिक नियमों से अब तक स्पष्ट नहीं की जा सकी। आँसू निकलने या पसीना बहने के छोटे-छोटे

---

१. When minor mysteries disappear, greater mysteries stand confessed. Science never destroys wonder, but only shifts it higher and deeper. —*Introduction to Science* by J.A. Thomson, M.A.

जीवन-कार्य भी भौतिक तथा रासायनिक नियमों से स्पष्ट नहीं हो सकते'[१]। इसी प्रकार महाशय एफ० सोडी कहते हैं कि 'परस्पर दो पदार्थ क्यों आकर्षित होते हैं और क्यों दो पदार्थ पृथक् होते हैं, यह ज्ञात नहीं है'[२]। यही अवस्था प्रत्येक विज्ञान की है। ऊँचे दर्जे के विज्ञानों में सदैव अनेक मत रहते हैं और प्रतिवर्ष थ्यूरियाँ (कल्पनाएँ) बदला करती हैं, परन्तु वेदों में ऐसे अस्थिर और सन्दिग्ध विज्ञान का वर्णन नहीं किया गया।

दूसरा दोष इस काल्पनिक विज्ञान में यह है कि यह तुरन्त ही विलास में वृद्धि करता है। विलास-वृद्धि से मनुष्य रोगी और शीघ्र मरनेवाले हो जाते हैं, इसमें प्रमाण देने की आवश्यकता नहीं है। कहने का तात्पर्य यह कि जो सन्दिग्ध और हानिकारक हो उसका वर्णन वेद-जैसी पवित्र ईश्वरीय पुस्तक में हो ही नहीं सकता। वेद में सूक्ष्म ज्ञान जानने की विधि का एक निराला ही वर्णन है। वेद कहते हैं कि परमात्मा के जान लेने पर संसार के समस्त सूक्ष्म पदार्थ और नियम ज्ञात हो जाते हैं। दूसरी जगह आदेश है कि सम्भूति को केवल जानो, परन्तु उसकी उपासना न करो, अर्थात् परमेश्वर के सकाश से समस्त सूक्ष्म ज्ञान प्राप्त करो, परन्तु उसकी उपासना न करो—विलास में न फँस जाओ। जो योग और समाधि के द्वारा परमात्मा का साक्षात्कार करते हैं उनके सब भ्रम जाते रहते हैं और वे संसार के मायाजाल में नहीं फँसते। यद्यपि वेदों में इस प्रकार का आदेश है, तथापि इस देश के विद्वानों ने शत्रुओं से रक्षा के उद्देश्य से अनेक प्रकार के सूक्ष्मतर विज्ञानों और कलापूर्ण यन्त्रों का आविष्कार किया था। यहाँ हम उनके कुछ नमूने लिखते हैं।

भरद्वाज मुनिकृत यन्त्रार्णव के वैज्ञानिक प्रकरण में लिखा है कि जल और वायु के स्तम्भन से जो शक्ति उत्पन्न होती है, उसे मन्त्र कहते हैं और दण्ड, चक्र, दाँतों की योजना, सरणि और भ्रामक आदि के द्वारा जिस शक्ति का वर्धन और सञ्चालन किया जाता है, उसे यन्त्र कहते हैं तथा मनुष्यों और पशुओं की शक्ति से जो कार्य किया जाता है उसे तन्त्र कहते हैं[३]। यहाँ इन मन्त्र, यन्त्र और तन्त्रों के अनेक प्रमाण मिलते हैं जो विज्ञान की उत्कृष्टता को प्रकट करते हैं। हम ज्योतिष् के प्रकरण में लिख आये हैं कि याज्ञिकों ने ग्रहवेध के लिए तुरीययन्त्र बनाया था और भूगोल तथा खगोल का नक़शा भी काष्ठ के गोलों पर बना लिया था। इसी प्रकार ऋतु जानने के लिए उन्होंने थरमामीटर, बारोमीटर और घड़ी[४] भी बना ली थी। उन्होंने वह यन्त्र भी बना लिया था जो आप-ही-आप चलता था। हमने यह भी लिख दिया है कि वे पृथिवी की आकर्षणशक्ति और ज्वारभाटे के कारणों को जानते थे तथा विद्युदाकर्षण, अर्थात् चुम्बुकशक्ति से पूर्ण परिचित थे।

अब हम उन यन्त्रों का वर्णन करते हैं जो सवारी, मनोरञ्जन और युद्ध आदि के काम आते थे। भोजनप्रबन्ध में लिखा है कि राजा भोज के पास एक काठ का घोड़ा था जो एक घड़ी में

---

१. For no single organic function has yet been found explicable in purely machanical terms. Even such relatively simple processes as the secretion of a tear or the exudation of a drop of sweat continue to elude all attempts at complete explanation in terms of physical and chemical science.
—*Psychology* by Prof. W Medougall. F.R.S., M.B.

२. Why two bodies tractate or peltate is not known in a single instance.
—*Matter and Energy* by F. Soddy M.A.

३. मन्त्रज्ञा ब्राह्मणाः पूर्वे जलवाय्वादिस्तम्भने। शक्तेरुत्पादनं चक्रुस्तन्मन्त्रमिति गद्यते।
दण्डैश्चक्रैश्च दन्तैश्च सरणिभ्रामकादिभिः। शक्तेस्तु वर्द्धकं यत्तच्चालकं यन्त्रमुच्यते।
मानवीपाशवीशक्तिकार्यं तन्त्रमिति स्मृतम्। —यन्त्रार्णव

४. **''घटीयन्त्रं यथा मर्त्या भ्रमन्ति मम मायया''**—गरुड़पुराण के इस लेख से पाया जाता है कि आर्यों के पास आजकल जैसा ही घटीयन्त्र था, क्योंकि इसमें भी घूमने का वर्णन है।

ग्यारह कोस जाता था और एक पंखा था जो बिना किसी मनुष्य की सहायता से आप-ही-आप ख़ूब तेज़ चलता था और ख़ूब हवा देता था[१]। इसी प्रकार धम्मपद की कथा वासुलदत्ता वत्थु पृष्ठ ९८ पर लिखा है कि कौशाम्बी के राजा उदयन से उज्जयिनी के राजा चण्डप्रद्योत की शत्रुता थी। प्रद्योत ने राजा उदयन को धोखा देकर पकड़ने के लिए एक हस्तीयन्त्र तैयार करवाया। यह हाथी लकड़ी का था। इसका रङ्ग सफ़ेद था। वह आप-ही-आप यन्त्र के सहारे चलता था। इसके अन्दर ६० योद्धा बैठ सकते थे। प्रद्योत ने इस हाथी को उदयन के जंगल में छुड़वा दिया। यह इधर-उधर फिरने लगा। सफ़ेद हाथी की ख़बर पाकर उदयन उसके पकड़ने के लिए आया, परन्तु स्वयं पकड़ा गया। उसी ग्रन्थ की कथा विसाखवत्थु पृष्ठ १९५ में लिखा है कि विशाखा के लिए एक महालता नाम का आभूषण बनवाया गया था। यह शिर से पैर तक था। चार महीने में ५०० सुनार इसे बना पाये थे। इसका मूल्य उस समय के किसी सिक्के के भाव से नव करोड़ था। इस आभूषण में एक मोर लगा था जो हर समय विशाखा के मस्तक पर नाचा करता था। इसी प्रकार महाभारत आदिपर्व में उत्तङ्क के घोड़े का वर्णन है। वह भी यन्त्र के ही सहारे चलता था। शहबाज़गढ़ी (पेशावर) में एक पत्थर पर रेल का इशारा भी है। विमान नामक यन्त्र तो वैदिक काल से ही इस देश में प्रचलित था। वेद में विमान के बनाने की विधि बतलाते हुए कहा गया है कि जो आकाश में पक्षियों के उड़ने की स्थिति को जानता है वह समुद्र—आकाश की नाव—विमान को जानता है[२]। संस्कृत में 'वी' पक्षी को कहते हैं और 'मान' का अर्थ अनुरूप अथवा सदृश है। इसलिए विमान का अर्थ 'पक्षी के सदृश' होता है। ऊपर हमने जो वेद में विमान बनाने की विधि की चर्चा की है, उससे भी यही ज्ञात होता है कि विमान की रचना पक्षियों के ही सिद्धान्त पर हुई थी। आज हम प्रत्यक्ष भी ऐरोप्लेनों को चिड़िया की ही शकल का उड़ता हुआ देखते हैं। इससे ऊपर की बात में कुछ शंका नहीं रह जाती।

पञ्चतन्त्र की एक कथा में लिखा है कि एक धूर्त मनुष्य विष्णु का रूप धारण करके आया करता था और गरुड़ की आकृति का ही वाहन लाता था। इसी प्रकार 'गयाचिन्तामणि' नामी ग्रन्थ में मयूर की आकृति के विमान का वर्णन है। वाल्मीकि रामायण सुन्दरकाण्ड सर्ग ९ में पुष्पक विमान का वर्णन है[३] और भागवत में शाल्व राजा के विमान का भी वर्णन आया है। शाल्व का यह विमान भूमि, आकाश, जल और पहाड़ पर भी आसानी से चलता था[४]। सबसे विशाल और भव्य विमान कर्दम ऋषि का था। भागवत में इसका भी अपूर्व वर्णन देखने योग्य है। विमानों के बनानेवाले कारीगर इस देश में बौद्धकाल तक मौजूद थे। धम्मपद के बोधिराजकुमार वत्थु पृष्ठ ४१० में एक कारीगर का हाल इस प्रकार लिखा है कि बोधिराजकुमार ने एक महल बनवाया। बनानेवाले कारीगर ने उसे बड़ा ही विचित्र बनाया। बोधिराज ने सोचा कि यह कारीगर कहीं दूसरे का मकान भी ऐसा ही न बना दे, इसलिए इसके हाथ काट लेने चाहिएँ। राजा ने यह बात अपने एक सलाहकार से कह भी दी। सलाहकार ने यह ख़बर कारीगर के पास पहुँचा दी। कारीगर ने अपनी स्त्री से कहला भेजा कि वह घर-द्वार, माल-मता बेचकर एक दिन इस महल

---

१. घट्यैकया क्रोशदशैकमश्वाः सुकृत्रिमो गच्छति चारु गत्या।
वायुं ददाति व्यजनं सुपुष्कलं विना मनुष्येण चलत्यजस्रम्॥ —भोजप्रबन्ध

२. वेदा यो वीनां पदमन्तरिक्षेण पतताम्। वेद नावः समुद्रियः। —ऋग्वेद १.२५.७

३. ब्रह्मणोऽर्थे कृतं दिव्यं दिवि यद्विश्वकर्मणा। विमानं पुष्पकं नाम सर्वरत्नविभूषितम्॥ —वाल्मीकि रामायण

४. स लब्ध्वा कामगं यानं तमोधाम दुरासदम्। ययौ द्वारवतीं शाल्वो वैरं वृष्णिं कृतं स्मरन्॥
क्वचिद् भूमौ क्वचिद् व्योम्नि गिरिशृङ्गे जले क्वचित्। —भागवत

के देखने की प्रार्थना करे। स्त्री ने वही किया और राजा से आज्ञा लेकर वह महल देखने गई। कारीगर उसे एक कोठरी में ले गया और (पुत्रदारमरुस सकुनस्स कुच्छियं निसीदयित्वा वातपातेन निक्सनित्वा पलायि)। स्त्री तथा लड़कों समेत एक गरुड़यन्त्र पर चढ़कर भाग गया और नेपाल के काठमाण्डू में रहने लगा। इन सब उपलब्ध प्रमाणों से जाना जाता है कि इस देश में विमान बनाने की कला ज्ञात थी। विमान पक्षी (गरुड़) की आकृति के बनते थे। इसलिए विष्णु का वाहन गरुड़ कहा गया है। इन विमानों से सम्बन्ध रखनेवाली एक प्राचीन पुस्तक है। इसका नाम है 'अंशुबोधनी'। यह भरद्वाज ऋषि की बनाई हुई है। इस पुस्तक में अनेक विद्याओं का वर्णन है। प्रत्येक विद्या के लिए एक-एक अधिकरण रक्खा गया है। इन अधिकरणों में एक विमान अधिकरण भी है। इस अधिकरण में आये हुए भरद्वाज ऋषि के 'शक्त्युद्गमोद्यष्टौ' सूत्र पर बौधायन ऋषि की वृत्ति इस प्रकार है—

शक्त्युद्गमो भूतवाहो धूमयानश्शिखोद्गमः। अंशुवाहस्तारामुखो मणिवाहो मरुत्सखः॥
इत्यष्टकाधिकरणे वर्गाण्युक्तानि शास्त्रतः।

इन श्लोकों में विमान की रचना और उनकी आकाश-संचारी गति के आठ विभाग इस प्रकार हैं—'शक्त्युद्गम' बिजली से चलनेवाला, 'भूतवाह' अग्नि, जल और वायु आदि से चलनेवाला, 'धूमयान' वाष्प से चलनेवाला, 'शिखोद्गम' पंचशिखी के तेल से चलनेवाला, 'अंशुवाह' सूर्यकिरणों से चलनेवाला, 'तारामुख' उल्कारस (चुम्बक) से चलनेवाला, 'मणिवाह' सूर्यकान्त-चन्द्रकान्त आदि मणियों से चलनेवाला और 'मरुत्सखा' केवल वायु से चलनेवाला। इस प्रकार से विमान बनाने और चलाने के अनेक प्रमाण मिलते हैं। इन उपलब्ध प्रमाणों से यह नहीं कहा जा सकता है कि भारतीय आर्य विमान बनाना नहीं जानते थे।

उनके अस्त्र-शस्त्रों में अनेक प्रकार के यन्त्र सम्मिलित थे। तोप और बन्दूक यन्त्र बनाने की विस्तारपूर्वक विधि शुक्रनीति अध्याय ४ में लिखी है। वहाँ बन्दूक और तोप दोनों का वर्णन है। बारूद बनाने और बारूद के द्वारा उनके चलाने का भी वर्णन है[१]। पुराने जमाने में ऐसा यन्त्र भी बनाया जाता था जो मनुष्य की भाँति बोलता था।

विक्रमादित्य के सिंहासन की पुतलियाँ बराबर बोलती थीं। यही नहीं, प्रत्युत् वाल्मीकि रामायण लंकाकाण्ड सर्ग ८० में लिखा है कि रावण ने एक कृत्रिम सीता बनाई थी जो राम का नाम ले-लेकर रोती थी[२]। इसी प्रकार वैदिक काल में दूर समाचार भेजने का भी साधन था। यह साधन कबूतर थे। ये कबूतर पत्र पहुँचाया करते थे। ऋग्वेद में इनका वर्णन है। कबूतरों के सिवा थोड़ी-थोड़ी दूर पर नगाड़े रखवाकर भी एक-दूसरे की आवाज़ के द्वारा शीघ्र और दूर ख़बर पहुँचाई जाती थी। अभी हाल में 'अमृत-बाज़ार पत्रिका' ने इस विषय से सम्बन्ध रखनेवाला एक

---

१. नालिकं द्विविधं ज्ञेयं बृहत्क्षुद्रविभेदतः। तिर्यगूर्ध्वच्छिद्रमूलं छिद्रं नालं पंचवितस्तिकम्॥ १८४॥
मूलाग्रयोर्लक्ष्यभेदिलबिन्दुयुतं सदा। यन्त्राघाताग्निकृद् ग्रावचूर्णधृक्कर्णमूलकम्॥ १८५॥
सुकाष्ठोपाङ्गबुध्नञ्च मध्यांगुलिबिलान्तरम्। स्वान्तेऽग्निचूर्णसंधातृशलाकासंयुतं दृढम्।
लघुनालीकमप्यैतत् प्रधार्यं पत्तिसादिभिः॥ १८६॥
यथा यथा तु त्वक्सारं यथास्थूलबिलान्तरम्। यथा दीर्घं बृहद् भगोलं दूरभेदि तथा तथा॥ १८७॥
मूलकीलभ्रमाल्लक्ष्यसमसंधानाभाजि यत्। बृहन्नालीकसंज्ञ तत्काष्ठबुध्नविवर्जितम्।
प्रवाह्यं शकटाद्यैस्तु सुयुक्तं विजयप्रदम्॥ १८८॥ —शुक्रनीति अ० ४

२. क्रोशन्ती रामरामेति मायया योजितां रथे॥ १५॥
तमेवमुक्त्वा रुदतीं सीतां मायामयीं च ताम्॥ २९॥ —वा०रा०यु० ८१। १५,२९

बड़ा ही उत्तम निबन्ध छापा है। वह कहता है कि दक्षिण हैदराबाद में पत्थरघाटी नाम का एक ग्राम है। उस ग्राम में डाक्टर सैयद मुहम्मदक़ासिम साहब रहते हैं। आपके पूर्वज बीजापुर राज्य के पुरोहित थे। आपके यहाँ संस्कृत का बहुत बड़ा पुस्तकालय है। आप इस पुस्तकालय की अच्छी देख-भाल रखते हैं। इस पुस्तकालय में एक संस्कृत की पुस्तक है जिसमें अनेक विद्याओं के वर्णनों के साथ दूर देश में समाचार भेजनेवाले यन्त्र का भी वर्णन दिया हुआ है। इसमें लिखी हुई विधि के अनुसार दो पत्थरों को बनाकर और चाहे जितनी दूरी पर रखकर उनके द्वारा बातचीत कर सकते हैं[1]। हमारा विश्वास है कि पुराने ज़माने में इस यन्त्र के द्वारा काम भी लिया जाता होगा, क्योंकि शुक्रनीति अध्याय १ श्लोक ३६७ में लिखा है कि **'अयुतं क्रोशजां वार्तां हरेदेकदिनेन वै'** अर्थात् राजा एक दिन में दश हज़ार कोस की बात जाने। इससे ज्ञात होता है कि शीघ्र ख़बर पहुँचानेवाले यन्त्रों का आविष्कार हो चुका था।

हमने यहाँ तक सूक्ष्म यन्त्रों का पर्याप्त वर्णन कर दिया है। अब थोड़ा-सा भौतिक विज्ञान का भी वर्णन करते हैं। पुराने ज़मानेवालों ने सूर्यकान्तमणि का तो आविष्कार किया ही था, किन्तु उससे भी सूक्ष्म चन्द्रकान्तमणि का भी आविष्कार कर लिया था। अब तक यूरोप की बढ़ी हुई साइंस भी ऐसा वैज्ञानिक यन्त्र नहीं बना सकी है। चन्द्रकान्तमणि के द्वारा चन्द्रमा से पानी बनाया जाता था और बीमारों को पिलाया जाता था। सुश्रुत सूत्रस्थान ४५। ३० में लिखा है कि—

रक्षोघ्नं शीतलं ह्लादिज्वरदाहविषापहम्। चन्द्रकान्तोद्भवं वारि पित्तघ्नं विमलं स्मृतम्।

अर्थात् चन्द्रकान्त से बना हुआ जल शीतल, विमल, आनन्द देनेवाला, पित्त, ज्वरदाह और विष का नाश करनेवाला है।

यह चन्द्रकान्तमणि अकबर बादशाह के ज़माने तक थी। इसकी चर्चा 'आईनअकबरी' में आई है[2]। सूर्य की सात किरणों का प्रभाव भी यहाँवालों को ज्ञात था। वेद के 'सप्ताश्व' प्रकरणानुसार सूर्य की सात किरणों का ज्ञान संसार में सबसे पहले आर्यों ने ही प्राप्त किया था। वे आकाश की अन्य शक्तियों का विज्ञान भी जानते थे। ज्योतिष् के ग्रन्थों में भूमि से ऊपर की दूरी लिखी हुई है जहाँ पृथिवी के कण, वायु, मेघ और विद्युत् आदि रहते हैं। वहाँ लिखा है कि **'भूमेर्बहिर्द्वादशयोजनानि भूवायुरम्बाम्बुदविद्युताद्याम्',** अर्थात् मेघ, विद्युत् और वायु आदि भूमि से बारह योजन की ऊँचाई पर हैं। यही नहीं, प्रत्युत सूर्य के अन्दर के उन काले धब्बों को भी देख लिया था, जिनको बड़े-बड़े पाश्चात्य ज्योतिषियों ने बड़े-बड़े दूरबीनों के सहारे जाना है। वाल्मीकि रामायण में रामचन्द्र लक्ष्मण से कहते हैं कि—

ह्रस्वो रूक्षोऽप्रशस्तश्च परिवेशस्तु लोहितः।
आदित्ये विमले नीलं लक्ष्म लक्ष्मण दृश्यते॥ —वा०रा०युद्ध० २३। ९

अर्थात् देखो विमल आदित्य में छोटा-सा काला धब्बा दिखलाई पड़ता है।

इन वर्णनों से स्पष्ट है कि उस युग में विज्ञान बहुत ऊँचे दर्जे तक पहुँच चुका था और यहाँ बहुत ही ऊँचे वैज्ञानिक साधन प्रस्तुत थे। भारत के जिन दिनों का यह वर्णन है वे दिन यहाँ वैज्ञानिक दृष्टि से उसी प्रकार के थे, जैसे आजकल यूरोप के हैं। हम कह आये हैं कि सूक्ष्मतर विज्ञान से विलासिता बढ़ती है। वह विलासिता यहाँ भी बढ़ी थी और उसने पृथिवी के दूर-दूर

---

१. इसी पुस्तक में ऐसा मसाला लिखा है जिसके उपयोग से मृतशरीर हज़ारों वर्ष अविकृत अवस्था में रह सकते हैं।

२. There is also a shining white stone called Chandrakant which upon being exposed to the moon's beams drips water. —*Ayeen Akbari*, p. 40

देशों तक अपना विष फैलाया था। यदि सच कहें तो हम कह सकते हैं कि भारतदेश आजकल उसी पाप का प्रायश्चित कर रहा है। यहाँ के सूक्ष्मतर विज्ञान के द्वारा यहाँ विलासिता के अनेक पदार्थ बनने लगे थे और दूसरे देशों का धन अपहरण होने लगा था। यहाँ की मज़लीन और मलमल, यहाँ की छींट और यहाँ के जवाहरातों ने संसार को चकाचौंध में डाल दिया था। एनटानियो सैन्सन ने छींट छापने के विषय में एक बहुत बड़ा महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ लिखा है। उसमें लिखा है कि ईस्वी सन् के २००० वर्ष पूर्व इस विद्या को भारतीय जानते थे। समस्त लेखक इस विषय में सहमत हैं कि भारतवर्ष कपड़ा पर छींट छापने की जन्मभूमि है। यूरोपवाले इस कला की नक़ल करने के बहुत दिन पूर्व भारत के छपे कपड़े को जानते थे। इतने वर्ष बीतने पर हमने रंगों में अन्तर किया है, परन्तु उनका मूलरूप वैसा ही है जैसा भारतवासियों ने बताया था[१]।

आर्यों ने ऊँचे-से-ऊँचे दर्जे के व्यापार किये थे। सबसे बहुमूल्य जवाहरात होते हैं, परन्तु आर्यों ने जवाहरात के धन्धे की भी पराकाष्ठा कर दी थी। 'प्रेशियस स्टोन्स एण्ड जेम्स' नामी ग्रन्थ में एडविन डब्लू स्ट्रीटर एफ़०आर०जी०एस०, एम०ए० लिखते हैं 'बहुत पुराने समय से हिन्दुओं को रत्नों का शौक़ है। वे आदिकाल से ही हीरे निकालते रहे हैं'।

राजा सुरेन्द्रमोहन टेगोर के 'मणिमाला' नामक ग्रन्थ के प्रमाण से वे लिखते हैं कि 'कोहनूर आदि हीरे भारतवर्ष की ही खानों से निकले हैं। आर्य उन्हें काटना और कमल बनाना जानते थे। वे उन्हें रंगना, उनके रंग बनाना और उनपर से रंग निकालना भी जानते थे। ऐसा एक भी रत्न नहीं है, जिसे वे पहले ही से न जानते हों'। ये सब बड़े-बड़े धन्धे दूसरे देशों के साथ जहाज़ों के द्वारा होते थे। यहाँ का नौकाशास्त्र बहुत ही उन्नत दशा में था। नौ शब्द से ही अंग्रेज़ी का नेवी शब्द बना है। कहने का तात्पर्य यह कि यहाँवालों ने हर विषय को सूक्ष्मतर ज्ञान की चरमसीमा तक पहुँचाया था। देश के कई विद्वानों ने कई एक विषयों को लेकर कई एक महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ लिखे हैं जो आर्यों के उच्च विज्ञान की साक्षी दे रहे हैं। आचार्य प्रफुल्लचन्द्र राय ने रसायनशास्त्र पर, विनयकुमार सरकार ने रेखागणित पर, राजा साहब गोंडल ने वैद्यकशास्त्र पर और रामविलास शारदा ने प्रत्येक विषय पर बहुत कुछ लिखा है, परन्तु प्रश्न यह है कि इस प्रकार ज्ञान, विज्ञान, सभ्यता और सदाचार में बढ़ी हुई आर्यजाति क्यों विदेशियों से हारती रही और क्यों सदा दूसरों की ग़ुलाम रही? यद्यपि इसका उत्तर भी गर्वपूर्वक कह सकते हैं कि हमें कभी किसी दूसरे ने पराजित नहीं किया, परन्तु शर्म से गर्दन नीची हो जाती है जब हम देखते हैं कि हम सदैव अपने आपको स्वयं पराजित करते रहे हैं और पराजित होते रहे हैं। हमारे सामने तीन ऐसे बड़े-बड़े ऐतिहासिक प्रसङ्ग उपस्थित हैं, जिनसे हमारी उपर्युक्त बात सिद्ध होती है।

सबसे प्रथम सिकन्दर की चढ़ाई होती है। हम उससे हारते हैं, परन्तु क्या हम सिकन्दर के बल या रणकौशल से हारते हैं? नहीं। हम अपने ही बल और रणकौशल से हारते हैं। हमारे ही

---

१. The art of staining or producing designs on fabrics can be traced to very remote times, and it is, by some authors, asserted that it was practised 2,000 years before the Christian Era. All writers on the subject are agreed in considering India as the birth place of calico printing.

The Indian printed, or rather painted fabrics were known a long time in Europe before any attempt was made to similate them.

By looking at the patterns in vogue in the last few months, it will have been observed that Indigo-blue and red have been very prominent, in other words it is interesting to observe that after all we have gone back in these styles to the effects produced 2,000 years ago by the Hindus. We can produce brighter reds and execute finer patterns but the colours are just the same althogh fixed differently. —*The Printing of Cotton Fabrics* by Antonio Sansone.

आदमी सिकन्दर की सेना में शामिल होते हैं और हमारा पराजय होता है। इतिहास में लिखा है कि तक्षशिला के मोफी ने ५,००० योद्धाओं को साथ लेकर सिकन्दर को सहायता दी और पोरस को हराया[१]।

यदि यह देशशत्रु सिकन्दर को मदद न देता तो सिकन्दर को आगे बढ़ने का साहस न होता, क्योंकि मगध के राजा महानन्द की सेना की चढ़ाई से सिकन्दर घबरा गया था[२]। यहाँ हम स्वयं ही इस सिकन्दर की विजय के कारण सिद्ध होते हैं।

हमपर दूसरा विजय मुसलमानों का है। मुसलमानों को बुलानेवाले, उनको सहायता देनेवाले, उनकी नौकरी करनेवाले और उनसे रिश्तेदारी करनेवाले भी तो हम ही हैं। उनको हमने ही बुलाया और हमने ही उनकी अधीनता स्वीकार की। इसमें प्रमाण देने की आवश्यकता नहीं है।

यूरोप-निवासियों की विजय का तीसरा इतिहास हमारे सामने है। कालीकट के राजा ने उन्हें टिकाया। मुसलमान बादशाहों ने उन्हें व्यापार करने, ज़मीन ख़रीदने, फ़ौज रखने और सिक्का चलाने का परवाना दिया। हमारे देशी सिपाहियों ने अंग्रेज़ों की फ़ौजों में नौकरी की और बेशर्मी से अपने आपको पराजित करते रहे।

इस प्रकार इतिहास बलपूर्वक सिद्ध करता है कि हमपर कभी किसी ने बल से या रणकौशल से राज्य नहीं किया, प्रत्युत हमने स्वयं अपने आपको धोखा दिया है और अपने आपको पराजित किया है। इसका प्रबल प्रमाण यह है कि अपनी उक्त बेशर्म नीति के विरुद्ध हमने जब इच्छा की है तब अपना शासन अपने हाथ में ले-लिया है। राजा चन्द्रगुप्त ने सिकन्द्र को हटा दिया, मरहटों और सिक्खों ने मुसलमानों को हटा दिया, और यदि समस्त देश के हिन्दू एकमत होकर ईमानदारी से स्वराज्य का प्रयत्न करें तो वे उसे प्राप्त कर सकते हैं, इसमें अधिक बहस करने की आवश्यकता नहीं है। कहने का तात्पर्य यह कि हमारी सहायता के बिना हमपर कोई सुख से राज्य नहीं कर सकता।

हममें कभी कम ताक़त नहीं रही, हममें ज्ञान की कभी कमी नहीं रही और हममें धन की भी कभी कमी नहीं रही। अगर कोई कमी कभी हुई है तो परस्पर के मेल-मिलाप की। हममें मतभेद बहुत ही शीघ्र हो जाता है। यह हमारे मिश्रित दर्शनज्ञान का ही दोष है। जहाँ दर्शन मिश्रित हो जाता है वहाँ के दार्शनिकों में सदैव मतभेद बना रहता है। दर्शन भी सूक्ष्मतर ज्ञान की एक शाखा है। वह सदैव अस्थिर रहता है। इसलिए हम दार्शनिक मतभेद को छोड़कर जब तक पूर्ण शुद्ध वैदिक न हो जाएँ तब तक हमारा मतभेद मिट नहीं सकता और जब तक मतभेद न मिटे तब तक हमारा कल्याण नहीं हो सकता। इस प्रकार हमने इस सूक्ष्मतर ज्ञान के नमूने दिखलाते

---

१. Sir William Hunter says—The Hindu King Mophis of Taxila joined Alexander with 5,000 men against Porus. —*Imperial Gazzetteer of India.*

It may be remembered that it was with the help of the traitors, Sasigupta (Sasikottos) and others that Alexander obtained a footing in the Swat Valley and conquered the Usufzi country.

Professor Maxeduncker says that when Alexander attacked Porus, his army was twice as strong and had been yet further increased by 5,000 Indians from Mophis and some smaller states.

—*History of Antiquity,* Vol. IV, p. 399.

२. Alexander, the great, with his fine army was able to gain only one victory over a small Hindu kingdom and that with the aid of another Hindu chief, the king of Takshashila.

The advance of Maharaja Mahanand of Magadh struck terror in the army of Alexander and had he advanced further the great Alexander would have shared the fate of the Assyrian Semiramis.

—*The Early History of India,* p. 104.

हुए यह बतलाया कि आर्यों ने सूक्ष्मतर ज्ञान वेद से ही उपलब्ध किया था, उसी से बढ़ाया है और संसार के किसी भी अन्य देश से कोई ज्ञान नहीं सीखा, प्रत्युत दूसरों को सिखलाया है। ऐसी दशा में आदिज्ञान के स्वरूप के साथ वेद के 'कर्मयज्ञ' पूर्ण रीति से मिलते हैं, परन्तु इस कर्मयज्ञ पर कुछ लोग एक आध वैज्ञानिक शंका भी करते हैं, इसलिए यहाँ उनका भी समाधान कर देना अनुचित नहीं है।

हवन और वैज्ञानिक शङ्का

यूरोपीय साइंस की नक़ल करके उसको बदनाम करनेवाले कुछ देशी विद्वान् कहा करते हैं कि हवन से कारबन, अर्थात् ऐसी वायु उत्पन्न होती है जो मनुष्य के लिए हानिकारक है। हम कहते हैं कि यज्ञों के जितने गुण हैं उनको देखते हुए हवन के धुएँ से उत्पन्न होनेवाली हानियाँ कुछ मूल्य नहीं रखतीं, विशेषकर ऐसे समय में जब रेल के एंजिन, मिलों की चिमनियाँ और सिगरेट के धुएँ रात-दिन लोगों का स्वास्थ्य नष्ट कर रहे हैं, परन्तु फिर भी लोग कहते हैं कि हवन से वायु बिगड़ती है, इसलिए हम उचित समझते हैं कि यहाँ पर यह दिखलाने का यत्न करें कि कभी-कभी धुवाँ भी लाभदायक होता है और बिना धुएँ के भी वायु हानिकारक होती है। धुएँ के लाभ दिखलाते हुए फ्रांस के विज्ञानवेत्ता अध्यापक ट्रिलवर्ट कहते हैं कि जलती हुई शक्कर में वायु शुद्ध करने की बहुत बड़ी शक्ति है। उन्होंने इसके प्रयोग भी दिखलाये हैं। वे कहते हैं कि इससे, क्षय, चेचक, हैज़ा आदि बीमारियाँ तुरन्त नष्ट हो जाती हैं[१]। इसी प्रकार डॉक्टर एम० ट्रेल्ट ने मुनक़्क़ा, किशमिश आदि फलों को (जिनमें शक्कर अधिक होती है) जलाकर देखा है। उनको ज्ञात हुआ है कि इनके धुएँ से टाइफ़ाइड के रोगकीट ३० मिनट में और दूसरे रोगों के कीट घण्टे-दो घण्टे में नष्ट हो जाते हैं[२]।

मेड्रास के सेनेटरी कमिश्नर डॉक्टर कर्नल किंग आइ० एम० एस० ने कॉलेज के विद्यार्थियों को उपदेश किया है कि घी और चावल में केसर मिलाकर जलाने से रोगजन्तुओं का नाश हो जाता है[३]।

फ्रांस का डॉक्टर हैफ़किन कहता है कि घी के जलाने से रोगकीट मर जाते हैं[३]।

इन प्रमाणों से पाया जाता है कि विचारपूर्वक स्थिर किये हुए रोगनाशक पदार्थों के धुएँ से लाभ ही होता है, परन्तु यह न समझना चाहिए कि वायु से केवल कारबन निकाल डालने पर ही उसकी शुद्धि होती है। वायु में बिना कारबन के भी बहुत से मारनेवाले तत्त्व उपस्थित हो जाते हैं। डॉक्टर जे० लैन नाटर एम०ए०, एम०डी०, आर०एच०, एफ़०आर०सी०एस० ने 'हाइजिन' नामी पुस्तक में लिखा है कि जिन कोठरियों में बहुत-से आदमी हों और खिड़कियाँ खुली न हों वहाँ का वायु दोषयुक्त होता है। वहाँ कारबोनिक एसिड अधिक परिमाण में होता है।

वहाँ शिर घूमने लगता है और मूर्च्छा भी हो जाती है, परन्तु इसका कारण गर्मी या कारबन डाईआक्साइड की उत्पत्ति ही नहीं है, प्रत्युत वायु के अन्दर आक्सीजन का कम हो जाना है, क्योंकि मनुष्य अथवा पशुओं के वे मलिन पदार्थ जो उनके श्वास और त्वचा से निकलते हैं, वायु में भर जाते हैं और विष का काम करते हैं। इसका परीक्षण इस प्रकार किया गया है कि हवा से कारबन डाईआक्साइड निकाल लिया गया और मनुष्यों के श्वास से उत्पन्न हुआ वायु रहने दिया गया। उस वायु में जब चूहा रक्खा गया तो वह ४५ मिनट में मर गया। इससे सिद्ध है कि मैली

१. 'सरस्वती' अक्टूबर सन् १९१९
२. 'भारत सुदशा प्रवर्तक' जून सन् १९०३
३. 'ब्यूबोनिक' पायोनियर प्रेस, प्रयाग

हवा कारबन डाईआक्साइड से भी अधिक ज़हरीली होती है। कहने का तात्पर्य यह कि हवा केवल कारबन ही के निकाल देने पर शुद्ध नहीं हो सकती। उसमें से तो दूषित मलिनता के निकालने की आवश्यकता है। हवन में यह गुण है कि वह दूषित मलिनता को जला देता है, परन्तु थोड़ा-सा कारबन रहने देता है, क्योंकि हवन से निकला हुआ कारबन वृक्षों का भोजन है। हवन से जहाँ वायु शुद्ध होती है वहाँ हवन से वृक्षों को भी भोजन मिलता है। हवन जब सघन वृक्षावली (जंगल) में होता है तब वहाँ की वायु शुद्ध हो जाती है और वनवृक्षों को भोजन भी मिल जाता है। इस प्रकार हवन सार्थक हो जाता है और उसमें कारबन फैलाने का दोष नहीं रहता, क्योंकि हमने पिछले प्रकरणों में बतलाया है कि यज्ञ की सामग्री घी, दूध आदि पशुओं से और ओषधियों जंगलों से ही प्राप्त होती हैं। पशु भी जंगल में ही चरते हैं, इसलिए यज्ञ का समस्त कार्य जंगल से ही चलता है। यज्ञ का ही काम नहीं चलता, प्रत्युत प्राणिमात्र का जीवन भी जंगल पर ही—वनस्पति पर ही अवलम्बित है, इसलिए यज्ञ के मुख्य उद्देश्य में वनस्पति को लाभ पहुँचाना भी है। वनस्पति को पानी और कारबन वायु की आवश्यकता होती है। वृक्ष कारबन वायु को खाते और वृष्टि के जल को पीते हैं। हम देखते हैं कि यज्ञ अपने धूम से कार्बन और वृष्टि की रचना एक ही साथ करते हैं और ये दोनों पदार्थ वृक्षों के खाने और पीने के काम आते हैं।

विज्ञान ने अब यह बात सिद्ध कर दी है कि वायु में जो डस्ट—धूल उड़ा करती है, वही आक्सीजन और हाईड्रोजन को मिलाकर पानी बनाने के लिए जामन का काम करती है। सभी को मालूम है कि यज्ञों का उद्देश्य पानी बरसाना भी है, अतः हवा का कारबोनिक गैस जो वृक्षों के खाने से बच जाता है और 'डस्ट' के रूप में रह जाता है उसे बरसात का पानी नीचे खींच लाता है और वह भी वृक्षों के लिए खाद बन जाता है। इस प्रकार कारबन पानी बरसाने और वृक्षों का भोजन बनने में सहायता करता है, परन्तु प्रश्न यह है कि क्या यह कारबनयुक्त वायु मनुष्यों के लिए हानिकारक है? हम कहते हैं कि नहीं। हमारा सिद्धान्त है कि यज्ञ का स्थान जंगल होना चाहिए। याज्ञिकों के लिए जंगल अनिवार्य वस्तु है। जंगल तुरन्त ही वायु के कारबन को खा जाता है और तुरन्त ही आक्सीजन वायु दे देता है, क्योंकि यह भी सिद्धान्त है कि वृक्ष कारबोनिक गैस को खाते और आक्सीजन, अर्थात् प्राणप्रद वायु देते हैं। इस प्रकार वैदिक यज्ञदेश में वैदिक यज्ञों द्वारा उत्पन्न वायु तत्क्षण उसी प्रकार लाभदायक हो जाती है, जिस प्रकार हमारे श्वासप्रश्वास। हमारे श्वासप्रश्वास प्राणप्रद वायु लेते हैं, इसलिए यज्ञों पर कारबन फैलाने का अभियोग नहीं लग सकता। पूर्वोक्त समस्त विवरण के द्वारा यहाँ तक कर्मयज्ञों का वर्णन करके देखा तो ज्ञात हुआ कि वे हर प्रकार से विज्ञानयुक्त और आदिज्ञान के अनुरूप हैं, अतः अब आगे ज्ञानयज्ञ का वर्णन करते हैं।

ज्ञानयज्ञ

ज्ञानयज्ञ का सम्बन्ध विद्याध्ययन से है। वैदिकों में इसका बड़ा माहात्म्य था। नित्य के पञ्च महायज्ञों में ब्रह्मयज्ञ सर्वप्रथम है। इस सर्वप्रथम ब्रह्मयज्ञ के विषय में मनु महाराज मनुस्मृति में कहते हैं कि **'अध्यापनं ब्रह्मयज्ञः'**, अर्थात् पढ़ाना ही ब्रह्मयज्ञ है। द्विजों को चाहिए कि वे नित्य पढ़ावें, क्योंकि उनपर ऋषिऋण है, परन्तु प्रश्न तो यह है कि बिना पढ़े पढ़ावें क्या? इसलिए अभिप्राय यह निकला कि वे स्वयं नित्य पढ़ें। मनुस्मृति में स्वाध्याय के लिए लिखा है कि—

यः स्वाध्यायमधीतेऽब्दं विधिना नियतः शुचिः। तस्य नित्यं क्षरत्येष पयो दधि घृतं मधु॥

—मनु० २।१०७

अर्थात् जो नियत समय में विधि से एक वर्ष भी स्वाध्याय करता है, उसको स्वाभाविक ही दूध, दधि, घृत और मधु नित्य मिलते हैं।

इसी प्रकार ब्राह्मणग्रन्थों में भी लिखा है कि—

यद्यद् ह वै अयं छन्दतः स्वाध्यायमधीते तेन तेन ह एव अस्य यज्ञक्रतुना इष्टं भवति। तस्मात् स्वाध्यायोऽध्येतव्यः। —शत० ११।५।७।२

एष पन्था एतत् कर्म एतत् ब्रह्म एतत् सत्यं तस्मात् न प्रमाद्येत् तत् न अतीत्। —ऐतरेय० ५।१।१

अर्थात् जितना-जितना वह स्वाध्याय करता है उतना ही उसे यज्ञ का फल होता है, इसलिए स्वाध्याय अवश्य करे। यही लोक-परलोक का मार्ग है, यही सब कर्त्तव्यों का कर्त्तव्य कर्म है, यही सत्य है और यही ब्रह्मप्राप्ति का उपाय है, इसलिए स्वाध्याय अवश्य करे।

गीता में इस ज्ञानयज्ञ के विषय में कहा है—

श्रेयान्द्रव्यमयाद्यज्ञाज्ज्ञानयज्ञः परं तपः। सर्वकर्माखिलं पार्थ ज्ञाने परिसमाप्यते॥ —भगवद्गीता [४।३३]

अर्थात् द्रव्ययज्ञ—कर्मयज्ञ बहुत उत्तम हैं, परन्तु ज्ञानयज्ञ तो बहुत ही श्रेष्ठ है। ज्ञान के सामने सब कर्म समाप्त हो जाते हैं।

शास्त्रों में इस प्रकार ज्ञानयज्ञ का माहात्म्य बतलाया गया है। इस ज्ञानयज्ञ में यद्यपि तृण से लेकर ईश्वरपर्यन्त का ज्ञान सम्मिलित है, परन्तु मुख्यतः इस ज्ञान के तीन विभाग हैं। प्रथम विभाग में धर्म है। सदाचार, सभ्यता, वर्णाश्रम मर्यादा और संस्कार आदि इस धर्मविभाग के अङ्ग हैं। दूसरा विभाग विद्याओं से सम्बन्ध रखता है। वैद्यक, ज्योतिष्, गणित, भूगोल, रसायन, विज्ञान, कला, संगीत आदि इसके अङ्ग हैं। तीसरा विभाग परलोक से सम्बन्ध रखता है। ईश्वर, जीव, पुनर्जन्म, कर्म, कर्मफल, स्वर्ग, नरक और बन्ध-मोक्ष आदि इसके अङ्ग हैं। इन तीनों विभागों को जानना ही ज्ञानयज्ञ कहलाता है। इस ज्ञानयज्ञ से दो प्रकार के यज्ञ उत्पन्न होते हैं—कर्मयज्ञ और उपासनायज्ञ। कर्मयज्ञ का वर्णन इसके पहले हो चुका है और उपासनायज्ञ का वर्णन इसके आगे होनेवाला है। बीच का यह ज्ञानयज्ञ ही उक्त दोनों यज्ञों को सफल बनाता है। यह न हो तो भी यज्ञ सम्पन्न नहीं हो सकता। इस यज्ञ को प्राचीन आर्यों ने बहुत ही अच्छी प्रकार पहचाना था। इसका नाम ब्रह्मयज्ञ है और नित्य के कर्त्तव्य कर्मों में सम्मिलित है। इस यज्ञ का सर्वप्रधान अङ्ग धर्म है। यदि मनुष्य में धर्म नहीं है—यदि वह कर्त्तव्याकर्त्तव्य को नहीं जानता तो उसका जीवन व्यर्थ है।

भारतीय आर्यों ने सारे संसार को धर्म की शिक्षा दी है और अब भी दे रहा है। पश्चिम के विद्वान् कहते हैं कि वैदिक धर्म ही समस्त धर्मों का उद्गम है। मौरिस मेटेरलिंक नामक विद्वान् अपनी पुस्तक 'दी ग्रेट सिक्रेट' में लिखता है कि धन्यवाद है उस नई विद्या और उस विद्वन्मण्डली को जो मिस्र और हिन्द की प्राचीन सभ्यता का पता लगाती है। इसने सम्भव कर दिया है कि हम उस गुप्त किन्तु अन्दर फैली हुई धारा के निकास और प्रवाहमार्ग का पता लगावें जो सृष्टि के आदि से संसार के सब मतों, सम्प्रदायों और दार्शनिक विद्याओं की जड़ को सींचती है और जिसके आधार पर मनुष्यमात्र के सारे आधुनिक विचार बने प्रतीत होते हैं। अब इसमें मुश्किल से ही विवाद हो सकता है कि इस धारा का निकास प्राचीन भारतवर्ष से ही हुआ था। भारत से यह आध्यात्मिक विद्या की धारा मिस्र में फैली, पुराने पारसीक और चाल्डिया देशों में पहुँची, इबरानी बोलनेवाली जातियों पर इसने अपना प्रभाव डाला और यूनान और उत्तरीय यूरोप में

अपना सिक्का जमाया और अन्त में चीन से अमेरिका तक अपना प्रभाव पहुँचाया। इसी प्रकार 'लुईस जेकालियट' लिखता है कि 'हम समस्त संसार के नये और पुराने धार्मिक विश्वासों को भारत से ही सम्बन्ध रखता हुआ देखते हैं'[१]।

इसी प्रकार काउण्ट जार्नस्टजेरना कहता है कि चाल्डिया और बेबिलोनिया-निवासियों ने अपनी सभ्यता भारत से ही प्राप्त की है[२]। कहने का तात्पर्य यह कि वैदिक धर्म ही संसार में फैला हुआ है, इसलिए उस धर्म का जानना अत्यावश्यक था।

जिस प्रकार धर्मज्ञान सम्पादन करना आवश्यक था उसी प्रकार प्रत्येक विद्या का ज्ञान प्राप्त करना भी आवश्यक था। वैदिक आर्य इसे भी बहुत ही अच्छी प्रकार मन लगाकर पढ़ते थे। इन विद्याओं को भी संसार में वैदिक आर्यों ने ही फैलाया है। प्रो० मैकडॉनल लिखते हैं कि 'विद्याओं के लिए भी यूरोप भारतवर्ष का ऋणी है'[३]।

यूरोप ही नहीं, समस्त संसार ऋणी है। ऐसी उपकारी विद्याएँ जिनको संसार के लोग वैदिक आर्यों से सीखते थे, उनको आर्य क्यों न पढ़ते। आर्यों के स्वाध्याय की तीसरी शाखा पारलौकिक विषयों की थी। उनका जैसा अध्यात्मशास्त्र संसार में कहीं नहीं है। इस विद्या को सीखने के लिए ईरान से जामास्प, यूनान से पैथागोरस, पेलिस्टाइन से क्राइस्ट और चीन से ह्वेन्त्सांग आदि विद्वान् समय-समय पर आते रहे हैं।

आज भी अमेरिका और यूरोप में भारत के अध्यात्मशास्त्र की शिक्षा फैल रही है। इस प्रकार ज्ञान के तीनों विभाग प्रचीनकाल में अच्छी प्रकार उन्नत थे और उनका पठन-पाठन भी यज्ञ ही कहलाता था जो नित्य ब्रह्मयज्ञ के नाम से किया जाता था। इस ज्ञानयज्ञ का स्वरूप भी आदिज्ञान के स्वरूप के साथ मिलता है। इस ज्ञानयज्ञ के आगे उपासना यज्ञ है। यहाँ हम उसका भी थोड़ा-सा वर्णन करते हैं।

उपासनायज्ञ

अब तक हम जिस प्रकार के सार्वजनिक सुख-साधक यज्ञों का वर्णन कर आये हैं उनको निःस्वार्थ भाव से करनेवाला—सब-कुछ देकर भी 'इदं न मम', अर्थात् यह मेरा नहीं है, कहनेवाला वैदिकों के मत से मोक्षभागी हो जाता है। मनुस्मृति में लिखा है कि **'महायज्ञैश्च यज्ञैश्च ब्राह्मीयं क्रियते तनुः'**, अर्थात् पञ्चमहायज्ञों और अन्य यज्ञों से यह शरीर ब्राह्मी बनाया जाता है। ब्राह्मी शरीर का तात्पर्य ब्रह्मयोग्य बनना ही है। फल की आशा का त्याग करके परोपकार-दृष्टि से सार्वजनिक लोकसेवा करने से मोक्ष होता है। इस बात को गीता ने भी माना है। वहाँ लिखा है—

संन्यासः कर्मयोगश्च निःश्रेयसकरावुभौ। तयोस्तु कर्मसंन्यासात्कर्मयोगो विशिष्यते॥

—भगवद्गीता [५। २]

अर्थात् संन्यासरूपी ज्ञानमार्ग और लोकसेवा रूपी कर्ममार्ग दोनों मोक्ष के देनेवाले हैं, परन्तु ज्ञानमार्ग से कर्ममार्ग विशेष रूप से उपयोगी है।

---

१. So, in returning to the fountain head, do we find in India all the poetic and religious traditions of ancient and modern peoples.

२. The Chaldeans, the Babylonians and the habitants of Calchis derived their civilisation from India.
—*Theogony of the Hindus*, p. 108.

३. In science too, the debt of Enrope to India has been considerable.
—*History of the Sanskrit Literature* by Macdonell.

मनु ने तो इसे ही वैदिक कहा है। वे कहते हैं कि—

कामात्मता न प्रशस्ता न चैवेहास्त्यकामता। काम्यो हि वेदाधिगमः कर्मयोगश्च वैदिकः॥

—मनुस्मृति [२।२]

अर्थात् न कामात्मा होना अच्छा है और न निष्काम ही होना चाहिए, प्रत्युत काम्यभाव से वेद प्राप्त होता है, इसलिए कर्मयोग ही वैदिक है।

वेदों में भी लिखा है कि—

तं पत्नीभिरनुगच्छेम देवाः पुत्रैर्भ्रातृभिरुत वा हिरण्यैः।
नाकं गृभ्णानाः सुकृतस्य लोके तृतीये पृष्ठे अधिरोचने दिवः॥ —यजुः० १५।५०

अर्थात् हे देवो! हम पत्नी, पुत्र, भाई और सम्पूर्ण धन के साथ उस यज्ञ का सम्पादन करेंगे, जिससे दिव्य तेजस्वी, तृतीय पुण्यलोक में सुखी होकर रहें।

पुरुषसूक्त में स्पष्ट ही लिखा है कि—

यज्ञेन यज्ञमयजन्त देवास्तानि धर्माणि प्रथमान्यासन्।
ते ह नाकं महिमानः सचन्त यत्र पूर्वे साध्याः सन्ति देवाः॥ —यजुर्वेद [३१।१६]

अर्थात् देवताओं ने यज्ञ किया जो प्रथम धर्म था। वे उसी से उस महान् स्वर्ग को गये जहाँ पूर्वकाल के वेदर्षि गये हैं।

इसका भाव यही है कि शरीरयज्ञ से जो तप, योग आदि क्रियाएँ की जाती हैं, उसी का नाम उपासनायज्ञ है। उसी से स्वर्ग-प्राप्ति होती है। स्वर्ग और मोक्ष में कोई अन्तर नहीं है। वैदिक कालीन स्वर्ग और मोक्ष एक ही वस्तु है, क्योंकि लिखा है कि मोक्ष में जानेवाले सूर्यलोक से जाते हैं और सूर्यलोक ही स्वर्ग है। यदि ऐसा न होता तो वेद में यह न लिखा होता कि—

कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेच्छतꣳ समाः।
एवं त्वयि नान्यथेतोऽस्ति न कर्म लिप्यते नरे॥ —यजुर्वेद ४०।२

अर्थात् कर्म करते हुए ही सौ वर्ष तक जीने की इच्छा कर। इस प्रकार की जीवन-यात्रा से ही कर्म लिप्यमान न होंगे। इसके सिवा और कोई उपाय नहीं है।

भाव यह कि यज्ञयोगरूपी सत्कर्म से कर्मफल लिप्यमान नहीं होते। ऐसे यज्ञों से मनुष्य मोक्ष का अधिकारी हो जाता है, इसमें सन्देह नहीं, परन्तु यह न समझ लेना चाहिए कि मोक्षवाले यज्ञ भी यही कर्मयज्ञ ही हैं, जो सायं-प्रातः के अग्निहोत्र से लेकर अश्वमेधपर्यन्त कहे गये हैं। इन यज्ञों से तो वह केवल 'ब्राह्मीतनु' अर्थात् ब्रह्मयोग्य ही होता है। मोक्ष के लिए तो एक आध्यात्मिक यज्ञ ही निराला है। यह यज्ञ भी सब यज्ञों की भाँति दोनों सन्ध्याओं में ही होता है। इसी से इस यज्ञ का नाम सन्ध्या है। सन्ध्या में हृदय की वेदी पर प्राणों की समिधा से ज्ञान की अग्नि के द्वारा मन की चंचलता का होम किया जाता है। वेद में कहा है कि **'तायते सप्तहोता। तन्मे मनः शिवसंकल्पमस्तु'**, अर्थात् सातों इन्द्रियाँ होता होकर जब प्राणों का होम करती हैं तब मन एकाग्र होकर समाधिस्थ होता है और दीनभाव की प्रार्थना से परमात्मा के शरणागत होकर उसको अपने अन्दर प्रकट करता है—साक्षात्कार करता है।

वेद में लिखा है कि **'तमेव विदित्वातिमृत्युमेति'** अर्थात् उसी का दर्शन प्राप्त होने पर मोक्ष होता है। इस उपासनायज्ञ का वर्णन वेदों, उपनिषदों, गीता और अन्य तत्सम्बन्धी पुस्तकों में विस्तृतरूप से है। इसको योगयज्ञ भी कहते हैं। सन्ध्या योगयज्ञ ही है। आधुनिक काल में उसका नाम ब्रह्मयज्ञ हो गया है, परन्तु ब्रह्मयज्ञ का अर्थ पढ़ाना है, इसलिए वह ज्ञानयज्ञ है, उपासनायज्ञ

नहीं। उपासनायज्ञ का सम्बन्ध जप, तप, योग, वैराग्य, ज्ञान, भक्ति, और ईश्वरपरायणता आदि से ही है। इसलिए उपासनायज्ञ के विषय में गीता उपदेश करती है कि—

ब्रह्मार्पणं ब्रह्म हविर्ब्रह्माग्नौ ब्रह्मणा हुतम्। ब्रह्मैव तेन गन्तव्यं ब्रह्मकर्मसमाधिना॥
अपाने जुह्वति प्राणं प्राणेऽपानं तथापरे। प्राणापानगती रुद्ध्वा प्राणायामपरायणा॥

—भगवद्गीता [४।२४,२९]

अर्थात् ब्रह्म ही हवि है, वही अग्नि है, वही हुत पदार्थ है और यह सब उसी में जाता है। समाधिवालों का यही ब्रह्मकर्म है। अपान को प्राण में और प्राण को अपान में अर्थात् प्राणापान दोनों की गतियों को रोककर ध्यान करे और स्तुति-प्रार्थना करता रहे, क्योंकि मनुस्मृति २।८५ में लिखा है कि '**विधियज्ञाज्जपयज्ञो विशिष्टो दशभिर्गुणैः**', अर्थात् कर्मयज्ञ से यह उपासनायज्ञ—जपयज्ञ दशगुना उत्तम है। इस उपासनायज्ञ से सम्बन्ध रखनेवाली समाधि की दशा का वर्णन करते हुए उपनिषद् कहते हैं कि—

समाधिनिर्धूतमलस्य चेतसो निवेशितस्यात्मनि यत्सुखं भवेत्।
न शक्यते वर्णयितुं गिरा तदा स्वयं तदन्तःकरणेन गृह्यते॥[१]

अर्थात् धुले हुए मलों के बाद समाधि में निवेश करने से आत्मा को जो सुख प्राप्त होता है, वह वाणी से वर्णन नहीं किया जा सकता। वह सुख तो अपने हृदय से ही अनुभव होने योग्य है।

इस प्रकार से इस उपासनायज्ञ का वर्णन किया गया है। यह उपासना यज्ञ सब यज्ञों में श्रेष्ठ है, क्योंकि इस यज्ञ से ही ज्ञान की सब उलझनें सुलझ जाती हैं। उपनिषदों में लिखा है कि—

भिद्यते हृदयग्रन्थिश्छिद्यन्ते सर्वसंशयाः।
क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन् दृष्टे परावरे॥[२]

अर्थात् परमात्मा का साक्षात्कार होते ही हृदय की गाँठ खुल जाती है, सब संशय नष्ट हो जाते हैं और कर्मों का क्षय हो जाता है।

संसार में देखा जाता है कि उच्च ज्ञान और उच्च शिक्षा प्राप्त लोग भी निर्भ्रान्त नहीं होते, परन्तु इस स्थिति में पहुँचकर समस्त विश्वब्रह्माण्ड का निर्भ्रान्त ज्ञान हो जाता है, इसीलिए वेदों में वह युक्ति बतलाई गई है, जिसका प्रयोग करने से मनुष्य निर्भ्रान्त ज्ञान प्राप्त कर सकता है।

हमने ज्ञान के विभाग करते हुए बतलाया था कि प्रावेशिका ज्ञान के आगे काल्पनिक ज्ञान होता है, परन्तु वह मनुष्यों का सोचा हुआ होने के कारण निर्भ्रान्त नहीं होता, इसीलिए आदिज्ञान प्रावेशिका ही था। इस प्रावेशिका ज्ञान में ही लौकिक और पारलौकिक दो प्रकार के ज्ञान हैं। दोनों प्रकार के ज्ञान यज्ञ में ही ओतप्रोत हैं। यज्ञ के तीनों विभाग—कर्मयज्ञ, ज्ञानयज्ञ और उपासनायज्ञ—लोक-परलोक की पूर्ण शिक्षा देते हैं। लोक से सम्बन्ध रखनेवाले कर्मयज्ञ जिस प्रकार चक्रवर्ती राज्य तक पहुँचाते हैं और ज्ञानयज्ञ जिस प्रकार सामाजिक उन्नति की चरम सीमा तक पहुँचाते हैं उसी प्रकार परलोक शिक्षा से सम्बन्ध रखनेवाले उपासनायज्ञ जिनका वर्णन हमने अभी किया है, परमेश्वर तक पहुँचा देते हैं। इस प्रकार यज्ञ के तीनों विभाग लोक और परलोक सुखों को देकर जीव को निर्भ्रान्त, निर्दोष बनाकर अक्षयपद और अनुपमेय आनन्द देते हैं। इनसे मनुष्य कृतकृत्य हो जाता है, उसे फिर कोई इच्छा नहीं रहती।

इस प्रकार यहाँ तक हमने तीनों प्रकार के यज्ञों का अच्छी प्रकार दर्शन कराया। ये तीनों

---

१. मैत्रायण्युप० ६।३४ २. मुण्डको० २।२।८

प्रकार के यज्ञ एक ही यज्ञ के रूप हैं, इसलिए यह सारा वर्णन यज्ञ ही समझना चाहिए। यज्ञ की इस व्यापक व्याख्या और इस विस्तृत वर्णन से हमने यह दिखलाने की चेष्टा की है कि प्राचीनकाल में ये यज्ञ होते थे और इन यज्ञों के करनेवाले इतना विस्तृत ज्ञान रखते थे तथा यह समस्त ज्ञान वेद से ही उपलब्ध हुआ था[१], क्योंकि वेद का एक भी ऐसा मन्त्र नहीं है जो किसी-न-किसी यज्ञ के किसी-न-किसी कार्य में प्रयुक्त न हो। ब्राह्मणग्रन्थों का मुख्य अभिप्राय ही यह है कि समस्त वेद को कहीं-न-कहीं विनियुक्त करें। विनियोग का अर्थ है उपयोग। यदि वेद यज्ञ में विनियुक्त नहीं होते तो वे बेकार हैं—बुद्धिविरुद्ध हैं, परन्तु आज लोग समस्त वेद को यज्ञवेदी पर इधर-उधर उछलने-कूदने की ऊलजलूल कसरत पर ही लगा रहे हैं। हाथ उठाने, पैर फैलाने, स्रुवा लेने और प्रोक्षणी को उत्तर-दक्षिण रखने में ही समस्त मन्त्रों को लगाकर वेदों की, यज्ञों की और देश की छीछालेदर कर रहे हैं। यदि ठीक-ठीक यज्ञ का अभिप्राय समझा जाता—ठीक-ठीक यज्ञ-विधान किये जाते तो देश से ज्ञान, पुरुषार्थ और ऐक्यता नष्ट न हो जाती और न देश का सत्यानाश ही होता।

हम पूछना चाहते हैं कि क्या आजकल याज्ञिक लोग उन वेदाङ्गों को जानते हैं जिनकी यज्ञ में आवश्यकता होती है? क्या यज्ञों को सार्वजनिक लाभार्थ कोई करता है और क्या उसमें हिन्दूमात्र का संगठन होता है? कभी नहीं, कदापि नहीं। यज्ञ तो आजकल एक प्रकार का दम्भ होते हैं, इसलिए हम आशा करते हैं कि अब हिन्दूसंगठन के ही नाम से सही यज्ञों का उद्धार किया जाए। यज्ञों में जितनी विद्याओं की आवश्यकता होती है उनके वैदिक ज्ञाता तय्यार किये जाएँ और आदेश दिया जाए कि वे वेदों से ही वह ज्ञान उपलब्ध करें। यज्ञों को सार्वजनिक लाभदायक बनाने का यत्न किया जाए और यज्ञों में हिन्दूजातिमात्र का सम्मेलन करके सबमें एक उद्देश्य, एक लक्ष्य और एक भावना का संचार किया जाए, क्योंकि यज्ञों से इन्हीं तीन बातों का लाभ है। देवपूजा, संगतीकरण और दान ही इन तीनों के मूल में काम कर रहे हैं। हमारा दृढ़ विश्वास है कि जब तक विधिपूर्वक यज्ञ होते रहे तब तक इस जाति में ज्ञान, ऐक्यता तथा पुरुषार्थ रहा है, परन्तु जब से केवल हवन करने का ही नाम यज्ञ हो गया है तब से सभी कुछ नष्ट हो गया है। हम देखते हैं कि यह समय विद्या, बुद्धि, पुरुषार्थ और सङ्गठन का है। इन चारों बातों का यज्ञ में बहुत ही उचित रीति से सम्मिश्रण विद्यमान है, अतः यज्ञों का संशोधन करके उनका पुनः प्रचार करना चाहिए। जो हो, हमें तो यहाँ केवल यही दिखलाना था कि वेदों के ज्ञान का स्वरूप जो यज्ञों में ओत-प्रोत है वह आदिज्ञान के स्वरूप के अनुरूप है या नहीं—उससे मिलता है या नहीं। इस बात को हमने हर प्रकार से जाँचा और देखा कि वैदिक ज्ञान का स्वरूप आदि ज्ञान के स्वरूप से मिलता है, इसलिए हम बलपूर्वक कहते हैं कि वैदिक ज्ञान अपौरुषेय है।

वैद्रिक ज्ञान की अपौरुषेयता

यहाँ तक हमने वेदों के ज्ञान और विज्ञान को यज्ञों और यज्ञसम्बन्धी अन्य कार्यों की सिद्धि में चरितार्थ देखा। कितने प्रकार के यज्ञ हैं, उन सबकी पूर्ति के लिए कितने ज्ञान-विज्ञान, कितने अस्त्र-शस्त्र और कितने यन्त्र-तन्त्रों की आवश्यकता पड़ती है यह सब सहज ही देखा गया। यह ज्ञान इतने परिमाण में है कि इसका सम्पूर्ण ज्ञाता अपने विचारों को आसानी से सूक्ष्मतर नहीं, किन्तु सूक्ष्मतम ज्ञान तक पहुँचा सकता है। हमने ऋषियों के सूक्ष्मतर ज्ञान के जो दो-चार नमूने

---

१. The Hindus of Vedic age even had attained to an advanced stage of civilization.

—*Rigveda*, by H.H. Wilson.

दिखलाये हैं उनसे स्पष्ट हो जाता है कि उस ज्ञान के द्वारा उन्नति करना मनुष्य के लिए शक्य है।

वेदों का ऐतिहासिक काल अत्यन्त भूत में विलीन है। वे मनुष्य के साथ ही उत्पन्न हुए सिद्ध होते हैं। साथ ही यह भी सिद्ध हो रहा है कि वेदों का ज्ञान आर्यों ने किसी दूसरे से नहीं सीखा, प्रत्युत उन्होंने दूसरों को सिखलाया है। इन उपर्युक्त कोटिक्रमों से सिद्ध है कि आर्यों के विश्वासानुसार वेद मनुष्य की रचना नहीं, प्रत्युत वे अपौरुषेय हैं। प्रो० मैक्समूलर कहते हैं कि वेदों को हम इसलिए आदिसृष्टि से कह सकते हैं कि उनसे पूर्व का कोई अन्य लिखित चिह्न नहीं मिलता, परन्तु वेद के भीतर जो भाषा, देवमाला, धर्म और अध्यात्मविद्या का ज्ञान हमें मिलता है वह हमारे सामने इतनी प्राचीनता का दृश्य दिखलाता है कि कोई भी मनुष्य उस प्राचीनता को वर्षों की संख्या में नहीं ला सकता[१]। इसके अतिरिक्त भाषा-सम्बन्धी विवेचन से यह प्रमाणित हो गया है कि परमात्मा ने ही मनुष्य के मुखस्थित अवयवों, स्थानों और प्रयत्नों को वैदिक वर्णमाला के उच्चारण-योग्य बनाकर अन्त:स्फुरण से वैदिक भाषा का ज्ञान प्रदान किया है। कोई भाषा बिना अर्थ के नहीं होती, इससे आप-ही-आप प्रमाणित हो रहा है कि परमात्मा ने मुखस्थित स्थानों से निकलनेवाले वर्ण, शब्द और वाक्यों को मनुष्यों के मनोभाव प्रकाशित करने के लिए ही उस प्रकार के बनाकर दिये हैं, अतएव निर्विवाद है कि ईश्वरप्रेरणा द्वारा मनुष्य के मुख से निकलनेवाले आदिम—वैदिक मन्त्र, वाक्य, शब्द और वर्ण सार्थक हैं। वर्णार्थ, धात्वर्थ और सन्धिविज्ञान से यह बात और भी अधिक पुष्ट हो रही है कि वर्णार्थ का सम्बन्ध धातुओं से, धातुओं का शब्दों से और शब्दों का वाक्यों तथा मन्त्रों से अविच्छिन्न, धारावाहिक, निरन्तर एक-दूसरे में बह रहा है—ओतप्रोत हो रहा है। ऐसी दशा में यह बात अनायास ही कही जा सकती है कि वैदिक भाषा और उस भाषा में भरा हुआ वैदिक ज्ञान, कारणकार्यभाव से युक्त, परस्पर आधाराधेय सम्बन्ध रखता है, अतएव जहाँ वैदिक भाषा है वहीं वैदिक ज्ञान है और जहाँ वैदिक ज्ञान है वहीं आदिमकालीन ईश्वरप्रदत्त अपौरुषेय आदेश है। भाषा और ज्ञान सदैव एक साथ रहते हैं और दोनों आदि में ईश्वरीय प्रेरणा से ही प्राप्त होते हैं। हम अच्छी प्रकार देख आये हैं कि आदि में वैदिक भाषा ही ईश्वर प्रेरणा से प्राप्त हुई है, अत: उस भाषा में गर्भित वैदिक ज्ञान भी ईश्वर प्रेरणा से ही प्राप्त हुआ है और अपौरुषेय है।

वेदों के पढ़नेवाले जानते हैं कि वेदों में लोक और परलोक की विशद शिक्षा है। परलोकशिक्षा को और उस लोकशिक्षा को जिससे परलोक में सुख प्राप्त हो धर्म कहते हैं। धर्म परलोक से सम्बन्ध रखता है, इसलिए उसकी शिक्षा मनुष्य की कल्पना से आरम्भ नहीं हुई। वह ईश्वरप्रदत्त ही है। हम देखते हैं कि संसार के समस्त धर्मों का उद्‌गमस्थान वेद ही हैं, इसलिए वेदों के अपौरुषेय होने का यह दूसरा प्रमाण भी कम महत्त्व का नहीं है। जिस प्रकार वेदों ने संसार को धर्म की शिक्षा दी है, उसी प्रकार ज्योतिष्, गणित, वैद्यक, राजनीति और अन्य सङ्गीत आदि विद्याओं की शिक्षा भी संसार को वैदिक ऋषियों ने ही दी है। ऋषियों ने उक्त विद्याओं को किसी अन्य देशवासियों से नहीं सीखा। वे कहते हैं कि हमने समस्त ज्ञान वेदों से ही प्राप्त किया है। मनुष्य विद्याओं का ज्ञान कल्पना से प्राप्त नहीं कर सकता। वे भी अपौरुषेय ज्ञान द्वारा ही प्राप्त होती हैं।

---

१. The Vedās may be called primitive because there is no other literary document more primitive, than it, but the language, the mythology, religion and philosophy that meet us in the Veda open vistas of the past which no one could venture to measure in years.

—*India, What Can It Teach us*, p. 118.

वेद ही उक्त विद्याओं के प्रचारक हैं, इसलिए वेदों के अपौरुषेय होने का यह तीसरा प्रबल प्रमाण भी सबके सामने ही है। इसी प्रकार वेदों ने ही समस्त संसार को सदाचार, सभ्यता, न्याय और दया की शिक्षा दी है[1]। अतएव यह उनकी अपौरुषेयता का चौथा प्रमाण है। इन समस्त प्रमाणों से सिद्ध है कि वैदिक ज्ञान अपौरुषेय है।

संसारभर को ज्ञान की शिक्षा देनेवाले ऋषि वेदों की अपौरुषेयता पर कहते हैं कि ज्ञान का प्रादुर्भाव परमेश्वर से ही हुआ है, इसीलिए उसे वेदान्तशास्त्र में **'शास्त्रयोनि'** और योगशास्त्र में **'पूर्वेषामपि गुरुः'**, अर्थात् वेदों का प्रकाशक और पूर्वजों का भी गुरु कहा गया है। निरुक्तकार ने भी ऋषियों को **'साक्षात्कृतधर्मा'** अर्थात् ज्ञान को ईश्वर द्वारा साक्षात् करनेवाला कहा है। अब हम ऋषियों के सम्मुख श्रद्धाञ्जलि होकर प्रश्न करते हैं कि भगवन्! आप ही से संसार ने धर्म, विद्या और सभ्यता सीखी है, इसलिए अब आप ही बतलावें कि आपने यह समस्त ज्ञान कहाँ से प्राप्त किया है। संसारभर को समस्त ज्ञान की शिक्षा देनेवाले आदिम ऋषि बृहदारण्यक उपनिषद् में कहते हैं कि—

अरेऽस्य महतो भूतस्य निःश्वसितमेतद्। यदृग्वेदो यजुर्वेदः सामवेदोऽथर्वाङ्गिरसः॥[2]

अर्थात् अरे मनुष्य! ऋग्, यजुः, साम और अथर्व उस परम पूज्य परमात्मा के ही निःश्वास हैं।

इसी बात को वेद स्वयं कहते हैं कि—

तस्माद्यज्ञात् सर्वहुत ऋचः सामानि जज्ञिरे। छन्दाᳬंसि जज्ञिरे तस्माद्यजुस्तस्मादजायत॥

—यजुर्वेद ३१।७

अर्थात् ऋग्, यजुः, साम और अथर्व उस परम पूज्य परमात्मा से ही उत्पन्न हुए हैं।

इन प्रबल साक्षियों और अब तक की वैज्ञानिक खोजों से सिद्ध है कि वेद ईश्वर प्रदत्त हैं—अपौरुषेय हैं।

—o—

---

१. मनु० २।२०

२. बृह० २।४।१०